पुरातत्त्व-निबन्धावली

भूमिका

(१)

पुरातत्त्व

१—पुरातत्त्वका महत्त्व

हिन्दीमें पुरातत्त्व-साहित्यकी वड़ी आवश्यकता है। भारतके सच्चे इतिहासके निर्माणमें "पुरातत्त्व" की सामग्री अत्यन्त उपयोगी है, और, खुदाई आदिके द्वारा अभीतक जो कुछ किया गया है, वह दालमें नमकके वरावर है। और जब हम यूरोपके सभ्य देशोंके कार्यसे तुलना करते हैं, तब उसे वहुत अल्प पाते हैं। काशीकी नागरी-प्रचारिणी-सभाने हिन्दीकी खोजकी रिपोर्टें तथा 'प्राचीन मुद्रा' छापकर; और, उसकी पत्रिकाके योग्य सम्पादक श्रद्धेय ओझाजीने भी हिन्दीमें इस ओर वहुत कार्य किया है। ओझाजी हिन्दीमें इस विषयके युगप्रवर्तक होनेसे चिरस्मरणीय रहेंगे।

इतिहासकी सबसे ठोस सामग्री ही पुरातत्त्व-सामग्री है; और, उस सामग्रीसे भारतकी कोई जगह शून्य नहीं है। गाँवोंके पुराने डीहोंपर फेंके मिट्टीके वर्तनोंके चित्र-विचित्र टुकड़े भी हमें इतिहासकी कभी-कभी बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातें वतलाते हैं; लेकिन उन्हें समझने के लिये हमारे पास वैसे श्रोत्र और नेत्र होने चाहियें।

२—सर्वसाधारणके जानने योग्य कुछ बातें

वैसे तो बहुतसी बातें हैं, जिन्हें एक पुरातत्त्व-प्रेमी और पुरातत्त्व-गवेषकको जानना चाहिये; किन्तु यहाँ कुछ ऐसी बातें गिना दी जाती हैं, जिनको साधारण पाठक भी यदि ध्यानमें रखें, और अपने आसपासकी सामग्रियोंके रक्षण और परीक्षणका ख्याल करें, तो बहुत फायदा हो सकता है—

(१) शिला, ताम्रखण्ड और भग्न मूर्तियों तथा दूसरी चीज़ोंपरके लेखोंको जहाँ कहीं भी देखें, उन्हें *प्राचीन लिपियोंसे यदि मिलावें*, तो उससे कालका ज्ञान हो सकता है। यह ख्याल रखें कि, पुरातत्त्वविद् न सर्वज्ञ हैं और न वह भारतमें सब जगह पहुँच ही सके हैं, इसलिये आपके गाँवके डीह या ग्रामदेव-स्थानपर ढेर की हुई खण्डित मूर्तियोंके टुकड़ोंमें भी कभी कोई हीरा निकल आ सकता है।

(२) अपने आसपासकी पहाड़ियोंके पत्थरोंसे भिन्न यदि किसी दूसरे रंगके पत्थरकी मूर्ति मिले, तो वह कभी-कभी और भी महत्त्वपूर्ण सूचना देनेवाली हो सकती है। मूर्तियोंमें अक्सर आसन (पीठिका)के नीचे या प्रभामण्डल (सिरके चारों ओरके घेरे) या पीठपर लेख खुदे होते हैं।

(३) ईंटोंकी लम्बाईपर अलग लेख है। जितनी ही असाधारण लम्बाई-की ईंटें मिलें, उतनी ही उन्हें उस स्थानकी प्राचीनताको बतलानेवाली समझना चाहिये। भर सक अखण्ड ईंट खोज निकालने और उसका नाप लेनेकी कोशिश करनी चाहिये। बहुत छोटी ईंटें (लाहोरी या लाखोरी) मुसलमानी कालकी होती हैं। विचित्र आकार-प्रकारके खपड़े, कुएँ बाँधनेकी चन्द्राकार पटियाँ आदि भी कभी-कभी बहुत उपयोगिनी होती हैं।

(४) मकानकी नींव, कुआँ या तालाब खोदनेमें यदि कोई चीज़ मिले तो उसकी गहराईको नापकर चीजके साथ नोट कर लीजिये। यह गहराई काल प्रमाणकी एक बहुत ही उपयोगिनी कड़ी है। इसी तरह जो चीज़ जिस गाँवके जिस स्थानपर मिले, उसे भी नोट कर लेना चाहिये। स्मरण

"स्थानहीना न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः" की उक्ति इसपर भी घटती है।

(५) कहीं-कहीं गाँवोंमें पीपलके नीचे या किसी टूटे-फूटे देवस्थानमें पत्थरके लम्बे चिकने टुकड़े मिलते हैं। उनमें कभी-कभी दस-बारह हजार वर्ष पूर्वके, हमारे पूर्वजोंके, हथियार भी सम्मिलित रहते हैं। यदि वह संगखारे या चकमक जैसे कड़े पत्थरके तथा नोकीले और तेज धार वाले हों, तो निश्चय ही समझिये कि, वे वही अस्त्र हैं, जिनसे हमारे पूर्वज शिकार आदि किया करते थे।

(६) कुएँ आदि खोदनेमें धरतीके बहुत नीचे कभी-कभी मनुष्यकी खोपड़ियाँ या हड्डियाँ मिल जाती हैं। हो सकता है कि वह कई हजार वर्षोंकी पुरानी, किसी लुप्त जातिके मनुष्यकी, हों। इसलिये उसकी छान-बीन करनी चाहिये और यदि आकृति असाधारण तथा हड्डियाँ बहुत पुरानी या पथराई जैसी मालूम होती हों, तो उनकी रक्षा करनी चाहिये या किसी विशेषज्ञसे दिखाना चाहिये। बहुत नीचे मिले मिट्टीके बर्तनोंके बारेमें भी यही समझना चाहिये। ताँबे या पीतलकी तलवार या छुरा, यदि कहीं मिल जाय, तो उसे धातुके भाव बेच न डालना चाहिये। हो सकता है, वह ५-६ हजार वर्षोंकी पुरानी चीज हो; और, कोई संग्रहालय उसे धातुसे कई गुने दामपर खरीद ले।

(७) **पुराणस्थान**—(क) मिट्टीसे भठे तथा दब गये भीटोंवाले जहाँ तालाब हों, (ख) जहाँ आसपास पुराने देवस्थानों या पीपलके वृक्षोंके नीचे टूटी-फूटी मूर्तियाँ अधिक मिलती हों, (ग) जहाँ खेत जोतते या मिट्टी खोदते वक्त पुराने कुएँ या ईंटोंकी दीवारें आदि निकल आती हों, (घ) जहाँ बरसातमें मिट्टीके घुल जाने पर ताँबे आदिके पैसे तथा दूसरी चीजें मिलती हों (चौकोर और मूर्तिवाले सिक्के अधिक पुराने होते हैं; और, पानेवालेको, उनका, कई गुना अधिक दाम मिल सकता है); ऐसे स्थान पुरातत्त्वके लिये अधिक उपयोगी होते हैं। गढ़ या ऊँची जगहसे भी प्राचीनता मालूम होती है; किन्तु हजार वर्ष पूर्वसे जहाँ

वस्ती फिर नहीं वसी, वहाँकी ज़मीन वहुत ऊँची नहीं हो पाती।

(८) गाँवमें, साधारण लोगोंमें, यह भ्रम फैला हुआ है कि, सरकार जहाँ-कहीं खुदाई करती है, वह किसी खजानेके लिये। उन्हें समझना चाहिये कि, पुरातत्त्वकी खुदाईमें सरकारने जितना खर्च किया है, यदि खुदाईमें निकले हुए सोने-चाँदीके दामसे मुकाविला किया जाय, तो उसका शतांश भी न होगा। फिर भी सोने-चाँदी या कीमती पत्थरकी जो कोई चीज़ मिलती है, उसे न गलाया जाता है, न वेंचा जाता है। वह तो भिन्न भिन्न संग्रहालयोंमें, इतिहासके विद्वानों और प्रेमियोंके देखने और जानने के लिये, रख दी जाती है। यदि गाँवमें इस तरहके सिक्के आदि किसीको मिलें, तो उसे वह गला कर या तोड़-फोड़ करके खराव न कर दे। सम्भव है कि, उससे उसकी अपनी जातिका कोई सुन्दर इतिहास मालूम किया जा सके। वहुतसे भूले वंशोंके परिचय और गौरव स्थापन करनेमें इन चीज़ों ने वहुत सहायता की हैं। सम्भव है, ऐसी चीज़को गलाने या तोड़नेवाला अपने पूर्व पुरुषोंकी कीर्ति और इतिहासको अपनी इस क्रिया द्वारा गला और तोड़ रहा हो!

३—पुरातत्त्व और पाश्चात्य विद्वान्

पुरातत्त्वके विषयमें पाश्चात्य विद्वान् कितने उत्सुक हैं, इसका एक उदाहरण लीजिये। कोई वीस महीने हुए, काश्मीर-राज्यके गिलगित स्थानमें, १२–१३ सौ वर्ष पुराने अक्षरोंमें, भोजपत्रपर लिखे, वहुतसे संस्कृत-ग्रन्थोंका एक ढेर मिल गया। भारतके कितने ही विद्वान् तो उसके महत्त्वको उतना नहीं समझे; किन्तु उसके वारेमें सचित्र सुन्दर विवरण फ्रांसके आचार्य सिल्वेन् लेवीने प्रकाशित कराया है। उनके पास कुछ पन्ने पहुँच गये थे, जिनके पाठको, उन्होंने, उसमें, छापा भी है। वह और उनके सहकारी डा० फुशे आदि उन हस्तलिखित ग्रन्थोंके वारेमें इतने उत्सुक हुए कि, उन्होंने कई वार काश्मीर-राज्यके अधिकारियोंके पास पत्र

भी भेजे। वे व्यग्र रहे कि, कहीं असावधानीसे वह सामग्री नष्ट या लुप्त न हो जाय! जब मैं १९३२ ई० के नवम्बरमें पेरिसमें था, तब उन्हें काश्मीरसे पत्र मिला था, जिसमें लिखा था कि, हस्तलेखोंका निरूपण (*decipher*) किया जा रहा है! कहाँ वह आशा रखते थे कि, इन अठारह महीनोंमें उन पुस्तकोंके नाम आदिके विषयमें कोई विस्तृत विवरण मिलेगा और कहाँ पत्र जा रहा है कि, गुप्त-लिपिमें लिखे ग्रन्थोंका निरूपण किया जा रहा है! यदि ग्रन्थोंका प्रकाशन या विवरण तैयार न करके अठारह महीने सिर्फ निरूपणमें ही लग जाते हैं, तो कब उन्हें विद्वानों के सामने आने का मौका मिलेगा! आचार्य लेवीने कहा था कि, पूरे अठारह महीने हो गये, ऐसा अद्भुत ग्रन्थ-समुदाय भारतमें मिला है, जिसे लोग केवल चीनी और तिब्बती अनुवादोंसे ही जान सकते थे; परन्तु उसके बारेमें भारतमें इस तरहका आलस्य है, यह भारतके लिये लज्जाकी बात है!

भारतीय पुरातत्त्वके साहित्यके बारेमें यदि आप पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, तो उसे आप हालैंड-निवासी डा० फोगल और उनके सहयोगियोंके परिश्रमसे निकलनेवाली वार्षिक पुस्तक *"The Annual Bibliography of Indian Archaeology"* से जान सकते हैं।

४—पुरातत्त्वोत्खननके लिये एक सेवक-दलकी आवश्यकता

पुरातत्व-सम्बन्धी खोज और खननका सारा भार हम सरकारपर ही नहीं छोड़ सकते। सभी सभ्य देशोंमें ग़ैर सरकारी लोगोंने इस विषयमें बहुत काम किया है। अर्थ-कृच्छ्रताके कारण गवर्नमेंटने पुरातत्त्वविभागके खर्चको बहुतही कम कर दिया है। भारत सरकारके शिक्षा-सदस्यके भाषणसे यह भी मालूम हुआ है कि, सरकार विदेशी विश्वविद्यालयों तथा दूसरी विश्वसनीय संस्थाओंको भारतमें पुरातत्त्वसम्बन्धी उत्खननके लिये अनुमति दे देगी। ऐसा करनेसे निश्चय ही भारतके इतिहासकी बहुतसी बहुमूल्य सामग्रीको—जो आगे खुदाईमें निकलेगी—वह संस्थाएँ

भारतसे वाहर ले जायँगी। यद्यपि संस्थाओंके प्रामाणिक होनेपर, सामग्रियोंका भारतसे वाहर जाना—जहाँतक विज्ञानका सम्बन्ध है—हानिकर नहीं है; किन्तु यह भारतीयोंके लिये शोभा नहीं देता। साथ ही यह भी तो उचित नहीं कि हम चीज़ोंके वाहर चले जानेके डरसे न दूसरोंको खोदने दें और न आपही इस विपयमें कुछ करें। अस्तु। धनियों-को चाहिये कि, पर्याप्त धन देकर किसी विश्वविद्यालय संग्रहालय द्वारा खुदाई करावें। हिन्दी-भापा-भापी राजाओं, जमींदारों और धनाढ्योंके विपयमें यह आम तौरसे शिकायत है कि, वह विज्ञान, कला तथा दूसरे संस्कृति-सम्वन्धी कामोंसे उपेक्षा करते हैं। सचमुच यदि वह यह भी नहीं कर सकते, तो उनका अस्तित्व विल्कुल निरर्थक है। वस्तुतः इस श्रेणीका भविष्य वहुत कुछ इस प्रकारके कामों द्वारा जनताकी सहानुभूति प्राप्त करने ही पर निर्भर है।

हमारा देश गरीव है। वहुतसे आदमी होंगे, जो पुरातत्त्वके सम्वन्धमें कुछ कार्य करना चाहते हैं; किन्तु उनके पास धन नहीं, जिससे वह सहायता करें। ऐसे समझदार पुरातत्त्व-प्रेमी भी एक प्रकारसे उत्खननमें सहायता कर सकते हैं। आवश्यकता है, प्रत्येक प्रान्तमें ऐसे उत्साही लोगोंका एक पुरातत्त्व-सेवा-दल कायम करनेकी। दलमें कालेजोंके छात्र और प्रोफेसर तथा इस विषयमें उत्साह रखनेवाले दूसरे शिक्षित सज्जन सम्मिलित हों। सेवादलके सदस्य सालमें कुछ सप्ताह या मास जानकार नेताओंके नेतृत्वमें अपने हाथों खननका काम करें। निकली चीज़ोंको प्रान्तके संग्रहालय या अन्य किसी सार्वजनिक सुरक्षित स्थानमें रखा जाय। कैम्पका जीवन विताते हुए अपने पाससे खर्च कर काम करनेवाले लोग आसानीसे मिल सकेंगे। वस्तुओंकी सुरक्षा और नेताके अभिज्ञ होनेका विश्वास हो जाय, तो सरकार भी इस काममें बाधक नहीं होगी और जहाँतक होगा, उसमें वह सहूलियत पैदा करेगी।

---

(२)

काल-निर्णयमें ईंटें और गहराई

इतिहासका विषय भूत-काल है; इसलिये उसे हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। किन्तु जिस प्रकार वर्तमान वस्तुओंके लिये प्रत्यक्ष बहुत ही जबर्दस्त प्रमाण है, उसी प्रकार भूत वस्तुओंके लिये जबर्दस्त प्रमाण उस समयकी वस्तुएँ हैं। वस्तुएँ प्रत्यक्षदर्शी और सत्यवादी साक्षी हैं, यदि उनका उस कालसे सच्चा सम्बन्ध मालूम हो जाय। पोथी-पत्रोंमें तो मनुष्य भूल कर सकता या स्वार्थवश हर नई लिखाईमें घटा-बढ़ा सकता है; किन्तु रमपुरवा (चम्पारन)के स्तम्भ-लेखमें एक भी अक्षरका, अशोकके बाद, मिलाया जाना क्या आसान है? सारनाथमें ई० पू० प्रथम या द्वितीय शताब्दीमें, जिस बौद्ध-सम्प्रदायकी प्रधानता थी, वहाँ उस समयकी लिपिमें उसके नामके साथ एक लेख खुदा हुआ था। उसके चार—पाँच सौवर्ष बाद (ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दी में) दूसरा सम्प्रदाय अधिकारारूढ़ हुआ। इसने उसी लेखमें, नामवाला भाग छिलवाकर, अपना नाम जुड़वा दिया। ऐसे भी भिन्न-भिन्न हाथोंके अक्षर एक दूसरे से पृथक् होते हैं; और, यहाँ तो पाँच शताब्दियों बाद अक्षरोंमें भारी परिवर्तन हो गया था। इसलिये यह जाल साफ मालूम हो जाता है; और, वह "आचार्याणां सर्वास्तिवादिनं परिग्रहे" वाला छोटा लेख बतला देता है कि, सारनाथका धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार ई० पू० प्रथम शताब्दीसे पूर्व, किसी दूसरे सम्प्रदाय के हाथमें था; और, ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दीमें सर्वास्तिवादके हाथमें चला गया। इस तरह इस प्रमाणकी मज़बूतीको आप अच्छी तरह समझ सकते हैं। सातवीं शताब्दीके चीनी

भिक्षु युन्-च्वेङ अपने समयमें वहाँ साम्मितीय निकायकी प्रधानता पाते हैं। युन्-च्वेङका ग्रन्थ १२ शताब्दियोंतक भारतसे दूर पड़ा रहा; इसलिये जान-बूझकर, मिलावट कम होनेसे, अपने समयके लिये उसकी प्रामाणिकता बहुत ही बढ़ जाती है। किन्तु मान लीजिये युन्-च्वेङ अपने ग्रन्थ में लिख दें कि, सारनाथका धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार अशोकके समयसे आजतक साम्मितीयोंके हाथमें है, तो उक्त लेखके सामने इस बातकी प्रामाणिकता कुछ भी नहीं रह सकती। इस तरह समसामयिक सामग्री पीछे रचित और लिखित ग्रन्थोंसे बहुत ही अधिक प्रामाणिक है। हाँ, जैसा कि, मैंने ऊपर कहा है, वहाँ हमें उनकी समसामयिकताको सिद्ध करना होगा। समसामयिकता सिद्ध करनेके लिये निम्न बातें सबसे अधिक प्रामाणिक हैं— (१) स्वयं लेखमें दिया संवत् और नाम, (२) लिपिका आकार, (३) गहराई, (४) प्राप्त वस्तुके आसपास मिली ईंटें और अन्य वस्तुएँ।

पहली बात तो सर्वमान्य है ही; लेकिन ऐसा संवत्-काल लिखनेका रवाज ग़ुप्तोंके ही समयसे मिलता है। आन्ध्रों, कुषाणों, मौर्योंके लेखोंमें तो राजाके अभिषेकका संवत् दिया रहता है; उनका काल-निर्णय कठिन है। बहुतसे लेखोंमें तो काल भी नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें, अक्षरोंको देखकर, उनसे काल-निश्चय किया जाता है। यद्यपि इसमें दो-एक शताब्दियोंके अन्तर होनेकी सम्भावना है; किन्तु जो सामग्री सबसे प्रचुर परिमाणमें मिलती है और मनुष्य-जीवनके सभी अङ्गोंपर प्रकाश डालती है, वह अक्षराङ्कित भी नहीं होती। इसी सामग्रीकी समसामयिकताको सिद्ध करनेके लिये तीसरे और चौथे प्रमाणोंकी आवश्यकता होती है।

ऐतिहासिक सामग्रियोंमें प्रत्यक्षदर्शी लेख का, अपनी ज़बान खोलकर सन्-संवत्के साथ घटनाओंका वर्णन करना, ऐतिहासिक प्रत्यक्ष है। किन्तु जब वह अङ्क या आकारसे अपने काल मात्रको बतलाता है, तब भी वह अपने साथके बर्तन, दीवार, ज़ेवर, मूर्ति आदिके बारेमें इतनी गवाही दे ही जाता है कि, इतने समयतक हम सब साथ रहे हैं। उस समयकी सभ्यता आदि

सम्बन्धी बातें तो अब आपको उनकी मूक भाषासे मालूम करनी होंगी। हाँ, यहाँ यह भी हो सकता है कि, भिन्न कालमें बनी वस्तुएँ और लेख पीछे वहाँ इकट्ठे कर दिये गये हों; किन्तु वह तो तभी हो सकता है, जब कि संग्रहालय (म्युज़ियम) की तरह यहाँ भी इकट्ठा करने का कोई मतलब हो। लेखोंके साथ कुछ और चीजें भी सभी जगह मिला करती हैं; और, यह भी देखा गया है कि, कालके अनुसार इनके आकार-प्रकारमें भेद होता रहता है। इसीलिये इन्हें भी काल-निर्णयमें प्रमाण माना जाता है।

दीहातमें भी लोग कहा करते हैं कि, "धरती माता प्रतिवर्ष जौ-भर मोटी होती जाती हैं!" यह बात सत्य है; लेकिन इतने संशोधनके साथ—'सभी जगह नहीं, और मोटाईका ऐसा नियत मान भी नहीं।' भारत में मोहन्‌जो दड़ो वह स्थान है, जहाँ आजसे चार-पाँच हजार वर्षकी पुरानी वस्तुएँ मिली हैं। लेकिन वहाँ आप, इन सब चीज़ों को, वर्तमान तलसे भी ऊपर, टीलोंपर पाते हैं। हड़प्पामें भी करीब-करीब वही बात है। हाँ, इस तरहके अपवादोंके साथ पृथिवीके मोटे होने का नियम उत्तर भारतमें लागू है। पृथिवी कितनी मोटी होती जाती है, इसका कोई पक्का नाप-नियम नहीं है। इसके लिये कुछ जगहोंकी ख़ोदाईमें मिले भिन्न-भिन्न तलोंकी सूची दी जाती है—

काल	गहराई (फ़ीट)	स्थान
ई० पू० ८वीं शताब्दी	२१, २०	[1]भीटा (इलाहाबाद)
,, चौथी-पाँचवीं ,,	१७	,,

[1] भीटाका पुराना नाम सहजाती था। वहाँकी खुदाईमें एक मुहर भी मिली है, जिसमें "शहजतिये निगमश" (सहजातीके वणिक्-संघका) लिखा है—दे० "बुद्धचर्या" पृष्ठ ५५९,५६१।

काल	गहराई (फ़ीट)	स्थान
मौर्य-काल		
(ई० पू० तृतीय शतक)	१६	,,
,,	१५	पटना
,,	१३	रमपुरवा (चम्पारन)
,,	गुप्त+६, ९½	सारनाथ (बनारस)
कुषाण-काल		
(ई० पू० प्र० श०)	१३	भीटा (इलाहाबाद)
,, (ई० चतुर्थ-षष्ठ श०)	१०-६	कसया (गोरखपुर)
,,	१०	,,
कुषाण–काल	१०	बसाढ़ (मुजफ्फरपुर)
,,	९	भीटा (इलाहाबाद)
,,	८	,,
,,	७	पटना

गहराईकी भाँति ईंटें भी काल-निर्णयमें बहुत सहायक होती हैं; क्योंकि देखा जाता है कि, जितनी ही ईंटें बड़ी होती हैं, उतनी ही अधिक पुरानी होती हैं। यद्यपि यह नियम सामान्यतः सर्वत्र लागू है, तोभी कहीं कहीं इसके अपवाद मिलते हैं। गुप्त-कालकी भी ईंटें कभी-कभी मौर्य-कालकी सी मिली हैं; किन्तु उनमें वह ठोसपन नहीं है। (जैसे-जैसे जंगल कटते गये, वैसे ही वैसे लोग लकड़ीकी किफायत करने लगे; और, इसीलिये, ईंधनकी कमीके लिये ईंटोंकी मोटाई आदिको कम करने लगे।) मोहन्‌जो दड़ो और हड़प्पा सर्वथा ही इसके अपवाद हैं। वहाँकी ईंटें तो आज कलकी अँग्रेजी ईंटों जैसी लम्बी–किन्तु, कम मोटी हैं। नीचेकी सूचीसे भिन्न-भिन्न कालकी ईंटोंका कुछ अनुमान हो सकेगा—

काल	आकार (इंच)	स्थान
ई० पू० चतुर्थ श०	१६×१०$\frac{१}{२}$×३	पिपरहवा (वस्ती)
,,	१५×१०×३	,,
मौर्य–काल		
(ई० पू० तृतीय श०)	२०×१४$\frac{१}{२}$×३$\frac{१}{४}$	भींटी (बहराइच)
,,	१९$\frac{१}{२}$×१२$\frac{१}{२}$×३$\frac{१}{२}$	सारनाथ (बनारस)
,,	१९×१०×३	कसया (गोरखपुर)
,,	१८×१०×२$\frac{३}{४}$	,,
[1]कुषाणोंसे पूर्व	१७$\frac{१}{२}$×१०$\frac{३}{४}$×२$\frac{१}{४}$	भीटा (इलाहाबाद)
कुषाणोंके पूर्व	१४×१०$\frac{१}{४}$×२$\frac{१}{४}$	सहेटमहेट (गोंडा)
,,	१४×१०×२	,,
,,	१४×९×२	,,
कुषाण	१५×१०$\frac{१}{२}$×२$\frac{३}{४}$	सारनाथ (बनारस)
गुप्त	१४×८×२$\frac{१}{२}$	सहेटमहेट (गोंडा)
,,	१२×९×२	,,
ईस्वी छठी-सातवीं सदी	१२$\frac{१}{२}$×८$\frac{१}{२}$×२	,,
ई० सातवीं-आठवीं सदी	१२×९×२	,,
ई० दसवीं-ग्यारहवीं सदी	१२×९×२	,,
,,	९$\frac{१}{२}$×९$\frac{१}{२}$×२	,,
,,	७×५×२	,,

[1] ई० पू० प्रथम और ईस्वी सन् प्रथम शताब्दियाँ।

(३)

बसाढ़की खुदाई

हाजीपुरसे १८ मील उत्तर, मुजफ़्फ़रपुर जिलेमें, बसाढ़ (बनिया बसाढ़) गाँव है; जिसके पासके गाँव बखरामें अशोक-स्तम्भ है। बसाढ़की खुदाईमें ईस्वी सन्से पूर्वकी चीजें मिली हैं। खुदाईके सम्बन्धमें कुछ लिखनेके पूर्व स्थानके बारेमें कुछ लिख देना उचित होगा।

वैशाली प्राचीन वज्जी-गण-तंत्रकी[1] राजधानी थी। वज्जीदेशकी शासक क्षत्रियजातिका नाम लिच्छवि था। जैन-ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि, इसकी ९ उपजातियाँ थीं। इन्हींका एक भेद[2] ज्ञातृ जाति था, जिसमें पैदा होनेके कारण जैनधर्म-प्रवर्तक वर्धमान (महावीर)को नातपुत्र या ज्ञातपुत्र भी कहते हैं। पाणिनिने भी "मद्रवृज्ज्योः कन्" (अष्टाध्यायी ४।२।३१) सूत्रमें इसी, वज्जीको वृज्जी कहकर स्मरण किया है। बुद्धके समय यह वज्जी-गण-राज्य उत्तरी भारतकी पाँच प्रधान राजशक्तियों—अवन्ती, वत्स, कोसल, मगध, और वज्जी—मेंसे एक था। इस गणराज्यका शासन कब स्थापित हुआ, यह निश्चय रूपसे नहीं कहा जा सकता। इनके

---

[1] वज्जीदेशमें आजकलके चम्पारन और मुजफ्फरपुरके जिले, दरभंगेका अधिकांश तथा छपरा जिलेके मिर्जापुर, परसा, सोनपुरके थाने एवम् कुछ और भाग सम्मिलित थे।

[2] रत्ती परगनेमें (जिसमें कि बसाढ़ गाँव है) जिन जथरियोंकी सबसे अधिक बस्ती है, वह यही पुराने ज्ञातृ हैं, जो भूत कालमें इस बलशाली गणतन्त्रके सञ्चालक, और जैन-तीर्थङ्कर महावीरके जन्मदाता थे। देखो ज्ञातृ=जथरिया (६) भी

न्याय, प्रबन्ध आदिके सम्बन्धमें पाली-ग्रन्थोंमें जहाँ-तहाँ वर्णन है। बुद्धके निर्वाणके तीन वर्ष बाद, प्रायः ई० पू० ४८० में, वज्जी-गणतंत्रको मगध-राज अजातशत्रुने, विना लड़े-भिड़े, जीता था। पीछे तो मगध-साम्राज्यके विस्तारमें लिच्छविजातिने बड़ा ही काम किया। लिच्छवियोंके प्रभाव और प्रभुत्वको हम गुप्त-काल तक पाते हैं। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त लिच्छवि-दौहित्र होनेका अभिमान करता है। कितने ही विद्वानोंका मत है कि, गुमनाम गुप्तवंशको साम्राज्य-शक्ति प्रदान करनेमें चन्द्रगुप्त-का लिच्छवि-राजकन्या कुमारदेवीके साथ विवाह होना भी एक प्रधान कारण था। इस विवाह-सम्बन्धके कारण चन्द्रगुप्तको वीर[1] लिच्छवि जातिका सैनिक बल हाथ लगा था। गुप्तवंशका सबसे प्रतापी सम्राट् समुद्रगुप्त उसी लिच्छविकुमारी कुमारदेवीका पुत्र था। कौन कह सकता है, उसको अपनी दिग्विजयोंमें अपने मामाके वंशसे कितनी सहायता मिली होगी। गुप्तवंशके बाद हम लिच्छवियोंका नाम नहीं पाते। युन्-च्वेङ्के समय वैशाली उजाड़सी थी। वेतियाका राजवंश उक्त लिच्छविजातिके जयरिया-वंशके अन्तर्गत है ; इसलिये सम्भव है, वेतिया-राजवंशके इति-हाससे पीछेकी कुछ बातोंपर प्रकाश पड़े।[2]

---

[1] आज भी जयरिया जाति लड़ने-भिड़नेमें मशहूर है।

[2] जिस प्रकार नन्द और मौर्य भारतके प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य-स्थापक थे, वैसे ही वज्जी ऐतिहासिक कालका एक महान् शक्तिशाली गणतन्त्र था। क्या यह अच्छा न होगा कि, मुजफ्फरपुरवाले उसकी स्मृतिमें प्रतिवर्ष एक लिच्छविगणतन्त्र-सप्ताह मनावें, जिसमें और बातोंके साथ योग्य विद्वानोंके गणतन्त्र-सम्बन्धी व्याख्यान कराये जायँ? लिच्छवि-गणतन्त्र भारतीयोंके जनसत्तात्मक मनोभावका एक ज्वलन्त उदाहरण है, जो पाश्चात्योंके इस कथनका खण्डन करता है कि, भारतीय हमेशा एका-धिपत्यके नीचे रहनेवाले रहे हैं। लिच्छवि-गणतन्त्रपर सारे भारतका अभिमान होना स्वाभाविक है। एक लिच्छवि-जयरियाके नाते, आशा है, मौलाना शफी दाऊदी भी इसमें सहयोग देंगे।

वैशाली नामके वारेमें पाली-ग्रन्थोंमें लिखा है कि, दीवारोंको तीन वार हटाकर उसे विशाल करना पड़ा; इसीलिये नगरका वैशाली नाम पड़ा। फलतः वैशालीके ध्वंसावशेषका दूरतक होना स्वाभाविक है। वैशाली नगर कहाँतक था और कहाँ नगरके वाहरवाले गाँव थे, इसका अभीतक निश्चय नहीं किया गया। अभीतक जो भी खुदाईका काम हुआ है, वह सिर्फ वसाढ़के गढ़में ही हुआ है। वसाढ़के आसपास कोसोंतक पुरानी वस्तियोंके निशान मिलते हैं। वसाढ़ और वनिया गाँव न सिर्फ स्वयं पुरानी वस्तियोंपर वसे हैं, वल्कि उनके आसपास भी ऐसी वहुत भूमि है, जिसके नीचे भूत कालके सन्देशवाहक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

वैसे तो वसाढ़के लोगोंको मालूम ही था कि, उनका गाँव राजा विशाल-की राजधानी है; किन्तु सेंट मार्टिन और जनरल कनिंघम प्रथम सज्जन थे, जिन्होंने वसाढ़के ध्वंसावशेषोंके लिये पुरानी वैशाली होनेका संकेत किया। तोभी वसाढ़में सनियम खुदाईका काम सन् १९०३ ई० तक नहीं हुआ था। १९०३-४ ई० के जाड़ोंमें डा० व्लाश्के अधिनायकत्वमें वहाँकी खुदाई हुई। उसके वाद, १९१३-१४ ई० में, फिर डाक्टर स्पूनरने खुदाईका काम किया। यह दोनों ही खुदाइयाँ राजा विशालके ही गढ़पर हुईं। डाक्टर व्लाश् (*Bloch*) अपनी खुदाईमें गुप्त-कालके आरम्भ (चौथी शताब्दीके आरम्भ) तक पहुँचे थे और डाक्टर स्पूनरका दावा मौर्य (ई० पू० तीसरी शताब्दी) तक पहुँचनेका था। यद्यपि जिस मुहरके वलपर उन्होंने ई० पू० तीसरी शताब्दी निश्चय किया, उसे स्व० राखाल-दास वन्द्योपाध्याय जैसे पुरालिपिके विद्वान्ने ई० पू० प्रथम शताब्दीका वतलाया, और यह अक्षरोंको देखनेसे ठीक जँचता है।

राजा विशालका गढ़ दक्षिणको छोड़कर तीन तरफ जलाशयोंसे घिरा है; और, वर्षा तथा शीतकालमें दक्षिणकी ओरसे—जिधर वसाढ़ गाँव है—ही गढ़पर जाया जा सकता है। डाक्टर व्लाश्की नापसे गढ़ उत्तर ओर ७५७ फीट, दक्षिण ओर ७८० फीट, पूर्व ओर १६५५ एवं पश्चिम ओर

१६५० फीट विस्तृत है। सारी खुदाईमें सिर्फ एक छोटीसी गणेशकी मूर्ति डा० ब्लाश्को मिली थी, जिससे सिद्ध होता है कि, गढ़ धार्मिक स्थानोंसे सम्बन्ध न रखता था। गुप्त, कुषाण तथा प्राक्-कुषाण मुहरोंको देखनेसे तो साफ मालूम होता है कि, यह राज्याधिकारियोंका ही केन्द्र रहा है। वैसे गढ़को छोड़कर वसाढ़में दूसरी जगह भी अकसर पुरानी मूर्तियाँ मिलती हैं। गढ़से पश्चिम तरफ, बावन-पोखरके उत्तरी भीटेपर, एक छोटासा आधुनिक मन्दिर है, वहाँ आप मध्यकालीन खण्डित कितनी ही—बुद्ध, बोधि-सत्व, विष्णु, हर-गौरी, गणेश, सप्तमातृका एवं जैनतीर्थङ्करोंकी—मूर्तियाँ पावेंगे।

गढ़की खुदाईमें जो सबसे अधिक और महत्त्वपूर्ण चीजें मिलीं, वह हैं महाराजाओं, महारानियों तथा दूसरे अधिकारियोंकी स्वनामाङ्कित कई सौ मुहरें। डाक्टर ब्लाश् अपनी खुदाईमें ऊपरी तलसे १० या १२ फीटतक नीचे पहुँचे थे। उनका सबसे निचला तल वह था, जहाँसे आरम्भिक गुप्त-कालकी दीवारोंकी नींव शुरू होती है। ऊपरी तलसे १० फीट नीचे "महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०–४१३)-पत्नी, महाराज श्रीगोविन्द-गुप्तमाता, महादेवी श्रीध्रुवस्वामिनी"की मुहर मिली थी। जिस घरमें वह मिली थी, वह देखनेमें चहबच्चाघरसा मालूम होता था; इसलिये उस समयका साधारण तल इससे कुछ फीट ऊपर ही रहा होगा। डा० स्पूनर और नीचेतक गये। वहाँ उन्हें ई० पू० प्रथम शताब्दीकी वेसालि-अनुसयानकवाली मुहर मिली। डा० ब्लाश्को सबसे बड़ी ईंट १६½ × १० × २ इंच नापकी मिली थी। एक तरहके खपड़े भी मिले, जो विहारमें आजकल पाये जानेवाले खपड़ोंसे भिन्न हैं। इस तरहके खपड़े लखनऊ म्यूज़ियममें भी रखे हैं, जो युक्तप्रान्तमें कहीं मिले थे। इनकी लम्बाई-चौड़ाई (इंच) निम्न प्रकार हैः—

८ × २½	८¼ × २
५½ × २½	८½ × २¾
७½ × २	११ × २

यद्यपि गढ़की खुदाईमें हाथी-दाँतका दीवट (दीपाधानी) तथा और भी कुछ चीज़ें मिली थीं; किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण वह कई सौ मुहरें हैं। गुप्तकालसे पूर्वकी मुहरें बहुत थोड़ी मिली हैं, उनमेंसे एकपर निम्न प्रकार-का लेख है:—

"वेसालि अनु + + + + ट + + कारे सयानक"

इसमें वेसालि अनुसयानकको वेसालीअनुसंयानक बनाकर डाक्टर फ्लीटने "वैसालीका दौरा करनेवाला अफसर" अर्थ किया है; और, "टकारे" के लिये कहा है—यह एक स्थानके नामका अधिकरण (सप्तमी) में प्रयोग है। अशोकके लेखोंमें पाँच-पाँच वर्षपर खास अफसरोंके अनुसयान या दौरा करनेकी बात लिखी है। उसीसे उपर्युक्त अर्थ निकाला गया है। किन्तु सिवा वेसालि शब्दके, जोकि, स्थानको बतलाता है, और अर्थ अनिश्चितसे ही हैं।

दूसरी मुहरमें है—

"राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामीरुद्रसिंहस्य दुहितु
राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामीरुद्रसेनस्य
भगिन्या महादेव्या प्रभुदमाया"

'राजा महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसिंहकी पुत्री, राजा महाक्षपत्र स्वामी रुद्रसेनकी बहन महादेवी प्रभुदमाकी।'

महाक्षत्रप रुद्रसिंह और उनके पुत्र रुद्रसेन चष्टन-रुद्रदामवंशीय पश्चिमीय क्षत्रपोंमेंसे थे, जिनकी राजधानी उज्जैन थी। रुद्रसिंह और रुद्रसेनका राज्यकाल ईसाकी तीसरी शताब्दीका आरम्भ है। प्रभुदमाके साथका महादेवी शब्द बतलाता है कि, वह किसी राजाकी पटरानी थी। क्षत्रपों और शातवाहनवंशीय आन्ध्रोंका विवाह-सम्बन्ध तो मालूम ही है; किन्तु प्रभुदमा किसकी पटरानी थी, यह नहीं कहा जा सकता।

"हस्तदेवस्य [illegible] [illegible]मों है। गुप्तकालीन मुहरोंमें कुछ

"भगवत आदित्यस्य", "जयत्यनन्तो भगवान् साम्वः", "नमः पशुपते" आदि देवता-सम्बन्धी हैं। कुछ "नागशर्मणः", "वुद्धमित्रस्य", "त्रिपुरक्ष-षष्ठिदत्तः", "ब्रह्मरक्षितस्य" आदि साधारण व्यक्तियोंकी हैं। राज्याधि-कारियोंकी मुहरोंके वारेमें लिखनेसे पूर्व गुप्तकालीन शासनाधिकारियोंके वारेमें कुछ लिखना चाहिये। गुप्तसाम्राज्य अनेक भुक्तियोंमें[1] बँटा हुआ था। यह भुक्तियाँ आजकलकी कमिश्नरियोंसे वड़ी थीं। हर एक भुक्तिमें अनेक 'विषय' हुआ करते थे, जो प्रायः आजकलके जिलोंके वरावर थे। विषय कहीं-कहीं अनेक 'पथकों'में विभाजित था; जैसा कि, हर्षके वाँसखेड़ावाले ताम्रपत्रसे मालूम होता है। नवमी शताब्दीके पालवंशीय राजा धर्मपालके लेखसे मालूम होता है, कि उस समय भुक्तियोंको मण्डलोंमें विभक्त कर, फिर मण्डलको अनेक विषयोंमें वाँटा गया था। हो सकता है, साम्राज्य के आकारके अनुसार भुक्तियोंका आकार घटता-वढ़ता हो। यद्यपि विषयोंके नीचे पथकोंका होना प्रायः नहीं देखा जाता, तो भी यदि पथक थे, तो उन्हें आज कलके परगने एवं ग्यारहवीं शताब्दीकी पत्तलाके समान जानना चाहिये। भुक्ति, विषय, ग्राम—इन तीन विभागोंमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। उस समय भुक्तिके शासकको उपरिक कहा जाता था, जिसे आजकलका गवर्नर समझना चाहिये। उप-रिकको सम्राट् ही नियुक्त किया करता था। अपनी भुक्तिके भीतर

---

[1] श्रावस्ती (सहेट-महेट) गोंडा-वहराइच जिलोंकी सीमापर है; इसलिये गोंडा-वहराइच जिलोंको श्रावस्ती-भुक्तिमें मानना ही चाहिये। सातवीं शताब्दीके हर्षवर्द्धनके मधुवनवाले ताम्र-लेखसे मालूम होता है कि, आजमगढ़ श्रावस्ती-भुक्तिमें ही था। दिघवा-दुवौली (जि० सारन) का ताम्रपत्र यदि अपने स्थान पर ही है, तो नवीं शताब्दीमें सारन भी श्रावस्ती-भुक्तिमें था। इस प्रकार गोंडा, वहराइच, बस्ती, गोरखपुर, आजमगढ़ और सारन जिले कम-से-कम श्रावस्ती-भुक्तिमें थे।

उपरिक विषय-पतियों को नियुक्त किया करता था, जिन्हें नियुक्तक या कुमारामात्य कहा जाता था। विषय-पति कुमारामात्यका निवास-नगर अधिष्ठान कहलाता था; और, उस नगरके शासनमें निगम या नागरिक-परिषद्का बहुत हाथ रहता था। यह निगम वही संस्था है, जिसके प्रभावका उल्लेख नेगम (=नैगम)के नामसे बुद्धकालमें भी बहुत पाया जाता है। गुप्तकालमें श्रेष्ठी (=नगर-सेठ), सार्थवाह (=बनजारोंका सरदार) और कुलिक (प्रतिष्ठित नागरिक) मिलकर निगम कहे जाते थे। इन्हें और प्रथम कायस्थ (प्रधान लेखक)को मिलाकर विषय-पतिकी परामर्श-समिति-सी होती थी।

अब बसाढ़की खुदाईमें मिली ऐसी कुछ मुहरोंको देखिये—

उपरिक[2]
- (१) [1]तीरभुक्त्युपरिकाधिकरणस्य।
- (२) तीरभुक्तौ विनयस्थितिस्थाप(क)ाधिकरण(स्य)।

कुमारा०
- (१) तीर-कुमारामा[3]त्याधिकरणस्य।
- (२) कुमारामात्याधिकरणस्य।
- (३) (वैं)शाल्यधिष्ठानाधिकरण।
- (४) (वैं)शालविषय:[4]... ।

निगम
- (१) श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम।
- (२) श्रेष्ठिकुलिकनिगम।
- (३) श्रेष्ठिनिगमस्य।

---

[1] तीरभुक्ति=तिरहुत, जिसमें सम्भवतः गंडक, गंगा, कोसी और हिमालयसे घिरा प्रदेश शामिल था।

[2] उपरिककी मुहरमें, दो हाथियोंके बीचमें, गुप्तोंका लांछन लक्ष्मी हैं, जिनके बायें हाथमें अष्टदल पुष्प है।

[3] मुहरमें दो हाथियोंके बीच लक्ष्मी हैं, जिनके हाथमें सप्तदल पुष्प हैं।

[4] सम्भवतः विषय।

श्रेष्ठि { (१) गोमिपुत्रस्य श्रेष्ठिकुलोटस्य।
(२) श्रेष्ठिश्रीदासस्य।

सार्थवाह { सार्थवाह दोड्ड.....

प्रथम कुलिक[1] { (१) प्रथमकुलिकहरिः।
(२) प्रथमकुलिकोग्रसिंहस्य।

कुलिक { (१) कुलिक भगदत्तस्य।
(२) कुलिक गोरिदासस्य।
(३) कुलिक गोण्डस्य।
(४) कुलिक हरिः।
(५) कुलिक ओमभट्ट।

इनके अतिरिक्त कुछ मुहरें राजा, युवराज तथा उनसे विशेष सम्बन्ध रखनेवालोंकी भी हैं। जैसे—

(१) महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपत्नी महाराज श्रीगोविन्दगुप्त-, माता महादेवी श्रीध्रुवस्वामिनी।

(२) श्रीपर(मभट्टारक)पादीय कुमारामात्याधिकरण।

(३) श्रीयुवराज भट्टारकपादीय कुमारामात्याधिकरण।

(४) युवराजभट्टारकपादीय वलाधिकरणस्य।

इनके अतिरिक्त रणभाण्डागाराधिकरण, दण्डपाशाधिकरण, दण्ड-नायक (न्याय-मन्त्री) और भटाश्वपति (घोड़सवार, सेनापति आदि) की मुहरें मिली हैं—

---

[1] नगरमें श्रेष्ठी और सार्थवाह एक-एक हुआ करते थे। निगमसभाके बाकी सदस्य सद्कुलिक कहे जाते थे, जिनमें प्रमुखको 'प्रथम कुलिक' कहा जाता था। यही कारण है, जो मुहरोंमें सबसे अधिक कुलिकोंकी मुहरें हैं।

(१) महादण्डनायकाग्निगुप्तस्य।

(२) भटाश्वपति यक्षवत्सस्य (?)

युवराज भट्टारकपादीय—कुमारामात्याधिकरण देखकर तो मालूम होता है, तीर-भुक्तिके 'उपरिक' स्वयं युवराज ही होते थे। द्वितीय गुप्त-सम्राट् अपनेको लिच्छवि-दौहित्र कहकर जिस प्रकार अभिमान प्रकट करता है, उससे वैशालीको यह सम्मान मिलना असम्भव भी नहीं मालूम होता।[1]

---

[1] जैनधर्मके लिये वैशालीका कितना महत्व है, यह तो उसके प्रवर्तक वर्धमान महावीरके वहाँ जन्म लेनेसे ही स्पष्ट है। बौद्धधर्ममें भी वैशालीके लिये बड़ा गौरव है। वैशालीमें ही बुद्धने, सन् ५२५-५२४ ई० पू० में, स्त्रियोंको भिक्षुणी बनने का अधिकार दिया था। बुद्धने यहीं अपना अन्तिम वर्षावास किया था। बुद्धके निर्वाणके सौ वर्ष बाद सन् ३८३ ई० पू० में, यहीं, बुद्धके उपदेशोंकी छानबीनके लिये, भिक्षुओंने द्वितीय संगीति (सभा) की थी। बुद्धने भिक्षु-संघके सामने लिच्छवि-गण-तन्त्रको आदर्शकी तरह पेश किया था। भिक्षु-संघके 'छन्द' (=वोट) दान तथा दूसरे प्रबन्धके ढंगोंमें लिच्छवि-गण-तन्त्रका अनुकरण किया गया है।

(अम्बाला)
थूणा
(थानेसर)
हस्तिनापुर
(मेरठ)
इन्द्रप्रस्थ
(दिल्ली)
वरणा
(बुलन्दशहर)
सोरेय्य
(सोरों)
मथुरा
(मथुरा)
वेरंजा
(ग्वालियर)
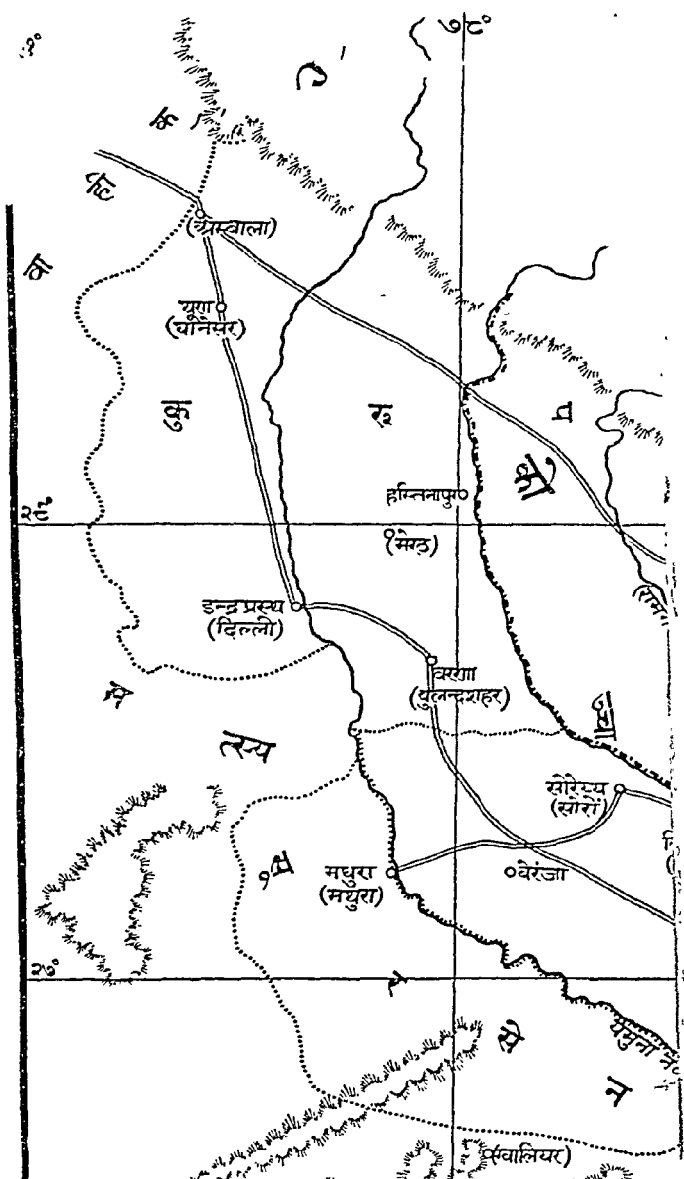
(४)

श्रावस्ती

बुद्धके समयमें उत्तरभारतमें पाँच बड़ी शक्तियाँ थीं—कोसल, मगध, वत्स, वृजी, और अवन्ती। इनमें वृजी (वैशाली) में लिच्छवियों का गणतंत्र था। कोसल और कोसलके आधीन गणतंत्रोंके सम्बन्धमें भी बहुत-सी बातोंका पता लगता है। यहाँ कोसलकी राजधानी श्रावस्तीके सम्बन्धमें लिखना है। श्रावस्तीके सम्बन्धमें त्रिपिटक और उसकी टीकाओं (अट्ठकथाओं) में बहुत कुछ मिलता है। इसके अतिरिक्त फाहियान, यून्-च्वेङ्के यात्राविवरण, ब्राह्मण, और बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों तथा जैन प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थोंमें भी बहुत सामग्री है। किन्तु इन सब वर्णनोंसे पालि-त्रिपिटकमें आया वर्णन ही अधिक प्रामाणिक है। ब्राह्मणोंके रामायण, महाभारतादि ग्रन्थोंका संस्करण बराबर होता रहा है, इसीलिये उनकी सामग्रीका उपयोग बहुत सावधानीसे करना पड़ता है। जैन ग्रन्थ ईसवी पाँचवीं शताब्दीमें लिपिबद्ध हुए, इसीलिये परम्परा बहुत पुरातन होनेपर भी, वह पालित्रिपिटकसे दूसरे ही नम्बरपर हैं। पालि-त्रिपिटक ईसा पूर्व प्रथम शताब्दीमें लिपिबद्ध हो चुके थे। जो बात ब्राह्मणग्रन्थोंके सम्बन्धमें है, वही महायान बौद्ध संस्कृत ग्रन्थोंके सम्बन्धमें भी है।

श्रावस्ती उस समय काशी (आजकलके बनारस, मिर्ज़ापुर, जौनपुर, आज़मगढ़, गाजीपुरके अधिकांश भाग), और कोसल (वर्तमान अवध) इन दो बड़े और समृद्धि-शाली देशोंकी राजधानी होनेसे ही ऊँचा स्थान रखती थी। इसके अतिरिक्त बुद्धके धर्मप्रचारका यह प्रधान केन्द्र था। इसीलिये बौद्ध साहित्यमें इसका स्थान और भी ऊँचा है। बुद्धने बुद्धत्व

प्राप्तकर पैंतालीस वर्ष तक धर्म-प्रचार किया। प्रति वर्ष वर्षाके तीन मास वह किसी एक स्थानपर बिताते थे। उन्होंने अपने पैंतालीस वर्षावासोंमेंसे पच्चीस यहीं बिताये। सूत्रों और विनयके अधिक भागका भी उन्होंने यही उपदेश किया। ईसा पूर्व ४८३ वर्षमें बुद्धका निर्वाण हुआ, यही अधिक विद्वानोंको मान्य है। उन्होंने अपना प्रथम वर्षावास (ई० पू० ५२७) ऋषिपतन-मृगदाव (सारनाथ, बनारस)में बिताया। अट्ठकथा[1]के अनुसार चौदहवाँ, तथा इक्कीसवेंसे चौंतालीसवें (ई० पू० ५०७–४८२= वि० सं० पूर्व ४५०–४२५) वर्षावास उन्होंने यही बिताये।

श्रावस्तीके नाम-करणके विषयमें मज्झिमनिकायके सब्बासवसुत्त (१।१।२)में इस प्रकार पाया जाता है—"सावत्थी (श्रावस्ती)—सवत्थ ऋषिकी निवासवाली नगरी, जैसे काकन्दी माकन्दी। यह अक्षर-चिन्तकों (=वैयाकरणों)का मत है। अर्थकथाचार्य (भाष्यकार) कहते है—जो कुछ भी मनुष्योंके उपभोग परिभोग हैं, सब यहाँ हैं (सब्बं अत्थि) इस-

---

[1] "तथागतो हि पठमबोधियं वीसति वस्सानि अनिबद्धवासो हुत्वा यत्थ यत्थ फासुकं होति तत्थ तत्थेव गन्त्वा'वसि। पथमक अन्तोवस्सं हि... धम्मचक्कं पवत्तेत्वा...बाराणसिं उपनिस्साय इसिपतने वसि...॥ चतुद्दसमं जेतवने पंचदसमं कपिलवत्थुस्मि...। एवं वीसति वस्सानि अनिबद्धवासो हुत्वा, यत्थ यत्थ फासुकं होति तत्थ तत्थेव वसि। ततो पट्ठाय पन द्वे सेनासनानि धुवपरिभोगानि अहोसि। कतरानि द्वे?—जेतवनञ्च पुब्बारामञ्च।...। उदुवस्सं चारिकं चरित्वापि हि अन्तो वस्से द्वि येव सेनासनेसु वसति। एवं वसन्तो पन जेतवने रत्तिं वसित्वा पुन दिवसे ....दक्खिणद्वारेन निक्खमित्वा सावत्थिं पिण्डाय पविसित्वा पाचीन-द्वारेन निक्खमित्वा पुब्बारामे दिवाविहारं करोति। पुब्बारामे रत्तिं वसित्वा पुनदिवसे पाचीन-द्वारेन...जेतवने दिवाविहारं करोति।"

—(अङ्गुत्तर० अट्ठकथा, हेवावितारणे ३१४ पृष्ठ)
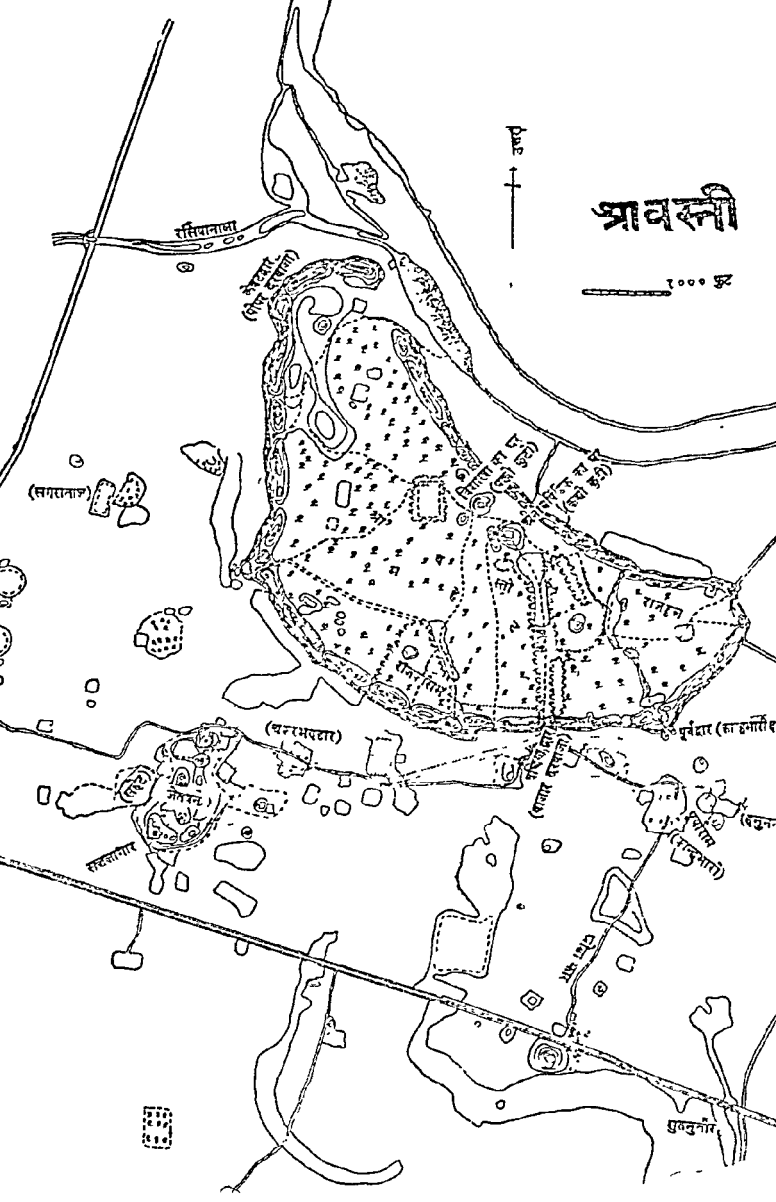
श्रावस्ती
उत्तर
१००० फुट
रसियानाला
पूर्वद्वार
जेतवन

लिये इसे सावत्थी (श्रावस्ती) कहते हैं; वंजारोंके जुटनेपर 'क्या चीज़ है' पूछनेपर "सव है, इस वातसे सावत्थी[1] ।"

श्रावस्ती कहाँ थी ? "कोसलानं पुरं रम्मं" वचनसे ही मालूम हो जाता है, कि वह कोसल देशमें थी। पाली ग्रन्थोंमें कितनी ही जगहोंपर श्रावस्तीकी दूसरे नगरोंसे दूरी भी उल्लिखित मिलती है—

१—"राजगृह कपिलवस्तुसे साठ योजन दूर, और श्रावस्ती पन्द्रह योजन। शास्ता (=बुद्ध) राजगृहसे पैंतालीस योजन आकर श्रावस्तीमें विहरते थे।"[2]

२—"पुक्कसाती (=पुष्करसाती) नामक कुलपुत्र (तक्षशिलासे) आठ कम दो सौ योजन जाकर जेतवनके सदरदरवाजेके पाससे जाते हुए।"[3]

---

[1] सावत्थीति सवत्थस्स इसिनो निवासट्ठानभूता नगरी, यथा काकन्दी माकन्दी'ति। एवं ताव अक्खरचिन्तका। अट्ठकथाचरिया पन भणन्ति—यं किञ्च मनुस्सानं उपभोगं परिभोगं सब्बमेत्थ अत्थीति सावत्थी। सत्थसमायोगे च किं भण्डं अत्थीति पुच्छिते सब्बमत्थीति वचनमुपादाय सावत्थी—

सब्बदा सब्बूपकरणं सावत्थियं समोहितं।
तस्मा सब्बमुपादाय सावत्थी'ति पवुच्चति॥
कोसलानं पुरं रम्मं दस्सनेय्यं मनोरमं।
दस हि सद्देहि अविवित्तं अन्नपानसमायुतं॥
वुड्ढि वेपुल्लतं पत्तं इद्धं फीतं मनोरमं।
आलकमन्दाव देवानं सावत्थी पुरमुत्तमं॥

—(मज्झिमनिकाय अ० क० १।१।२)

[2] "राजगहं कपिलवत्थुतो दूरं सट्ठि योजनानि, सावत्थी पन पञ्चदस। सत्था राजगहतो पञ्चचत्तालीसयोजनं आगन्त्वा सावत्थियं विहरति।"

—(म० नि० अ० क० १।३।४)

[3] "पुक्कसाति नाम कुलपुत्तो (तक्कसलातो) अट्ठ हि ऊनकानि द्वे योजनसतानि गतो जेतवनद्वारकोट्ठकस्स पन समीपे गच्छन्तो ..."

—(मज्झिम नि० अट्ठ० ३।४।१०)

३—"मज्छिकासंडमें सुधर्म स्थविर क्रुद्ध हो शास्ताके पास (जेतवन) जाकर...। शास्ताने (कहा) यह बड़ा मानी है; तीस योजन मार्ग जाकर पीछे आवे[१]।"

४—"दारुचीरिय...सुप्पारक बन्दरके किनारे पहुँचा।....तब उसको देवताने बताया—हे बाहिक, उत्तरके जनपदोंमें श्रावस्ती नामक नगर है, वहाँ वह भगवान् विहरते हैं।.... (वह) एक सौ बीस योजनका रास्ता एक एक रात वास करते हुये ही गया।"[२]

५—"शास्ता जेतवनसे निकलकर क्रमशः अग्गालव विहार पहुँचे। शास्ताने (सोचा)—जिस कुल-कन्याके हितार्थ तीस योजन मार्ग हम आये।"[३]

६—"श्रावस्तीसे संकाश्य नगर तीस योजन।"[४]

---

[१] "मच्छिकासंडे सुधम्मत्थेरो..कुज्झित्वा सत्थुसंतिकं (जेतवने) गन्त्वा। सत्था..मानत्थद्धो एस तिंसयोजनं ताव मग्गं गंत्वा पच्छागच्छतु"।

—(धम्मपद-अट्ठ० हेवावितारणे पृ० २।५०)

[२] "दारुचीरियो..सुप्पारकपत्तनतीरं ओक्कामि।..अथस्स देवता आचिक्खि—अत्थि बाहिय, उत्तरेसु जनपदेसु सावत्थिनाम नगरं तत्थ सो भगवा विहरति।...(सो) वीसं योजनसतिकं मग्गं एकरत्तिवासेनेव अगमासि।"

—(धम्मपद-अट्ठ० ८।२ उदान अट्ठ० १।१०)

[३] "सत्था जेतवना निक्खमित्वा अनुपुब्बेन अग्गालवविहारं अगमासि।.....। सत्था—यमहं कुलधीतरं निस्साय तिंसयोजनमग्गो आगतो।"

—(धम्मपद-अट्ठ० १३।७,१५।५)।

[४] "सावत्थितो संकस्सनगरं तिंसयोजनानि"।—(धम्मपद-अट्ठ० १४।२)

७—"उग्र नगर निवासी उग्र नामक श्रेष्ठि-पुत्र अनाथपिंडकका मित्र था।.....छोटी सुभद्रा यहाँ(श्रावस्ती)से एक सौ बीस योजनपर बसती है।"[१]

८—"उस क्षण जेतवनसे एक सौ बीस योजनपर कुररघरमें।"[२]

९—"तीस योजन........(जाकर) अंगुलिमालका।"[३]

१०—"महाकप्पिन एक सौ बीस योजन आगे जा चंद्रभागा नदीके तीर बरगदकी जड़में बैठे।"[४]

११—"साकेत छै योजन।"[५]

ऊपरके उद्धरणोंमें राजगृह, कपिलवस्तु, तक्षशिला, मच्छिकासंड, सुप्पारक, अग्गालव विहार, संकाश्य, उग्रनगर, कुररघर, अंगुलिमालसे भेंट होनेका स्थान, चन्द्रभागा नदीका तीर, तथा साकेत—इन तेरह स्थानोंसे श्रावस्तीकी दूरी मालूम होती है। इन स्थानोंमें कपिलवस्तु (तिलौरा कोट, नेपालतराई), राजगृह (राजगिर, जिला पटना, बिहार), साकेत (अयोध्या, जि० फैजाबाद, यु० प्रा०), तक्षशिला (शाहजीकी ढेरी, जि० रावलपिंडी, पंजाब), सुप्पारक (सुप्पारा, जिला सूरत, बंबई), संकाश्य

---

[१] "अनाथपिंडिकस्स...उग्गनगरवासी उग्गो नाम सेट्ठि पुत्तो सहायको।......चूल सुभद्दा दूरे वसति इतो वीसतियोजनसतमत्थके..."
—(धम्म० अट्ठ० २१।८)

[२] "तस्मि खणे जेतवनतो वीसं योजनसतमत्थके कुररघरे..."
—(धम्म० अट्ठ० २५।७)

[३] "तिसयोजनं...अंगुलिमालस्स"।—(मज्झिम० अट्ठ० १३।४)

[४] "महाकप्पिनराजा....।...वीसं योजनसतं पच्चुग्गन्त्वा चन्द्रभागाय नदियातीरे निग्रोधमूले निसीदि।"
—(धम्मपद-अट्ठ० ६।४)

[५] महावग्ग, पृष्ठ २८७

(संकिसा, जिला फर्रुखाबाद यु० प्रा०) तथा चंद्रभागा नदी (चनाव, पंजाव) यह सात स्थान निश्चित हैं।

पालीके शब्दकोश 'अभिधानप्पदीपिका'के अनुसार योजनका मान इस प्रकार है।

"अंगुद्विच्छ विदत्थि, ता दुवे सियुं।—
रतनं; तानि सत्तेव, यट्ठि, ता वीसतूसभं।
गावूतमुसभासीति, योजनं चतुगावुतं।"

१२ अंगुल = विदत्थि = (४ गिरह)]
२ विदत्थि (बालिश्त) = रतन (हाथ)
७ रतन = १ यट्ठि (लट्ठा) = (३$\frac{१}{३}$ गज)
२० यट्ठि = १ उसभ (ऋसभ) = (७० गज)
८० उसभ = १ गावूत (गव्यूति) = (५६०० गज = (३·१८ मील)
४ गावूत = १ योजन = (१२$\frac{८}{११}$ मील)

अभिधर्मकोशमें[1] २४ अंगुल = १ हस्त, ४ हस्त = १ धनु (=२ गज), ५०० धनु = १ कोश (= १००० गज), ८ कोश = १ योजन (=४·४५ मील) है।

श्रावस्तीके इस फासिलेको आधुनिक नकशेसे मिलानेपर—

	पुरातन		आधुनिक-
	योजन	मील	मील
कपिलवस्तु	१५	१९०·९	६२·४
साकेत	६	७६·३६	५१·२

[1] चतुर्विंशतिरंगुल्यो हस्तो, हस्तचतुष्टयम्।
धनुः, पञ्चशतान्येषां क्रोशो, ...तेऽष्टौ योजनमित्याहुः,
—(अभिधर्मकोश ३।८८–८)

राजगृह	४५	५७२·७२	२७६·८
तक्षशिला	१९२	२४४३·६२	७२४·८
सुप्पारक	१२०	१७२७·२६	७९६·८
संकाश्य	३०	३८१·८१	१६९·६
चन्द्रभागा नदी	१२०	१७२७·२६	५९०·४

श्रावस्ती और साकेतका मार्ग चालू और फासिला थोड़ा था; इस-लिये इसकी दूरीमें सन्देहकी कम गुंजाइश है। ऊपरके हिसाबसे योजन आठ मीलके करीब होगा।

श्रावस्ती कहाँ ?—

कोसल देशकी राजधानी श्रावस्तीको विद्वानोंने युक्तप्रांतके गोंडा जिलेका सहेट-महेट निश्चित किया है। उस समय कोसल नामका दूसरा कोई देश न था, इसीलिये उत्तर दक्षिण लगानेकी आवश्यकता न थी। छठी शताब्दीके (=विक्रम सं० ५५८—६५७) बाद जब मध्यप्रदेशके छत्तीस-गढ़का नाम भी कोसल पड़ा, तो दोनोंको अलग करनेके लिये, इसे उत्तर कोसल और मध्यप्रदेशवालेको दक्षिण कोसल या महाकोसल कहा जाने लगा। श्रावस्ती अचिरवती (=राप्ती) नदीके तीर थी[1]। अचिरवती नगरके समीप ही बहती थी, क्योंकि हम देखते हैं कि नगरकी वेश्याएँ और भिक्षुणियाँ वहाँ साधारणतः स्नान करने जाया करती थीं। मज्झिम-निकाय अट्ठकथामें[2] कहा गया है, कि यह नदी बहुत पुरातन (काश्यप बुद्ध) कालमें

---

[1] "इध भन्ते भिक्खुनियो अचिरवतिया नदिया वेसियाहि सद्धिं नग्गा एकतित्थे नहायन्ति।....अनुजानामि ते विसाखे अट्ठवरानीति।...."

—(महावग्ग चीवरक्खन्धे, ३२७)

[2] कस्सपदसबलस्स काले अचिरवती नगरं परिक्खिपित्वा सन्दमाना पुब्बकोट्ठकं पत्वा उदकेन भिन्दित्वा महन्तं उदकदहं मापेसि, समतित्थं अनुपुब्बगम्भीरं।"

—(म० नि० १।३।६; अ० क० ३७१)

नगरको घेरकर वहती थी। उसने पुब्बकोट्ठकके पास वड़ा दह खोद दिया था। यह दह नहानेका वड़ा ही अच्छा स्थान था। यह स्थान सम्भवतः महेटके पूर्वोत्तर कोनेपर था। इस दहके समीप तथा अचिरवतीके[१] किनारे ही राजमहल था। लेकिन साथ ही सुत्तनिपातकी अट्ठकथासे[२] पता लगता है कि अचिरवतीके किनारेवाले जौके खेत जेतवन और श्रावस्तीके वीचमें पड़ते थे। इसका मतलव यह है कि अचिरवती उस समय या तो जेतवन और श्रावस्तीके पश्चिम ओर होती हुई वहती थी, अथवा पूर्वकी ओर। लेकिन पूर्व माननेपर, उसका राजमहलके (जो कि नौशहरा दर्वाजाके पूर्व तरफ था)के पाससे जाना संभव नहीं हो सकता। इसलिये उसका श्रावस्ती और जेतवनके पश्चिम होकर, राजगढ़ दर्वाजेसे होते हुए, वर्तमान नौखानमें होकर वहना अधिक सम्भव मालूम होता है। यह वात यद्यपि पाली उद्धरणके अनुसार ठीक जँचेगी; किन्तु भूमिको देखनेसे इसमें सन्देह मालूम होता है। क्योंकि जेतवन और श्रावस्तीके पश्चिमी भागमें कोई ऐसा चिह्न नहीं है, जिससे कहा जाय कि यहाँ कभी नदी वहती थी। साथ ही पुरैना और अमहा तालोंके अति पुरातन स्तूपावशेष भी इसके लिये वाधक हैं। रामगढ़ दर्वाजेके पासकी भूमिमें भी ऐसी शक्ति नहीं है, जो

---

१ "....राजा पसेनदी कोसलो मल्लिकाय देविया सद्धिं उपरि पासादवरगतो होति। अद्दसा खो राजा पसेनदि....तेरसवग्गिये भिक्खू अचिरवतिया नदिया उदके कीलन्ते।...."

—(पाचित्ति; अचेलकवग्ग पृ० १२७)

२ "भगवति किर सावत्थियं विहरन्ते अञ्ञतरो ब्राह्मणो सावत्थिया जेतवनस्स च अन्तरे अचिरवतीनदीतीरे यवं वपिस्सामीति खेत्तं कसति। ....तस्स अज्ज वा स्वे वा लायिस्सामीति उस्सुक्कं कुरुमानस्सेव महामेघो उट्ठहित्वा सब्बरत्तिं वस्सि। अचिरवती नदी पूरा आगन्त्वा सब्बं यवं वहि।"

—(सुत्त० नि० ४।१, अ० क० ४१९)

अचिरवती ऐसी पहाड़ी नदीकी तेज धारके ऐसे जल्दीके घुमावको सह सके। मालूम होता है, मूल परम्परामें ब्राह्मणके जौके खेतका अचिरवतीकी वाढ़से नष्ट होना वर्णित था। जिसके लिये खेतोंका अचिरवतीके किनारे होना कोई आवश्यक नहीं। हो सकता है, सिंगिया नालाकी तरहका कोई नाला जेतवन और श्रावस्तीके पश्चिम भागमें रहा होगा, या उसके विना भी जौके खेतका अचिरवतीकी वाढ़से नष्ट होना विलकुल संभव है। अचिरवती-की वाढ़से नष्ट होनेसे ही, खेतोंको पीछे अचिरवतीके किनारे, समझ लिया गया। यह परिवर्तन मूल सिंहाली अट्ठकथाहीमें सम्भवतः हुआ, जिसके आधारपर बुद्धघोषने, अपनी अट्ठकथाएँ लिखीं। अचिरवतीका श्रावस्ती-के उत्तर और पूर्व-पश्चिम वहनेका एक और भी प्रमाण हमें मज्झिमनिकाय-से[1] मिलता है। आनन्द श्रावस्तीमें भिक्षा करके पूर्वारामको जा रहे थे; उसी समय राजा प्रसेनजित् भी अपने हाथीपर सवार हो नगरसे वाहर निकला। राजाने पूर्वद्वार (काँदभारी दर्वाजा)से वाहर पूर्वद्वार और पूर्वाराम-

---

[1] आयस्मा आनन्दो पुब्बण्हसमयं...सावत्थियं पिण्डाय चरित्वा ....येन पुब्बारामो..तेन उपसंकमि...। तेन खो पन समयेन राजा पसेनदि कोसलो एकपुण्डरीकं नागं अभिरुहित्वा सावत्थिया निय्यासि दिवा-दिवस्स। अद्दसा खो राजा....दूरतो'व आगच्छन्तं।...येनायस्मा आनन्दो तेनु'पसंकमि।...एतदवोच—स चे भन्ते,...न किञ्चि अच्चा-यिकं करणीयं; साधु,...येन अचिरवतिया नदिया तीरं तेनुपसंकमतु अनुकम्पं उपादाया'ति।...अथ खो...आनन्दो येन अचिरवतिया नदिया तीरं तेनु'पसंकमि, उपसङ्कमित्वा अञ्ञातरस्मिं रुक्खमूले पञ्ञत्ते आसने निसीदि।...अयं भन्ते, अचिरवती नदी दिट्ठा आयस्मता चेव...अम्हेहि च, यदा उपरि पब्बते महामेघो अभिप्पवाहेति, अथायं अचिरवती नदी उभतो कलानि संविस्सन्दन्ती गच्छति।"

—(म० नि० २।४।८)

के बीचमें कहींपर आनन्दको देखा। राजाने उस जगहसे अचिरवतीके किनारे-पर आनन्दको चलनेकी प्रार्थना की। सम्भवतः उस समय अचिरवती सहेट-के उत्तरी किनारेसे लगी हुई बहती थी। कच्ची कुटीके पासका स्तूप सम्भवतः अनाथपिण्डकके घरको बतलाता है। अनाथपिण्डकका घर अचिरवतीके पास था; शायद इसीलिये हम जातकट्ठकथामें[1] देखते हैं, कि अनाथपिण्डक-का बहुतसा भूमिमें गड़ा हुआ धन, अचिरवतीके किनारेके टूट जानेसे बह गया।

श्रावस्ती (१) अचिरवतीके किनारे थी, (२) कोसल देशमें साकेत (अयोध्या)से ६ योजन पर थी; तथा खुद्दकनिकायके पेतवत्थुके[2] अनुसार (३) हिमालय वहाँसे दिखलाई पड़ता था। यहाँ 'हिमवान्को देखते हुए' शब्द आया है; जिससे साफ है, कि श्रावस्ती हिमालयकी जड़में न होकर वहाँसे कुछ फासिलेपर थी, जहाँसे कि हिमालयकी चोटियाँ दिख-लायी पड़ती थीं। महेटसे हिमालय चौबीसही मील दूर है, और खूब दिख-लाई पड़ता है।

श्रावस्ती नगर

श्रावस्तीकी जनसंख्या[3] अट्ठकथाओंमें सात कोटि लिखी है, जिस-का अर्थ हम यही लगा सकते हैं, कि वह एक बड़ा नगर था। यह बात

---

१ "अचिरवतीनदीतीरे निहितधनं नदीकूले भिन्ने समुद्दं पविट्ठं अत्थि।"

—(जातक १।४।१०)

२ "सावत्थि नाम नगरं हिमवन्तस्स पस्सतो।" (पेतवत्थु० ४।६)।

३ "तदा सावत्थियं सत्तमनुस्सकोटियो वसन्ति। तेसु सत्थुधम्मकथं सुत्वा पञ्चकोटिमत्ता मनुस्सा अरियसावका जाता, द्वे कोटिमत्ता पुथुज्जना"

—(ध० प० १।१, अ० क० ३)।

तो कोसल जैसे बड़े शक्तिशाली राज्यकी पुरानी राजधानी होनेसे भी मालूम हो सकती है। महापरिनिर्वाण सूत्रमें[1], जहाँ पर आनन्दने बुद्धसे कुशीनगर छोड़कर किसी बड़े नगरमें शरीर छोड़नेकी प्रार्थना की है वहाँ बड़े नगरोंकी एक सूची दी है। इस सूचीमें श्रावस्तीका उल्लेख है। इससे भी यह स्पष्ट है। निवासियोंमें पाँच करोड़ लोग बौद्ध थे, इसका मतलब भी यही है कि श्रावस्तीके आधिवासियोंकी अधिक संख्या बौद्ध थी। और यह इससे भी मालूम हो सकता है कि बुद्धके उपदेशका यह एक केन्द्र रहा।

उस समय मकानोंके बनानेमें लकड़ीका ही अधिकतर उपयोग होता था। इमारतें प्राय: सभी लकड़ीकी थीं। यद्यपि श्रावस्तीके बारेमें खास तौर से नहीं आया है, तो भी राजगृहके वर्णनसे हम समझ सकते हैं कि शहरोंके चारों तरफके प्राकार भी लकड़ीकेही बनते थे। पाराजिक[2] (विनय-पिटक)में यह बात स्पष्ट है। मेगस्थनीज़ने भी पाटलिपुत्रके चारों ओर लकड़ीका ही प्राकार देखा था। (उस समय जब चारों ओर जंगल ही जंगल था, लकड़ीकी इफ़ात थी) लकड़ीका प्राकार उस धनुप बाणके ज़मानेके लिये उपयुक्त था, इसीलिये हम पुराने पाटलिपुत्रको भी लकड़ीके प्राकारसे ही घिरा पाते हैं। बुलन्दी बागकी खुदाईमें इसके कुछ भाग भी मिले हैं।

---

[1] "मा भन्ते भगवा इमस्मि कुड्डनगरके उज्जंगलनगरके साखनगरके परिनिब्बायतु। सन्ति भन्ते अञ्ञानि महानगरानि, सेय्यथीदं चम्पा, राजगहं, सावत्थी, साकेतं, कोसम्बी, वाराणसी ..."

—(दी० नि० २।३।१३)

[2] "अत्थि भन्ते, देवगहदारूनि नगरपटिसंखारिकानि आपदत्थाय निक्खित्तानि। स चे तानि राजा दापेति, हरापेथ।"

—(द्वितीय पराजिका)

श्रावस्तीमें मुख्यतः चार[1] दर्वाजे थे, जिनमें तीन तो उत्तर[2], पूर्व और दक्षिण दर्वाजोंके नामसे प्रसिद्ध थे। इनमेंसे जेतवनसे नगरमें आनेका दर्वाजा दक्षिण द्वार था। पूव्वाराम पूरब दर्वाजेके[3] सामने था। इन्हीं तीन द्वारोंका वर्णन अधिकतर मिलता है। पश्चिम द्वारका होना भी यद्यपि स्वाभाविक है तथापि इसका वर्णन त्रिपिटक या अट्ठकथामें नहीं देखनेमें आता। अट्ठकथासे पता लगता है कि उत्तर द्वारके बाहर एक गाँव बसता था, जिसका नाम 'उत्तरद्वारगाम' था। यह 'उत्तर[4] द्वार-गाम' नगरके प्राकार तथा नदीके मध्यकी भूमिमें झोपड़ियोंका एक छोटा गाँव होगा।

---

[1] "जेतवने रत्तिं वसित्त्वा पुनदिवसे...दक्खिणद्वारेन सावत्थिं पिण्डाय पविसित्वा पाचीन-द्वारेन निक्खमित्वा पुब्बारामे दिवाविहारं करोति।"

—(मनि० ९।३।६, अ० क० ३६९)

[2] "पाचीनद्वारे सङ्घस्स वसनट्ठानं कातुं ते युत्तं विसाखे'ति।"

—(धम्मपद प० ४।८ अ० क० १९९)

[3] "पकतियापि सत्था विसाखाय गेहे भिक्खं गण्हित्वा दक्खिणद्वारेन निक्खमित्वा जेतवने वसति। अनाथपिण्डकस्स गेहे भिक्खं गहेत्वा पाचीनद्वारेन निक्खमित्वा पुब्बारामे वसति। उत्तरद्वारं सन्धाय गच्छन्तञ्ञेव भगवन्तं दिस्वा चारिकं पक्कमिस्सती'ति जानन्ति।"

—(ध० प० ४।८, अ० क० २००)

[4] "एकदिवसं हि भिक्खू सावत्थियं उत्तरद्वारगामे पिण्डाय चरित्वा.. नगरमज्झेन विहारं आगच्छन्ति। तस्मिन् खणे मेघो उट्ठाय पावस्सि। ते सम्मुखागतं विनिच्छयसालं पविसित्वा, विनिच्छयमहामत्ते लञ्छं गहेत्वा सामिके असामिके करोन्ते दिस्वा, अहो इमे अधम्मिका..."

—(ध० प० १९।१, अ० क० ५२९)

विमानवत्थु[1] तथा उदान[2]-अट्ठकथामें 'केवट्टद्वार' नामक एक और द्वारका वर्णन किया गया है, जिसके बाहर केवटों (मल्लाहों)का गाँव बसा था। उस समय व्यापारके लिये नदियोंका महत्त्व अधिक था। अतः केवट गाँवका एक बड़ा गाँव होना स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार हमको पिटक और उसकी अट्ठकथाओंसे उत्तर, पूर्व, दक्षिण द्वार, तथा केवट्ट-द्वार इन चार दर्वाजोंका पता लगता है। 'सहेट'के ध्वंसावशेष, तथा उसके दर्वाजोंका विस्तृत वर्णन डाक्टर फोगलने १९०७-८ के पुरातत्त्व-विभागके विवरणमें विस्तार-पूर्वक किया है। वहाँ, उन्होंने महेट (श्रावस्ती)का घेरा १७,२५० फीट या ३$\frac{1}{4}$ मीलसे कुछ अधिक लिखा है। यद्यपि श्रावस्ती नगर ईसाकी बारहवीं शताब्दीमें मुसलमानों द्वारा वीरान किया गया और इसलिये ईसा पूर्व छठी शताब्दीसे बारहवीं शताब्दीके बीचकी अठारह शताब्दियोंमें हेर फेर होना बहुत स्वाभाविक है; तथापि इतना हम कह सकते हैं कि कोसल-राज्यके पतन (प्रायः ईसा पूर्व ४ या ५ शताब्दी)के बाद फिर उसे किसी बड़े राज्यकी राजधानी बनाने का मौका न मिला। पाँचवीं शताब्दीके आरम्भमें फाहियानने भी इसे दो सौ घरोंका गाँव देखा था। युन्-च्वेङने भी इसे उजाड़ देखा। इसलिये इतना कहा जा सकता है कि श्रावस्तीकी सीमा-वृद्धिका कभी मौका नहीं आया; और वर्तमान 'महेट'का १७,२५० फीटका घेरा श्रावस्तीकी पुरानी सीमाको बढ़ाकर नहीं सूचित करता है।

श्रावस्ती भारतके बहुत ही पुराने नगरोंमेंसे है; इसलिये उसके

---

[1] "केवट्टद्वारा निक्खम्म अहु मय्हं निवेसनं।"

—(वि० व० २:२)

[2] "सावत्थिनगरद्वारे केवट्टगामे...पञ्चकुलसतजेट्ठकस्स केवट्टस्स पुत्तो...यसोजो...।"

—(उदान० ३।३, अ० क० ११९)

भीतर नियमपूर्वक खुदाई होनेसे अवश्य हमें बहुतसी ऐतिहासिक सामग्री हाथ लगेगी। हम पटनामें मौर्योंका तल, वर्तमान धरातलसे १७ फुट नीचे पाते हैं। श्रावस्तीमें भी बुद्धकालीन सामग्रीके लिये हमें उतना नीचे जाना पड़ेगा। डाक्टर फोगलने प्राकारोंके अनेक स्थानोंपर ईंटें पाई हैं, जो तल और लम्बाई-चौड़ाईके विचारसे ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीसे ईस्वी दशवीं शताब्दी तककी मालूम होती हैं। महेटके प्राकारमें जहाँ कहीं भी जमीन कुछ नीची जान पड़ती है, लोग उसे दर्वाजा कहते हैं, और ये आसपासके किसी वृक्ष या गाँवके नामसे मशहूर हैं। ऐसे दर्वाजे अट्ठाइसके करीब हैं। डाक्टर फोगलने इनकी परीक्षा करके इनमेंसे ग्यारहको ही दर्वाजा माना है, जिनमें उत्तर तरफ एक, पूर्व तरफ एक, दक्षिण तरफ चार, और पश्चिम तरफ पाँच हैं। इनमेंसे कौन त्रिपिटक और अट्ठकथामें वर्णित चारों दर्वाजे हो सकते हैं, इस पर ज़रा विचार करना है।

उत्तर द्वार

ऊपरके उद्धरणसे मालूम होता है कि जब बुद्ध उत्तर दर्वाजेकी तरफ जाते थे तो लोग समझ लेते थे कि अब वे विचरणके लिये जा रहे हैं। इतना ही नहीं, वहाँ[1] ही हम भद्दियके लिये प्रस्थान करते हुए उन्हें उत्तर द्वारकी ओर जाते हुए देखते हैं। पर 'भद्दिया' अंगदेशमें (गंगाके तटपर मुंगेरके आसपास) एक प्रसिद्ध व्यापारी नगर था। श्रावस्तीसे पूर्व की ओर जानेवाला मार्ग उत्तर द्वारसे था। इसके बाहर अचिरवतीनें[2]

---

[1] "अथेकदिवसं सत्था... भद्दियनगरे... भद्दियस्स नाम सेट्ठिपुत्तस्स उपनिस्सयसम्पत्तिं दिस्वा... उत्तरद्वाराभिमुखो अहोसि।"
—(ध० प० ४१८, अ० क० २८०)

[2] "तेन खो पन समयेन मनुस्सा उलुम्पं बन्धित्वा अचिरवतिया नदिया ओसादेन्ति। बन्धने छिन्ने कट्ठानि विप्पकिण्णानि अगमंसु।"
—(पाराजिक २। पृ० ६८)

काठकी डोंगियोंका पुल रहता था। इससे पार होकर पूर्वका रास्ता था। उत्तर तरफके दर्वाजोंमें सिर्फ नौसहरा[१] ही एक दर्वाजा है, जिसे डाक्टर फोगलके अन्वेषणने पुराना दर्वाजा सिद्ध किया है। वाजार-दर्वाजेसे, जिसे हम दक्षिण दर्वाजा सिद्ध करेंगे, कच्ची कुटीतक चौड़ी सड़कका निशान अब भी स्पष्ट मालूम होता है। यही नगरकी सर्वप्रधान सड़क थी। दक्षिण दर्वाजेका वाजार-दर्वाजा नाम भी सम्भवतः कुछ अर्थ रखता है। कच्ची कुटीके पाससे एक रास्ता नौसहरा-दर्वाजेको भी जाता है। नौसहरा-दर्वाजा ही श्रावस्तीका उत्तर द्वार है, जिसके वाहर एक गाँव बसा हुआ था। सड़कके किनारे वाले भागपर कहीं राजकचहरी थी, जिसमें वर्षासे वचनेके लिये भिक्षु चले गये थे, और वहाँ उन्होंने जजोंको घूस लेकर मालिकोंको वेनालिक वनाते देखा।

पूर्वदर्वाजा

यह वहुतही महत्त्वपूर्ण दर्वाजा था। इसके ही वाहर पूर्वाराम था। पूर्वाराम वहुत ही प्रसिद्ध स्थान था, इसलिये उस जगह स्तूप आदिके ध्वंस अवश्य मिलने चाहियें। गंगापुर-दर्वाजेको ही डाक्टर फोगलने पूर्व तरफमें वास्तविक दर्वाजा माना है। इसके अतिरिक्त काँदभारी-दर्वाजा भी पूर्व-दक्षिण कोनेपर है, जिसे भी पूर्व ओर लिया जा सकता है; लेकिन (१) हमने ऊपर देख लिया है कि आनन्दको राजा प्रसेनजित्‌ने पूर्व दर्वाजेके वाहर देखा था, जहाँसे अचिरवती विलकुल पास थी। काँदभारीके स्वीकार करनेसे वह दूर पड़ जायगी। (२) भगवान् वुद्ध सदाही दक्षिण दर्वाजेसे नगरमें प्रवेश कर, फिर पूर्व दर्वाजेसे निकलकर पूर्वाराम जाते देखे जाते हैं। यदि

---

[१] "Along the river face,.....only one.....Nausahra Darwaza...has proved to be one of the original City-gates."

काँदभारी-दर्वाजा पूर्व दर्वाजा होता, तो जेतवनसे बाहरही बाहर पूर्वाराम जाया जा सकता था, जिसका कहीं जिक्र नहीं है। (३) पुब्बकोट्ठक[1] जो कि अचिरवतीके पास था, वह पूर्वारामके भी पास था, क्योंकि भगवान् सायंकालको स्नानके लिये वहाँ जाते हैं। पासमें रम्यक ब्राह्मणके आश्रममें व्याख्यान भी देते हैं, और फिर पूर्वाराम लौट भी आते हैं।

लेकिन इसके विरुद्ध सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि गंगापुर-दर्वाजेके बाहर आसपास कोई ऐसा ध्वंसावशेष डाक्टर फोगलके नकशेमें नहीं दिखाई पड़ता। साथ ही काँदभारी-दर्वाजेके बाहर ही हम हनुमनवाँके ध्वंसावशेषको देखते हैं। स्थानको देखनेपर कांदभारी-दर्वाजा ही पूर्व दर्वाजा, तथा हनुमनवाँ पूर्वाराम मालूम होता है।

दक्षिणद्वार

दक्षिणद्वार नगरका एक प्रधान द्वार था। जेतवन जानेका यही रास्ता था। दर्वाजे और जेतवनके बीचमें अक्सर राजकीय सेनाएँ[2] पड़ाव डालती थीं। कारवाँ[3] भी इसी बीचकी भूमिमें ठहरते थे। यही

---

[1] पिंडपातपटिक्कन्तो....येन पुब्बारामो तेनुपसङ्कमि।....सायन्हसमयं पटिसल्लाणा वुट्ठितो....येन पुब्बकोट्ठको....गत्तानिपरिसिञ्चितुं....। अथ....आनन्दो अयं भन्ते, रम्मकस्स ब्राह्मणस्स अस्समो अविदूरे,....साधु भन्ते....उपसंकमतु अनुकम्पं उपादायाति।....भगवा....अस्समं पविसित्वा....भिक्खू आमन्तेसि।"

—(म० नि० १।३।६)

[2] "एकस्मिं समये वस्सकाले कोसलरञ्ञो पच्चन्तो कुप्पि।....। राजा अकाले वस्सन्ते येव निक्खमित्वा जेतवनसमीपे खन्धावारं बन्धित्वा चिन्तेसि"। —(जा० १७६, पृ० ४२९)

[3] "सेतव्यवासिनो हि....भातरो कुटुम्बिका....अथेकस्मिं समये ते

दर्वाजा साकेत (अयोध्या) जानेका भी था। दक्षिण द्वार और जेतवन[1] के मध्यमें एक जलाशयका वर्णन मिलता है। तमाशे[2] के लिये भी यही जगह निश्चित थी। श्वेताम्बी कपिलवस्तुके रास्तेमें थी, इसलिये वहाँसे श्रावस्ती आनेमें उत्तरद्वारके सामने नदी उतरना पड़ता था; फिर गाड़ियोंका नगरके दक्षिणमें ठहरना वतलाता है कि श्रावस्ती और जेतवनके बीचकी भूमिमें खुली जगह थी, जो पड़ावके लिये सुरक्षित थी। वैतारा ताल तथा और भी कुछ नीची भूमि, सम्भवतः पुराने जलाशयोंको सूचित करती है। सवाल यह है कि कौनसा प्रसिद्ध दक्षिणद्वार है, जिससे जेतवनमें आना-जाना होता था। डाक्टर फोगलके अनुसार गेलही-दर्वाजा ही वह हो सकता है, क्योंकि यह दर्वाजा सबसे नजदीक है। किन्तु उसके दर्वाजा न होनेमें एक वड़ी भारी रुकावट यह है कि जेतवनका दर्वाजा पूर्वमुख था। यदि गेलही-दर्वाजा उस समय दर्वाजा होता, तो उसके लिये जेतवनका दर्वाजा उत्तर मुँहका बनाना पड़ता। यद्यपि चीनी यात्रीके अनुसार एक दर्वाजा उत्तरको था, किन्तु पालीग्रन्थोंमें उसका कुछ भी पता नहीं है। इस प्रकार दक्षिणद्वार

उभोपि भातरो पञ्चहि सकटसतेहि नाना भण्डं गहेत्वा सावत्थिं गन्त्वा सावत्थिया च जेतवनस्स च अन्तरे सकटानि मोचयिंसु।"

—(ध. प. १.६ अ. क. ३३)

[1] "तेन खो पन समयेन सम्बहुला कुमारका अन्तरा च सावत्थिं अन्तरा च जेतवनं मच्छके बाधेन्ति।....भगवा पुब्बण्हसमयं.... सावत्थियं पिंडाय पाविसि।......उपसंकमित्वा—भायथ तुम्हे कुमारका दुक्खस्स" (मग्गसमीपे तलाके निदाघकाले उदके परिक्खीणे....।)

—(उदान० ५।४, पृ० १९६)

[2]......(चन्दाभत्थेरो, सहायको च)....एवं अनुविचरन्ता सावत्थियं अनुप्पत्ता नगरस्स च विहारस्स च अन्तरा वासं गण्हिंसु।"

—(ध० प० २६।३०, अ० क० ६७०)

वैतारा और बाजार-दर्वाजा दोनोंहीमेंसे कोई हो सकता है। पालीग्रन्थोंमें जेतवन श्रावस्ती (दक्षिणद्वार)से न बहुत दूर था न बहुत समीप, यही मिलता है। गेलहीं-दर्वाजेसे जेतवन १३८६ फीट या चौथाई मीलसे कुछ अधिक है। अट्ठकथासे मालूम होता है कि लोग जेतवन जाते वक्त नगरकी बड़ी सड़कसे [1] जाते थे। दूसरी जगह हम देखते हैं कि श्रावस्ती जानेवाली सड़क जेतवनसे पूर्व होकर जाती थी। इन सारी बातोंपर विचार करनेसे गेलहीं-दर्वाजा दक्षिणद्वार नहीं, बाजार-दर्वाजाही हो सकता है क्योंकि इससे जेतवनके पूर्वमुख होनेकी भी वजह मालूम हो सकती है। बाजार-दर्वाजा दक्षिण द्वार होनेके लायक है, इसके बारेमें डाक्टर फोगल लिखते हैं [2]—"यह १२ फुट चौड़ा मार्ग एक ऐसे बड़े मार्गपर जाकर समाप्त होता है जो सीधे उत्तरकी ओर जाकर 'कच्ची कुटी'के भग्नावशेषके दक्षिणपूर्वमें स्थित एक मैदानमें मिल जाता है। बाजार-दर्वाजा वस्तुतः किसी पुराने नगर-द्वारके ही स्थान पर है ऐसा माननेके लिये सबल कारण है क्योंकि यहीं से एक बड़ी सड़क या बाजारका आरम्भ होता है।"

इस प्रकार बाजार-दर्वाजा एक पुराना दर्वाजा सिद्ध होता है, तथा उसकी सड़क उपरोक्त महावीथी होने लायक है। इसके विरुद्ध वैतारा-दर्वाजेके बारेमें डा० फोगलका कहना है कि इमारतोंके ध्वंसावशेषकी अनुपस्थितिमें इस स्थानपर किसी फाटकके अस्तित्वका सिद्ध करना असम्भव है। इस तरह वैतारा-दर्वाजेके दर्वाजा होनेमें भी सन्देह है। तिन्दुकाचीर मल्लिकाराम [3] दक्षिणद्वारके पास था। बाजार-दर्वाजेसे प्रायः

---

[1] "सो एक दिवसम्हि पासादवरगतो सिहपञ्जरं उग्घाटेत्वा महावीथिय ओलोकेन्तो गन्धमालादिहत्थं महाजनं धम्मसवनत्थाय जेतवनं गच्छन्तं दिस्वा......" —(सुवण्णसामजातक ५३९)

[2] Archæological Report, 1907-8.

[3] "भगवा....जेतवने....। पोट्ठपादो परिब्बाजको समयप्पवादके,

दो सौ गज पूर्व तरफ अब भी एक ध्वंसावशेष है; इसपर एक छोटा सा मन्दिर चीरेनाथके नामसे विख्यात है। क्या इस चीरेनाथका 'तिन्दुका-चीरे' के चीरेसे तो कोई सम्बन्ध नहीं है? इस प्रकार बाजार-दर्वाजा ही दक्षिणद्वार मालूम होता है, जहाँसे जेतवनद्वार ३७०० फीट पड़ेगा जो कि गेलहो-दर्वाजे (१३८६')की अपेक्षा अधिक तथा युन्-च्वेङ्के ५,६ (फाहियान—६,७)ली के समीप है।

केवट्टद्वार

केवटद्वारके बारेमें हम सिर्फ इतना ही जानते हैं कि उसके बाहर पाँच सौ घर मल्लाहोंका एक गाँव (केवट्ट गाम) बसता था। मल्लाहोंका गाँव नदीके समीप होना आवश्यक है। अचिरवतीकी तरफ नगरका प्रधान द्वार उत्तर-द्वार था। उत्तर-द्वारका ही दूसरा नाम केवट्टद्वार था इसके माननेके लिये हमें कोई कारण नहीं मिलता। तब यह दर्वाजा सम्भवतः राजगढ़दर्वाजा था, जो कि महेटके पूर्व-उत्तर कोनेपर नदीके समीप पड़ता है।

श्रावस्ती नगरके भीतरकी वस्तुओंमें राजकाराम, राजप्रासाद, अनाथपिंडक और विशाखाके घर, राजकचहरी, बाजार यह मुख्य स्थान हैं; जिनका थोड़ा बहुत वर्णन हमें अट्ठकथाओं और त्रिपिटकसे मिलता है।

तिन्दुकाचीरे एकसालके मल्लिकाय आरामे पटिवसति....सद्धिं तिसमत्तेहि परिब्बाजकसतेहि। भगवा.....सावत्थिं पिण्डाय पाविसि।.....अतिप्पगो खो ताव,....पिण्डाय चरितुं, यन्नूनाहं....येन पोट्ठपादो परिब्बाजको तेनुपसंकमेय्यन्ति।"

—(दी० नि० १।९)

"नगरद्वारसमीपं गन्त्वा अत्तनो रुचिवसेन सुरियं ओलोकेत्वा....

—(अ० क० २३९)

राजकाराम

यह भिक्षुणियोंकाआराम था। इसके बनानेके बारेमें धम्मप कथामें[1] इस प्रकार कहा गया है—"बौद्ध भिक्षुणियोंमें सर्वश्रेष्ठ उत्प एक समय चारिकाके बाद अन्धवनमें वास कर रही थी। उस सम भिक्षुणियोंके लिये अरण्यवास निषिद्ध नहीं ठहराया गया था।... उत्पलवर्णापर आसक्त उसके मामाके लड़के नन्दने उसपर बलात्कार ि भगवान्‌ने इसपर राजा प्रसेनजित्‌से नगरके भीतर भिक्षुणीसंघके निवास-स्थान बनानेको कहा। राजाने नगरमें एक तरफ आराम दिया। इसके बाद भिक्षुणियाँ नगरके भीतर ही वास करती थीं।" मि निकायमें—"महाप्रजापति गौतमीने पाँच सौ भिक्षुणियोंकी जमातके जेतवनमें[2] जाकर भगवान्‌से भिक्षुणियोंको उपदेश देनेके लिये प्रार्थना

---

[1] "उप्पलवण्णा......जनपदचारिकं चरित्त्वा पच्चागता ३ वनं पाविसि। तदा भिक्खुणीनं अरञ्ञवासो अपटिक्खित्तो हो अथ'स्सा तत्थ कुटिकं कत्त्वा मञ्चकं पञ्ञापेत्त्वा साणिया परिक्खि ......मातुलपुत्तो पनस्सा नन्दमाणवो....अभिभवित्त्वा अत्तना पा तकम्मं कत्वा पायासि।....सो पठविं पविट्ठो।......सत्था राजानं पसेनदिकोसलं पक्कोसापेत्त्वा....भिक्खुणीसङ्घस्स अन्तोन वसनट्ठानं कातुं वट्टतीति। राजा....नगरस्स एकपस्से भिक्खु संघस्स वसनट्ठानं कारापेसि। ततो पट्ठाय भिक्खुनियो अन्तो गामे वसन्ति।" —(ध० प० ५।१०, अ० क० २३७–२३९

[2] "जेतवने......महापजापती गोतमी पञ्चमत्तेहि भिक्खुनीसते सद्धिं........उपसङ्कमित्वा......अवोच—ओवदतु भन्ते भगव भिक्खुनियो......। भगवा आयस्मन्तं नन्दकं आमन्तेसि—ओ नन्दक, भिक्खुनियो।····। अथ......नन्दको....येन राजकारा तेनु'पसंकमि। —(म० नि० ३।५।४)

भगवान्‌ने इसपर आयुष्मान् नन्दकको उपदेश देनेके लिये राजकाराम भेजा। अट्ठकथामें[1] राजकारामके वारेमें इस प्रकार लिखा है—'राजा प्रसेनजित्‌का वनवाया, नगरके दक्षिणकोणमें (अनुराधपुरके) थूपारामके समान स्थानपर विहार।' इस आरामका नगरके दक्षिणी किनारेपर होना स्पष्ट है। साथ ही यह दक्षिणद्वारसे वहुत दूर नहीं था, क्योंकि हम आनन्दको भिक्षुणियोंके आश्रममें जाकर उन्हें उपदेश देकर, पीछे पिण्डपातके लिये जाते देखते हैं[2]।

अव हमें यह देखना है कि राजकाराम वाजार-दर्वाजेसे किधर हो सकता है। नक्शेके देखनेसे मालूम होगा कि वैतारा-दर्वाजेसे इमली-दर्वाजेतक प्राकारकी जड़में, नगरके भीतरकी तरफ मन्दिरोंकी जगह है। इसमें पश्चिमका भाग जैन मन्दिरों द्वारा भरा हुआ है और पूर्वीय भाग ब्राह्मण मन्दिरों द्वारा। मालूम होता है ब्राह्मण मन्दिरके पूर्व, प्राकारसे सटा ही, राजकाराम था, जिसमें महाप्रजापती गौतमी अपनी भिक्षुणियोंके साथ रहा करती थीं। यून-च्वेङ्गने राजा प्रसेनजित्‌का वनवाया हाल, और प्रजापती भिक्षुणीका विहार अलग अलग वर्णन किया है; किन्तु पाली ग्रन्थोंमें नगरके भीतर राजा प्रसेनजित् द्वारा वनवाया भिक्षुणियोंका आराम ही आता है, जिसे राजकाराम कहते थे।

अनाथपिण्डकका घर

इसमें सन्देह नहीं कि वाजार-दर्वाजेसे उत्तर-दक्षिण जानेवाली सड़क श्रावस्तीकी महावीथी (सवसे वड़ी सड़क) थी। यह विस्तृत सड़क सीधी

---

[1] "पसेनदिना कारितो नगरस्स दक्खिणानुदिसाभागे थूपारामसदिसे ठाने विहारो....। —(अ० क० १०२१)

[2] आयस्मा आनन्दो पुब्बण्हसमयं......येन'ञ्ञतरो भिक्खुन'पस्सयो तेनु'पसंकमि। ....भिक्खुनियो धम्मिया कथाय सन्दस्सेत्वा ......उट्ठायासना पक्कामि......सावत्थियं पिण्डाय

(स० नि० ४६।१।१०)

नगरके उत्तरी भागतक चली गई है। झाड़ियोंसे रहित इस मार्गकी अगल-बगलकी सीमाएँ अबतक स्पष्ट हैं। नगरका बाजार और बड़े बड़े धनिकोंका घर इसीके किनारेपर होना भी स्वाभाविक है। इस प्रकार अनाथपिंडकके घरको भी इसीके किनारे ढूँढ़ना पड़ेगा। धम्मपद-अट्ठकथासे मालूम होता है कि अनाथपिंडकका[1] घर ऐसे भागपर था, जहाँसे पूर्व और उत्तर दर्वाजोंको रास्ता अलग होता था। अनाथपिंडकके घरसे ही उत्तर दर्वाजे[2]की तरफ होने को, विशाखा तभी जान सकती थी, जब कि वहाँसे सीधा रास्ता उत्तर दर्वाजेको गया हो। ऐसा स्थान कच्ची कुटी ही है; जो महावीथीके उस स्थानपर अवस्थित है, जहाँसे एक रास्ता नौसहरा-दर्वाजे (उत्तर-द्वार) को मुड़ा है। यून्-च्वेङ्ने प्रजापतीके विहारसे इसे पूर्व ओर बतलाया है; लेकिन उसके साथ इसकी संगति बैठानेका कोई उपाय नहीं है, जब कि राजकारामका दक्षिण द्वारके पास प्राकारकी जड़में होना निश्चित है। अनाथपिण्डकका घर सात महल और सात दर्वाजोंका था। जातकमें[3] उसके चौथे दर्वाजेका भी जिक्र आया है, जिसपर एक देवताका वास था।

---

१ "घरं सत्तभूमकं सत्तद्वारकोट्ठकपतिमण्डितं, तस्स चतुत्थे द्वारकोट्ठके एका देवता....।—(जातक० १, पृ० १९७)

२ "अनाथपिंडिकस्स गेहे भत्तकिच्चं कत्वा उत्तरद्वाराभिमुखो अहोसि। पकतियापि सत्था विसाखाय गेहे भिक्खं गण्हित्वा दक्खिणद्वारेन निक्खमित्वा जेतवने वसति। अनाथपिण्डिकस्स गेहे भिक्खं गहेत्वा पाचीनद्वारेन निक्खमित्वा पुब्बारामे वसति। उत्तरद्वारं सन्धाय गच्छन्तं....विसाखापि......सुत्वा......गन्त्वा......"।

—(ध० प० ४१९, अ० क० २००)

३ १४२ "अनाथपिण्डिकस्स घरे चतुत्थे द्वारकोट्ठके वसनक मिच्छादिट्ठिदेवता।......

—(जातक २८४, पृ० ६४९)

विशाखाका घर

विशाखाका श्वशुर मिगार सेठ श्रावस्तीके सबसे बड़े धनियोंमें था। इसका भी मकान अनाथपिण्डकके मकानके पासमें ही था। क्योंकि ऊपरके उद्धरणमें हम पाते हैं कि भगवान्के अनाथपिण्डकके घरसे उत्तरद्वारकी ओर जानेकी खबर तुरन्त विशाखाको लग गई। सम्भवतः पक्की कुटी या स्तूप "ए" विशाखाके घरको चिन्हित करते हैं।

राजमहल

यह (१) अचिरवती नदीके किनारे था क्योंकि राजा प्रसेनजित् और मल्लिका देवीने अपने कोठेपरसे अचिरवतीमें खेलते-नहाते हुए छवग्गीय भिक्षुओंको देखा। (२) पुब्बकोट्ठक[1] इससे बहुत दूर न था क्योंकि राजाके नहानेके लिये यहाँ एक खास घाट था। (३) वह[2] विशाखाके घर और पूर्व-द्वारके बीचमें, पूर्वद्वारके समीप पड़ता था, क्योंकि विशाखा राजाके पास वहाँ अधिक चुङ्गी लेनेके विषयमें फरियाद करने जाती है, फिर वहाँसे दूर न होनेकी वजह पूर्वाराम चली जाती है; तब भगवान्के मध्याह्नमेंही आनेका

---

[1] "कस्सपदसबलस्सकाले अचिरवती....उदकेन भिन्दित्वा महन्तं उदकदहं मापेसि समतित्थं अनुपुब्बगम्भीरं। तत्थ एको रञ्ञो नहान-तित्थं, एकं नागरानं, एकं भिक्खुसंघस्स, एकं बुद्धानन्ति....।"

—(म० नि० १।३।६, अ० क० ३७१)

[2] "विसाखाय....कोचिदेव अत्थो रञ्ञो पसेनदिम्हि....पटिबद्धो होति। तं राजा पसेनदि....न यथाधिप्पायं तीरेति। अथ खो विसाखा ....दिवादिवस्स उपसंकमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा....निसीदि।... हन्त! कुतो नु त्वं विसाखे आगच्छसि दिवादिवस्स?"

—(उदान० २।९)

कारण पूछनेपर वह राजदर्वारके कामको बतलाती है। विशाखाका घर महा-वीथीपर अनाथपिण्डकके घरके पासही था, यह हम पहले बतला आये हैं।
(४) राजा प्रसेनजित्‌के हाथीपर सवार होकर नगरसे बाहर जाते वक्त आनन्दसे पूर्वद्वारके बाहर भेंट होना भी बतलाता है कि राजमहल पूर्व-द्वारके समीप था। राजाकी यह यात्रा किसी विशेष कामके लिये न थी, अन्यथा उसे आनन्दसे अचिरवतीके किनारे पेड़के नीचे बैठकर व्याख्यान सुननेकी फुर्सत कहाँ होती ? बिना कामके दिलबहलावके लिये नगरसे बाहर निकलनेमें उसका महलके नजदीक वाले दर्वाजेसे ही शहरके बाहर जाना अधिक सम्भव मालूम होता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे मालूम होता है कि राजकीय प्रासाद उत्तरमें नौसहरा-दर्वाजेसे बाँकीदर्वाजे तक, और दक्षिणमें महावीथीके मकानसे गङ्गापुर-दर्वाजे तक था। युन्-च्वेङ्का[२] कहना है—"राजप्रासादसे थोड़ीही दूर पूर्वकी ओर एक स्तूप है जो पुरानी बुनियादों पर खड़ा है। यह वह स्थान है जहाँ राजा प्रसेनजित् द्वारा बुद्धके उपयोगके लिये बनवायी हुई शाला थी। इसके बाद एक बुर्ज है। यहींपर प्रजापतीका विहार था।" इसके अनुसार राजमहल राजकारामसे पश्चिम था। लेकिन ऐसा स्वीकार करनेपर, वह अचिर-वतीके किनारे नहीं हो सकता, जिसका प्रमाण अट्ठकथासे भी पुराने विनयग्रन्थोंमें मिलता है।

---

[१] "जातिकुलतो....मणिमुत्तादिरचितं भण्डजातं तस्या पण्णाका-रत्थाय पेसितं। तं नगरद्वारप्पत्तं सुङ्किका....सुंकं....अतिरेकं गण्हिंसु। दिवादिवस्साति....मज्झन्तिके कालेति अत्थो। राजनिवेसनद्वारं गच्छन्ती तस्स अत्थस्स अनिट्ठितत्ता निरत्थकमेव उपसङ्कमि, भगवति उपसङ्कमनमेव पन....सत्थकन्ति.... इमाय वेलाय इधागता'ति।

—[उ० अ० क० १०५ (११०)]

[२] *Beal*, *pp.* 92, 93.

कचहरी

हमें मालूम है, कि उत्तर द्वारसे नगरके भीतर होकर आते हुए भिक्षुओं-को 'विनिच्छयसाला' (कचहरी) मिली थी, जहाँ उन्होंने जजोंको घूस लेकर अन्याय करते देखा था। कचहरीका राजकीय महलके हलकेसे मिला हुआ होना अधिक सम्भव प्रतीत होता है। इस प्रकार यह कचहरी राजमहलके उत्तर-पश्चिमके कोणवाले भागपर नौसहरा-दर्वाजेके पास ही होगी।

महावीथी

(१) यह नगरकी प्रधान सड़क थी, यह इसके नामसे स्पष्ट है। (२) सुवण्णसामजातकमें[1] उल्लिखित धनी सेठका मकान, सम्भवतः अन्य सेठोंकी भाँति, इसी महावीथीपर था। यह वीथी जेतवन जानेवाले द्वार—दक्षिणद्वार—को सीधी जाती थी, तभी तो वह सेठ अपने मकानसे लोगोंको गन्धमाला लेकर भगवान्‌के दर्शनार्थ जाते हुए देखकर उनका जेतवन जाना निश्चित कर रहा है। (३) अनाथपिण्डकके मकानसे निकलते ही मालूम हो जाता था, कि भगवान् पूर्व दर्वाजेको जा रहे हैं, या उत्तरवाले दर्वाजेको। दक्षिणदर्वाजेको जानेवाली वीथी हमें मालूम ही है, जिसकी विशेषता इस समय भी स्पष्ट है। इस प्रकार दक्षिण(बाजार)दर्वाजेसे उत्तर मुँहको जो चौड़ी सड़कसी हमें मालूम पड़ रही है, यही महावीथी है; जिसके बारेमें कि डा० फोगलने सर्वे रिपोर्टमें[2] लिखा है।

---

[1] "सावत्थियं किर अट्ठारसकोटिविभवस्स एकस्स सेट्ठिकुलस्स एकपुत्तो अहोसि। सो एकदिवसम्हि पासादवरगतो सीहपञ्जरं उग्घाटेत्वा महावीथियं ओलोकेन्तो गन्धमालादिहत्थं महाजनं धम्मस्सवनत्थाय जेतवनं गच्छन्तं दिस्वा....।

—(सुवण्णसामजातक ५३९)

[2] "A Passage 12′ wide which gives access to a

दक्षिण दर्वाजेका बाजार-दर्वाजा नाम भी इस विषयमें खास अर्थ रखता है।

गण्डम्बरुक्ख

यद्यपि भगवान्‌के समयमें इस आमके[1] वृक्षका होना सम्भव नहीं है, किन्तु, परवर्ती कालमें इसका अधिक महत्त्व पाया जाना बिल्कुल निश्चित है। ५२२ ई० पू०की आषाढ़ी पूर्णिमाके दिन नगरमें प्रवेश करनेपर, कहते हैं, गण्ड उद्यानपालने एक पका आम भगवान्‌को दिया। भगवान्‌ने खाकर उसे वहीं रोपवा दिया, और उनकी अद्‌भुत शक्तिसे वह उसी समय बड़ा वृक्ष हो गया। कुछ भी हो, परवर्तीकालमें बाजार-दर्वाजेके अन्दर बाजारके घरोंसे पहिलेही, अर्थात् दर्वाजेसे थोड़ाही आगे एक आमका

---

broad path leading almost due north and widening out into a glade, which is situated south-east of the ruined temple known as the Kachhikuti,········ the Bazar Darwaza it seems to be the starting point of a broad street or bazar·····"

A. S. R., 1907-8, p. 86

[1] "सत्था आसाळ्हिपुण्णमदिवसे अन्तोनगरं पाविसि। रञ्ञो उय्यानपालो गण्डो नाम. . . .अम्बपक्कं. . . . . .आदाय गच्छन्तो अन्तरा-मग्गे सत्थारं दिस्वा चिन्तेसि—राजा इमं अम्बं खादित्वा मय्हं अट्ठ वा सोलस वा कहापणे ददेय्य।. . . .सो तं अम्बं सत्थु उपनामेसि।. . . . सत्था. . . .अम्बपानकंपिवित्वा गण्डं आह—इमं अम्बट्ठिं इधेव. . . . . . रोपेहीति।. . . .हत्थे धोतमत्ते येव. . . .पण्णासहत्थो अम्बरुक्खो. . . . पुप्फफलसंछन्नो हुत्वा. . . . . .।"

—(ध० प० १४२, अ० क० ४४८)

वृक्ष था, जो इस प्रकारके चमत्कारका स्मारक था। इस स्थानपर भी कोई स्तूप अवश्य रहा होगा। सम्भवतः यह वृक्ष महावीर्यासे राजकाराम जानेवाले मोड़पर ही था।

पञ्चछिद्दकगेह, ब्राह्मणवाटक

पञ्चछिद्दकगेह भी एक बड़े चमत्कारका स्थान है। चमत्कारिक स्थानोंके लिये जनताका अधिक उत्साह सभी धर्मोंमें देखा जाता है। इसका 'पञ्चछिद्दकगेह' नाम कैसे पड़ा, यह अट्ठकथा[1]में दिया गया है। यद्यपि ऐसे किसी स्थानका वर्णन फाहियान और युन्-च्वेङमेंसे किसीने नहीं किया है; तोभी यह स्थविरवादियोंकी पुरानी परम्परापर अवलम्बित है। युन्च्वेङके समयमें भी श्रावस्ती और उसके आसपासके विहार साम्मितीय सम्प्रदायके भिक्षुओंके आधीन थे जो कि हीनयानी थे, और महायानकी अपेक्षा विभज्जवाद (स्थविरवाद)से बहुत मिलतेजुलते थे। वस्तुतः युन्-च्वेङका वर्णन श्रावस्तीके विषयमें अत्यन्त संक्षिप्त

---

[1] "एका किर ब्राह्मणी चतुन्नं भिक्खूनं उद्देसभत्तं सज्जेत्वा ब्राह्मणं आह—विहारं गन्त्वा चत्तारो महल्लकब्राह्मणे उद्दिसित्वा आनेहीति। ....। तत्थ संकिच्चो, पण्डितो, सोपाको, रेवतोति सत्तवस्सिका चत्तारो खीणासवसामणेरा पापुणिंसु। ब्राह्मणी सामणेरे दिस्वा कुपिता। अथ तेसं गुणतेजेन (सक्को) जराजिण्णमहल्लकब्राह्मणो हुत्वा तस्मिं ब्राह्मण-वाटके ब्राह्मणानं अग्गासने निसीदि। ब्राह्मणो....तं आदाय गेहं अगमासि। ....पञ्च' पि जना आहारं गहेत्वा एको कण्णिकामंडलं विनिविज्झित्वा एको छदनस्स पुरिमभागं एको पच्छिमभागं एको पठविया निमुज्जित्वा सक्कोपि एकेन ठानेन निक्खमित्वाति एवं पञ्चधा अगमंसु। ततो पट्ठाय च पन तं गेहं पञ्चछिद्दकगेहं किर नाम जातं।"

—(ध० प० २६।२३, अ० क० ६६३, ६६४)

है, इसलिये पञ्चछिद्रगेहका छूट जाना स्वाभाविक है। कथा यों है—"एक ब्राह्मणीने बड़े स्थविरोंको निमन्त्रित किया। सात वर्षके लड़कों-को आया देखकर ब्राह्मणी असन्तुष्ट हुई। फिर उसने अपने पतिको ब्राह्मणवाटसे ब्राह्मण लेनेको भेजा। उन श्रामणेरोंके तपोबलसे शक्र वृद्ध ब्राह्मणका रूप धारण कर ब्राह्मणवाटमें ब्राह्मणोंके बीच अग्रासनपर जाकर बैठ गया। ब्राह्मण शक्रको लेकर घर लौटा। चार श्रामणेर और शक्र भोजन कर पाँच ओरसे निकल गये। श्रामणेरोंमेंसे एक कोनियामें घुसकर निकल गया; एक छाजनके पूर्व भागमें, एक पश्चिम भागमें और एक पृथ्वीमें शक्र भी किसी स्थानसे बाहर चला गया। उस दिनसे उस घरका नाम पञ्चछिद्रकगेह पड़ गया।" यह ब्राह्मणवाट शायद श्रावस्तीमें ब्राह्मणोंका कोई विशेष पवित्र स्थान था, जहाँ ब्राह्मण इकट्ठे हुआ करते थे। घुसुंडी (पुरातन माध्यमिका)के पास के ई० पू० द्वितीय शताब्दीके शिलालेखमें[1] 'नारायणवाट' शब्द आया है। 'यज्ञवाट' भी इसी प्रकारका एक शब्द है। 'वाट' शब्द विशेषकर पवित्र स्थानोंके लिये प्रयुक्त होता था। यह ब्राह्मणवाट कहाँ था, यद्यपि इसके लिये और कोई निश्चित प्रमाण हमारे पास नहीं है, तथापि अनुमान किया जा सकता है, कि यह ब्राह्मणोंके लिये बहुतही पवित्र स्थान रहा होगा। यद्यपि छठी शताब्दी ई० पू० (वि० पू० ४४३–५४२)में यज्ञोंका युग था, अभी मूर्तिपूजा आरम्भ न हुई थी; तोभी मूर्तिपूजाके युगमें इस स्थान की पवित्रताका ख्याल कर अवश्य इसे भी उपयुक्त बनाया गया होगा। हम देख आये हैं, कि श्रावस्तीके दक्षिण दीवारसे सटे हुए बैतारा-दर्वाजेसे शोभनाथ-दर्वाजे तककी भूमि हिन्दू और जैन मन्दिरों-के लिये सुरक्षित थी। भिक्षुणियोंके आराम (राजकाराम)को भी हमने यहीं निश्चित किया है। ऐसी हालतमें राजकाराम और जैन मन्दिरोंके

---

[1] श्री काशीप्रसाद जायसवाल, एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द १६, पृ० २७

बीचकी भूमि, जिसमें कि हिन्दू मन्दिर स्थित हैं, अधिकतर ब्राह्मणवाट होनेके लायक है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपयुक्त स्थान ब्राह्मणवाटके लिये अचिरवतीके किनारेकी तरफ सूर्यकुण्ड या मीरासैयदकी कब्रकी जगहों-पर, ढूँढ़ा जा सकता है।

सड़कें

महावीथीके अतिरिक्त एक ही और सड़क है, जिसका हमें पता है। यह है अनाथपिण्डकके घरसे पूर्वद्वारको जानेवाली।

चुङ्गीकी चौकियाँ

हम देख चुके हैं, कि नगरके दर्वाजोंपर चुङ्गीकी चौकियाँ थीं। चुङ्गी-वालोंने अधिक चुङ्गी ले ली थी, जिसके लिये विशाखाको राजाके पास जाना पड़ा था।

नगरके भीतर सम्बन्ध रखनेवाले स्थानोंमेंसे जिन जिनके विषयमें त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओंमें कुछ आया है, उनका हम वर्णन कर चुके हैं। बाहरवाले स्थानोंमें सबसे प्रधान है जेतवन। उसके बाद पूर्वाराम, समयप्पवादकआराम, अन्धवन, ये तीन स्थान हैं, जिनका वर्णन हमें त्रिपिटक और अट्ठकथामें मिलता है।

(५)

जेतवन

जेतवन श्रावस्तीसे दक्षिण तरफ था; चीनी भिक्षुओंके अनुसार यह प्रायः एक मील (५, ६, ७ ली)के फासले पर था। पुरातत्त्व-विषयक खोजोंसे निश्चित हो चुका है कि **महेटसे** दक्षिण **सहेट** ही जेतवन है। चीनी यात्रियोंके ग्रन्थोंमें हम इसका दर्वाजा पूर्व मुँह देखते हैं। जेतवनकी खुदाई-में जो दो प्रधान इमारतें निकली हैं, जिन्हें गंधकुटी और कोसंबकुटीसे मिलाया गया है, उनका भी द्वार पूर्वको ही है। यह इस बातकी साक्षी देते हैं कि मुख्य द्वार पूर्व तरफ था। नगरसे दक्षिण होनेपर भी प्रधान दर्वाजा उत्तर मुँह न होकर पूर्व मुँह था, इसका कारण यही था कि श्रावस्तीका दक्षिण द्वार वहाँसे पूर्व तरफ पड़ता था। जेतवन बौद्धधर्मके अत्यंत पवित्र स्थानों-मेंसे है। यद्यपि त्रिपिटकके अत्यंत पुरातन भाग **दीघनिकाय** (महापरि-निव्वानसुत्त[1])में जो चार अत्यंत पवित्र स्थान गिनाए गए हैं, उनमें इसका नाम नहीं है; तो भी दीघनिकायकी **अट्ठकथा**[2]में इसे चार 'अविजहित'

---

[1]चत्तारिमानि आनंद ! सद्धस्सकुलपुत्तस्स दस्सनीयानि....ठानानि... इध तथागतो जातोति,....इध तथागतो अनुत्तरं सम्मासम्बोधिं अभिसम्बु-द्धोति,....इध तथागतेन अनुत्तरं धम्मचक्कं पवत्तितन्ति,....इध तथागतो अनुपादिसेसाय निब्बाणधातुया परिनिब्बुतोति...।

—महा० परि० सुत्त, १६

[2]चत्तारि अविजहितट्ठानानि....बोधिपल्लङ्को....। धम्मचक्कप्पवत्तन-ट्ठानं इसिपतने मिगदाये....। देवो रोहणकाले संकस्सनगरद्वारे पठमपद-

स्थानोंमें रखा है। त्रिपिटकमें सुरक्षित बुद्धके उपदेशोंमें सबसे अधिक जेतवनमें हुए हैं। **मज्झिमनिकायके** डेढ़ सौ सुत्तोंमें ६५ जेतवन हीमें कहे गए; संयुक्त और अगुंत्तर निकायमें तो तीन चतुर्थांशसे भी अधिक सुत्त जेतवनमें ही कहे गए हैं। भिक्षुओंके शिक्षापदोंमें भी अधिकतर श्रावस्ती—जेतवनमें ही दिए गए हैं। विनयपिटकके **'परिवार'**ने नगरोंके हिसाबसे उनकी सूची इस प्रकार दी है—

कतमेसु सत्तासु नगरेसु पञ्ञत्ता ।

....

दस वेसालियं पञ्ञत्ता, एकवीसं राजगहे कता ।
छ-ऊन-तीनि सतानि, सब्बे सावत्थियं कता ॥
छ आलवियं पञ्ञत्ता, अट्ठ कोसंबियं कता ।
अट्ठ सक्केसु वुच्चन्ति, तयो भग्गेसु पञ्ञत्ता ॥

—परिवार, गाथासंगणिक ।

अर्थात् साढ़े तीन सौ शिक्षापदोंमें २९४ श्रावस्तीमें ही दिए गए। और परीक्षण करनेपर इनमेंसे थोड़ेसे ही **पूर्वाराममें** और बाकी सभी जेतवन हीमें दिए गए। इसलिये जेतवनका[1] खास स्थान होना ही चाहिये।

विनयपिटकके चुल्लवग्गमें जेतवनके बनाए जानेका इतिहास दिया गया है। विनयपिटककी पाँच पुस्तकें हैं—**पाराजिक, पाचित्ति, महावग्ग, चुल्लवग्ग**

गण्ठि....। जेतवने गन्धकुटिया चत्तारि मञ्चपादट्ठानानि अविजहितानेव होन्ति ।....विहारोपि न विजहति येव....। इदानि नगरं उत्तरतो विहारो दक्खिणतो....।

—दी० नि०, महापदानसुत्त, १४; अ० क० २८२

[1]**इदंहि तं जेतवनं इसिसंघनिसेवितं ।**
आवुट्ठं धम्मराजेन पीतिसंजननं मम ॥

—सं० नि०, १:५:८, २:२:१०

और परिवार। इनमेंसे परिवार तो पहले चारोंका सरल संग्रह मात्र है। संग्रह-समाप्ति ईसाकी प्रथम या द्वितीय शताब्दीमें हुई जान पड़ती है। किंतु बाकी चार उससे पुराने हैं। इनमें भी महावग्ग और चुल्लवग्ग, जिन्हें इकट्ठा 'खंधक' भी कहते हैं, पातिमोक्खको छोड़ विनयपिटकके सबसे पुराने भाग हैं; और इनका प्रायः सभी अंश अशोक (तृतीय संगीति)के समयका मानना चाहिये। चुल्लवग्ग[1]की कथा यों है—

"अनाथपिंडक गृहपति राजगृहके श्रेष्ठीका बहनोई था। एक बार अनाथपिंडक राजगृह गया। उस समय राजगृहके श्रेष्ठीने संघ-सहित बुद्धको निमंत्रित किया था। अनाथपिंडकको बुद्धके दर्शनकी इच्छा हुई। वह अधिक रात रहते ही घरसे निकल पड़ा और सीवद्वारसे होकर सीतवन पहुँचा। उपासक बननेके बाद उसने सावत्थीमें भिक्षु-संघ सहित बुद्धको, वर्षा-वास करनेके लिये, निमंत्रित किया। अनाथपिंडकने श्रावस्ती जाकर चारों ओर नजर दौड़ाई। उसने विचार किया कि भगवान्का विहार ऐसे स्थानमें होना चाहिये, जो ग्रामसे न बहुत दूर और न बहुत समीप हो। जहाँ आने जानेकी आसानी हो, आदमियोंके पहुँचने योग्य हो। जहाँ दिनमें बहुत जमघट न हो और जो रातमें एकांत और ध्यानके अनुकूल हो। अनाथपिंडकने राजकुमार जेतके उद्यानको देखा जो इन लक्षणोंसे युक्त था। उसने राजकुमार जेतसे कहा—आर्यपुत्र! मुझे अपना उद्यान आराम बनानेके लिये दो। राजकुमारने कहा—वह (कहापणोंकी) कोटि(=कोर) लगाकर बिछानेसे भी अदेय है। अनाथपिंडकने कहा—आर्यपुत्र! मैंने आराम ले लिया। बिका या नहीं बिका इसके लिये उन्होंने कानूनके मंत्रियोंसे पूछा। महामात्योंने कहा—आर्यपुत्र! आराम बिक गया, क्योंकि तुमने मोल किया। फिर अनाथ-पिंडकने जेतवनमें कोरसे कोर मिलाकर मोहरें बिछा दीं। एक बारका

---

[1] विनयपिटक सेनासनक्खन्धक, पृ० २५४

लाया हुआ हिरण्य द्वारके कोठेके बराबर थोड़ीसी जगहके लिये काफी न हुआ। गृहपतिने और **हिरण्य** (=अशर्फी) लानेके लिये मनुष्योंको आज्ञा दी। राजकुमार जेतने कहा—बस गृहपति, इस जगहपर मत बिछाओ। यह जगह मुझे दो, यह मेरा दान होगा। गृहपतिने उस जगहको जेत कुमारको दे दिया। जेत कुमारने वहाँ कोठा बनवाया। अनाथपिंडक गृहपतिने जेतवनमें विहार, परिवेण, कोठे, उपस्थानशाला, कप्पिय-कुटी, पाखाना, पेशाबखाना, चंक्रम, चंक्रमणशाला, उदपान, उदपानशाला, जंताघर, जंताघरशाला, पुष्करिणियाँ और मंडप बनवाए। भगवान् धीरे धीरे चारिका करते श्रावस्ती, जेतवनमें पहुँचे। गृहपतिने उन्हें खाद्य भोज्यसे अपने हाथों तर्पितकर, जेतवनको आगत अनागत चातुर्दिश संघके लिये दान किया।"

अनाथपिंडकने 'कोटिसंथारेन" (कार्षापणोंकी कोरसे कोर मिलाकर) इसे खरीदा था। ई० पू० तृतीय शताब्दीके भरहुतके स्तूपमें भी 'कोटिसंठतेन केता' उत्कीर्ण हैं। अतः यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि कार्षापण बिछाकर जेतवन खरीद करनेकी कथा ई० पू० तीसरी शताब्दीमें प्रसिद्ध थी।

पाली ग्रन्थों[1]में जेतवनकी भूमि आठ करीष लिखी है। 'करीसं चतुरम्मणं' पालिकोष **अभिधम्मप्पदीपिका** (१९७) में आता है। डाक्टर **रीस डेविड्सने** 'अम्मण' (सिंहली अमुणु, सं० अर्मण) को प्रायः दो एकड़के बराबर लिखा है। इस प्रकार सारा क्षेत्रफल ६४ एकड़ होगा। श्री दयाराम साहनीने (१९०७-८ की Arch. S. R., p. 117) लिखा है—

"The more conspicuous part of the mound at the present is 1600 feet from the north-east corner to the south-west, and varies in width from 450′ to

[1] देखो उपर्युक्त चुल्लवग्गकी अट्ठकथा।

700', but it formerly extended for several hundred feet further in the eastern direction".

इस हिसाबसे क्षेत्रफल बाईस एकड़ होता है। यद्यपि अठारह करोड़ संख्या संदिग्ध है तो भी इसे कार्पापण मानकर (जिसका ही व्यवहार उस समय अधिक प्रचलित था) देखनेसे भी हमें इस क्षेत्रफलका कुछ अनुमान हो सकता है। पुराने 'पंचमार्क' चौकोर कार्पापणोंकी लंबाई-चौड़ाई यद्यपि एक समान नहीं है, तो भी हम उसे सामान्यतः ·७ इंच ले सकते हैं, इस प्रकार एक कार्पापणसे ·४९ या $\frac{1}{2}$ वर्ग इंच भूमि ढक सकती है, अर्थात् १८ करोड़ कार्पापणोंसे ९ करोड़ वर्ग इंच, जो प्रायः १४·३५ एकड़के होते हैं[1]। आगे चलकर, जैसा कि हम बतलाएँगे, विहार नं० १९ और उसके आस-पासकी भूमि जेतवनकी नहीं है, इस प्रकार क्षेत्रफल १२००'×६००' अर्थात् १४·७ एकड़ रह जाता है, जो १८ करोड़के हिसाब-के समीप है। गंधकुटी जेतवनके प्रायः बीचोबीच थी। खेत न० ४८७ जेतवनकी पुष्करिणी है, क्योंकि नकशा नं० १ का डी० इसीका संकेत करता है। आगे हम बतलाएँगे कि पुष्करिणी जेतवन विहारके दर्वाजेके बाहर थी। पुष्करिणीके बाद पूर्व तरफ जेतवनकी भूमि होनेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती। इस प्रकार गंधकुटीके बीचोबीचसे ४०० फीट पर, पुष्करिणी-की पूर्वीय सीमाके कुछ आगे बढ़कर जेतवनकी पूर्वीय सीमा थी। उतना ही पश्चिम तरफ मान लेनेपर पूर्व-पश्चिमकी चौड़ाई ८००' होगी। लंबाई जाननेके लिये जेतवन खास के विहार नं० ५ (करेरि गंधकुटी)को सीमापर रखना चाहिये। गंधकुटीसे दक्षिण ६८०' उतना ही उत्तर ले लेनेसे लंबाई उत्तर-दक्षिण १३६०' होगी; इस प्रकार सारा क्षेत्रफल

---

[1] दीघनिकाय अट्ठकथा, महापदानसुत्त, २८। "अम्हाकं पण भगवतो पकतिमानेन सोळसकरीसे, राजमानेन अट्ठ करीसे पदेसे विहारो पतिट्ठितोति।"

प्रायः २५ एकड़के होगा। इस परिणामपर पहुँचनेके लिये हमारे पास तीन कारण हैं—(क) गंधकुटी जेतवनके वीचोवीच थी, जेतवन वर्गाकर था, इसके लिये कोई प्रमाण न तो लेखमें है और न भूमिपर ही। इसलिये जेतवनको एक आयत क्षेत्र मानकर हम उसके वीचोवीच गंधकुटीको मान सकते हैं। (ख) गंधकुटीके पूर्व तरफका डी० ही पुष्करिणीका स्थान मालूम होता है, जिसकी पूर्वीय सीमासे जेतवन वहुत दूर नहीं जा सकता। (ग) विहार नं० १९को राजकाराम मान लेनेपर जेतवनकी सीमा विहार नं० ५ तक जा सकती है।

ऊपरके वर्णनसे हम निम्न परिणामपर पहुँचते हैं—

(१) १८ करोड़ कार्षापण विछानेसे १८·३४८ एकड़
(२) साहनीके अनुसार वर्तमानमें २२·२ एकड़ (१६००′×६००′)
(३) उसमेंसे राजकाराम निकाल देनेपर १४·७ ए० (१२००′×६००′)
(४) गंधकुटी, पुष्करिणी, कारेरि कुटीसे २४·९ ए० (१३६०′×८००′)
(५) ८ करीस १, २ (अम्मण–२ एकड़) ६४ एकड़

एक और तरहसे भी इस क्षेत्रफलके वारेमें विचार कर सकते हैं। करीस[1] (संस्कृत खारीक)का परिमाण अभिधानप्पदीपिका और लीलावती-में इस प्रकार दिया है—

४ कुडव या पसत (पसर)	= १ पत्थ	४ कुडव	= प्रस्थ
४ पत्थ	= १ आळ्हक	४ प्रस्थ	= आढक
४ आळ्हक	= १ दोण	४ आढक	= द्रोण

[1] परमत्थजोतिका II, p. 476. "तत्थ वीसतिखारिकोति, मागधकेन पत्थेन चत्तारो पत्था कोसलरट्ठेकपत्थो होति, तेन पत्थेन चत्तारो पत्था आळ्हकं, चत्तारि आळ्हकानि दोणं, चतुदोणं मानिका, चतुमानिकं खारि, ताय खारिया वीसति खारिको तिलवाहोति; तिलसकटं।"

४ दोण = १ माणी

४ माणी = १ खारी १६ द्रोण = खारी

विनयमें ४ कहापणका एक कंस लिखा है। कंसको कर्ष मान लेनेपर यह वजन और भी चौगुना हो जायगा, अर्थात् १६ मनसे भी ऊपर। ऊपरके नाममें २० खारीका एक तिलवाह, अर्थात् तिलों भरी गाड़ी माना है, जो इस हिसाबसे अवश्य ही गाड़ीके लिये असंभव हो जायगा।

सुत्त० नि० अट्ठकथामें कोसलक परिमाण इस प्रकार है।

४ मागधक पत्थ = कोसलक पत्थ

४ को० पत्थ = को० आढ़क

४ को० आ० = को० दोण

४ को० दो० = को० मानिका

४ को० मा० = खारी

२० खारी = १ तिलवाह (=तिलसकट अर्थात् तिल से लदी गाड़ी)

वाचस्पत्यके उद्धरणसे यह भी मालूम होता है कि ४ पल एक कुडवके बराबर है। लीलावतीने पलका मान इस प्रकार दिया है—

५ गुंजा = माष

१६ माष = कर्ष

४ कर्ष = पल

अभिधानप्पदीपिकासे यहाँ भेद पड़ता है—

४ वीहि (व्रीहि) = गुंजा

२ गुंजा = माषक

माषक कर्ष (=कार्षापण)का सोलहवाँ भाग है। विनय[1] में २० मासेका कहापण (=कार्षापण) लिखा है। समंतपासादिका

---

[1] विनयपिटक पाराजिका, २

ने इसपर टीका करते हुए इससे कम वजनवाले रुद्रदामा आदिके कार्षा-पणों का निर्देश किया है तो भी हमें यहाँ उनसे प्रयोजन नहीं। हम इतना जानते हैं कि पुराने पंच-मार्कके कार्षापण सिक्कोंका वजन प्रायः १४६ ग्रेनके बराबर होता है। यही वजन उस समयके कर्षका भी है। आज-कल भारतीय सेर ८० तोलेका है, और तोला १८० ग्रेनके बराबर होता है। इस प्रकार एक मागध खारी आजकलके ४१·८ सेरके बराबर, अर्थात् प्रायः १ मन होगी और कोसलक खारी ४ मनके करीब। करीस-का संस्कृत पर्याय खारीक अर्थात् खारी भर बीजसे बोया जानेवाला खेत (तस्य वापः, **पाणिनि** ५: १: ४५) है। पटनामें पक्के ८ मन तेरह सेर धानसे आजकल १६ एकड़ खेत बोया जा सकता है, इससे भी हमें, जेतवनकी भूमिका परिमाण, एक प्रकारसे, मिलता है।

राजकाराम (सललागार)—अब हमें जेतवनकी सीमाके विषय-में एक बार फिर कुछ बातोंको साफ कर देना है। हमने पीछे कहा था कि विहार नं० १९ जेतवन-खासके भीतर नहीं था। **संयुत्त-निकाय**[1] में आता है—एक बार भगवान् श्रावस्तीके राजकाराममें विहार करते थे। उस समय एक हज़ार भिक्षुणियोंका संघ भगवान्के पास गया। इसपर **अट्ठकथामें** लिखा है—राजा **प्रसेनजित्** द्वारा बनवाए जानेके कारण इसका नाम राजकाराम पड़ा था। बोधिके पहले भाग (५२७१३ ई० पू०) में भगवान्के महान् लाभ-सत्कारको देखकर तीर्थिक लोगोंने सोचा, यह इतनी पूजा शील-समाधिके कारण नहीं है। यह तो इसी भूमिका माहात्म्य है। यदि हम भी जेतवनके पास अपना आराम बना सकें तो हमें भी लाभ-सत्कार प्राप्त होगा। तीर्थिकोंने अपने सेवकोंसे कहकर एक लाख कार्षापण इकट्ठा किया। फिर राजाको घूस देकर जेतवनके

---

[1] **सोतापत्ति-संयुत्तं** IV, Chapter II सहस्सक or राजकाराम-वग्ग V, p. 360

पास तीर्थिकाराम बनवानेकी आज्ञा ले ली। उन्होंने जाकर, खंभे खड़े करते हुए, हल्ला करना शुरू किया। बुद्धने गंधकुटीसे निकलकर बाहरके चबूतरेपर खड़े हो आनंदसे पूछा—ये कौन हैं आनंद! मानो केवट मछली मार रहे हों। आनंदने कहा—तीर्थिक जेतवनके पास-में तीर्थिकाराम बना रहे हैं। आनंद! ये शासनके विरोधी भिक्षु-संघ-के विहारमें गड़बड़ डालेंगे। राजासे कह कर हटा दो। आनंद भिक्षु-संघके साथ राजाके पास पहुँचे। घूस खानेके कारण राजा बाहर न निकला। फिर शास्ताने सारिपुत्त और मोग्गलानको भेजा। राजा उनके भी सामने न आया। दूसरे दिन बुद्ध स्वयं भिक्षु-संघ सहित पहुँचे। भोजनके बाद उपदेश दिया और अंतमें कहा—महाराज! प्रव्रजितोंको आपसमें लड़ाना अच्छा नहीं है। राजाने आदमियोंको भेजकर वहाँसे तीर्थिकोंको निकाल दिया और यह सोचा कि मेरा बनवाया कोई विहार नहीं है, इसलिये इसी स्थानपर विहार बनवाऊँ। इस प्रकार धन वापिस किए बिना ही वहाँ विहार बनवाया।

जातकट्ठकथा (निदान)में भी यह कथा आई है, जहाँसे हमें कुछ और बातें भी मालूम होती हैं।

तीर्थिकोंने जंबूद्वीपके सर्वोत्तम स्थानपर बसना ही श्रमण गौतम के लाभ-सत्कारका कारण समझा और जेतवनके **पीछेकी ओर** तीर्थिकाराम बनवानेका निश्चय किया। घूस देकर राजाको अपनी रायमें करके, बढ़इयोंको बुलाकर, उन्होंने आराम बनवाना आरंभ कर दिया।

इन उद्धरणोंसे हमें पता लगता है—(१) जेतवनके पीछेकी ओर पासहीमें, जहाँसे काम करनेवालोंका शब्द गंधकुटीमें बैठे बुद्धको खूब सुनाई देता था, तीर्थिकोंने अपना आराम बनाना आरंभ किया था। (२) जिसे राजाने पीछे बंद करा दिया। (३) राजाने वहीं आराम बनवाकर भिक्षु-संघको अर्पण किया। (४) यह आराम प्रसेनजित् द्वारा बनवाया पहला आराम था। नकशेमें देखनेसे हमें मालूम होता

है कि विहार नं० १९ जेतवनके पीछे और गंधकुटीसे दक्षिण-पश्चिमकी ओर है। फासला गंधकुटीसे प्रायः ९० फीट, तथा जेतवनकी दक्षिण-पूर्व सीमासे बिल्कुल लगा हुआ है। इस प्रकारका दूसरा कोई स्थान नहीं है, जिसपर उपर्युक्त बातें लागू हों। इस प्रकार विहार नं० १९ ही राजकाराम है, जो मुख्य जेतवनसे अलग था।

इस विहारका हम एक जगह और (जातकट्ठकथामें) उल्लेख पाते हैं। यहाँ उसे **जेतवन-पिट्ठि बिहार** अर्थात् जेतवनके पीछे वाला विहार कहा है। मालूम होता है, जेतवन और इस 'पिट्ठि विहार'के बीचमें होकर उस समय रास्ता जाता था। दोनों विहारोंके बीचसे एक मार्ग-के जानेका पता हमें **धम्मपदट्ठकथा**से भी लगता है। राजकाराम जेतवन-के समीप था। उसे प्रसेनजित्ने बनवाया था। एक बार उसमें भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिकाकी परिषद्में बैठे हुए, बुद्ध धर्मोपदेश कर रहे थे। भिक्षुओंने आवेशमें आकर "जीवें भगवान् जीवें सुगत" इस तरह जोरसे नारा लगाया। इस शब्दसे कथामें बाधा पड़ी। यहाँ स्पष्ट मालूम होता है कि यह राजकाराम अच्छा लम्बा-चौड़ा था।

ई० पू० छठी शताब्दीकी बनी इमारतोंके ढाँचेमें न जाने कितनी बार परिवर्तन हुआ होगा। तीर्थिकाराम बनानेके वर्णनमें खंभे उठाने और बढ़ईसे ही काम आरंभ करनेसे हम जानते हैं कि उस समय सभी मकान लकड़ीके ही अधिक बनते थे। जंगलोंकी अधिकतासे इसमें आसानी भी थी। ऐसी हालतमें लकड़ीके मकानोंका कम टिकाऊ होना उनके चिन्ह पानेके लिये और भी बाधक है। तथापि मौर्य-तलसे नीचे खुदाई करनेमें हमें शायद ऐसे कुछ चिन्होंके पानेमें सफलता हो। अस्तु, इतना हम जानते हैं कि जहाँ कहीं बुद्ध कुछ दिनके लिये निवास करते थे वहाँ उनकी गंधकुटी[1] अवश्य होती थी। यह गंधकुटी बहुत ही पवित्र समझी

---

[1] बुद्धके निवासकी कोठरीको पहले विहार ही कहते थे। पीछे,

जाती थी, इसलिये सभी गंधकुटियोंकी स्मृतिको बराबर कायम रखना स्वाभाविक है। जेतवनके नकशेमें हम विहार नं० १,२,३,५, और १९ एक विशेप तरहके स्थान पाते हैं। विहार नं० १९ के पश्चिमी भागके बीचकी परिक्रमावाली इमारतके स्थान पर ही राजकाराममें बुद्धकी गंधकुटी थी।

आगे हम जेतवनके भीतरकी चार इमारतोंमें 'सललागार'को भी एक बतलाएँगे। **दीघनिकायमें** आता है—"एक बार भगवान् श्रावस्ती-के सललागारकमें विहार करते थे।" इसपर अट्ठकथामें लिखा है—"सलल(वृक्ष)की बनी गंधकुटीमें।" **संयुत्तनिकायमें** भी—"एक समय आयुष्मान् अनुरुद्ध श्रावस्तीके सललागारमें विहार करते थे।" इसपर **अट्ठकथामें**—"सलल-वृक्ष-मयी पर्णशाला, या सललवृक्षके द्वारपर रहनेसे इस नामका घर।" **दीघनिकायकी अट्ठकथाके** अनुसार "सललघर राजा प्रसेनजित्का बनवाया हुआ था।"

(१) संयुत्त और दीघ दोनों निकायोंमें सललागारके साथ जेतवन-का नाम न आकर, सिर्फ श्रावस्तीका नाम आना बतलाता है कि सललागार जेतवनसे बाहर था। (२) सललागारका अट्ठकथामें सलल-घर हो जाना मामूली बात है। (३) (क) सललघर राजा प्रसेनजित्-का बनवाया था; (ख) जो यदि जेतवनमें नहीं था तो कमसे कम जेतवन-के बहुत ही समीप था, जिससे अट्ठकथाकी परंपराके समय वह जेतवन-के अंतर्गत समझा जाने लगा।

हम ऐसे स्थान राजकाराम (विहार नं० १९)को बतला चुके हैं, जो आज भी देखनेमें जेतवनसे बाहर नहीं जान पड़ता। इस प्रकार सलला-गार राजकारामका ही दूसरा नाम प्रतीत होता है। श्रावस्तीके भीतर भिक्षुणियोंका आराम भी, राजा प्रसेनजित्का बनवाया होनेके कारण,

---

मालूम होता है, उसपर फूल तथा दूसरी सुगंधित चीजें चढ़ाई जानेके कारण वह विहार 'गंधकुटी' कहा जाने लगा।

'राजकाराम' कहा जाता था; इसी लिये यह सललागार या सललघर-के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

गंधकुटी—जेतवनके भीतरकी अन्य इमारतों पर विचार करनेसेपूर्व, गंधकुटीका जानना आवश्यक है; क्योंकि इसे जान लेनेसे और स्थानों-के जाननेमें आसानी होगी। वैसे तो सारा जेतवन ही 'अविजहितट्ठान' माना गया है, किंतु जेतवनमें गंधकुटी[1]की चारपाईके चारों पैरोंके स्थान 'अविजहित' हैं, अर्थात् सभी अतीत और अनागत बुद्ध इसको नहीं छोड़ते। कुटी का द्वार किस दिशाको,था, इसके लिये कोई प्रमाण हमें नहीं मिला। तो भी पूर्व दिशाकी विशेपताको देखते हुए पूर्व मुँह होना ही अधिक संभव प्रतीत होता है। जहाँ इस विपय पर पाली स्रोतसे हम कुछ नहीं पाते, वहाँ यह वात संतोप की है कि सहेटके अंदरके विहार नं० १,२,३,५,१९ पाँचों ही विशेप मंदिरोंका द्वार पूर्व मुखको है। इसीलिये मुख्य दर्वाजा भी पूर्व मुँहहीको रहा होगा। यहाँ एक छोटीसी घटना से, मालूम होता है कि दो स्त्री-पुरुप पानी पीनेके लिये जव जेतवनके भीतर घुसे, तव उन्होंने वुद्धको गंधकुटीकी छायामें वैठे देखा। विहार नं २ के दक्षिण-पूर्व-का कुआँ यद्यपि **सर जान मार्शल**[2]के कथनानुसार कुपाण-कालका है, तो भी तथागतके परिभुक्त कुएँकी पवित्रता कोई ऐसी-वैसी वस्तु नहीं, जिसे गिर जाने दिया गया हो। यदि इसकी ईंटें कुपाण-कालकी हैं, तो उससे यही सिद्ध हो सकता है कि ईसाकी आरंभिक शताब्दियोंमें इसकी अंतिम मरम्मत हुई थी। दोपहरके वाद गंधकुटीकी छायामें वैठे हुए, वुद्धके लिये दर्वाजेकी तरफसे कुएँ पर पानी पीनेके लिये जानेवाला पुरुप सामने पड़ेगा, यह स्पष्ट ही है।

---

[1] "जेतवन गंधकुटिया चत्तारि मंचपादट्ठानानि अविजहितानेव होन्ति।"—दी० नि०, महापदान सुत्त, १४, अ० क०।

[2] A.S.I. Report, 1910-11

गंधकुटी अपने समयकी सुंदर इमारत होगी। **संयुत्तनिकायकी अट्ठकथा**[१]में इसे देवविमानके समान लिखा है। भरहुत स्तूपके जेतवन-चित्रसे इसकी कुछ कल्पना हो सकती है। गंधकुटीके बाहर एक चबूतरा (पमुख) था, जिससे गंधकुटीका द्वार कुछ और ऊँचा था। इसपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ थीं। पमुखके नीचे खुला आँगन था। चबूतरेको 'गंधकुटी पमुख' कहा है। भोजनोपरांत यहाँ खड़े होकर तथागत भिक्षु-संघको उपदेश देते हुए अनेक बार वर्णित किए गए हैं। मध्यान्हभोजनोपरांत भगवान् पमुखपर खड़े हो जाते थे, फिर सारे भिक्षु वंदना करते थे, इसके बाद उन्हें सुगतोपदेश देकर बुद्ध भी गंधकुटीमें चले जाते थे।

सोपानफलक—गंधकुटीमें जानेसे पहले, **मणिसोपानफलकपर** खड़े होकर, भिक्षु-संघको उपदेश देनेका भी वर्णन आता है। अकालमें वर्षा करानेके चमत्कारके समयके वर्णनमें आता है कि बुद्धने वर्षा करा, "पुष्करिणीमें नहाकर लाल दुपट्टा पहन कमरबंद बाँध, सुगतमहाचीवरको एक कंधा (खुला रख) पहन, भिक्षु-संघसे चारों तरफ घिरे हुए जाकर गंधकुटीके आँगनमें रखे हुए श्रेष्ठ बुद्धासनपर बैठकर, भिक्षु-संघके वंदना करनेपर उठकर मणिसोपानफलकपर खड़े हो, भिक्षु-संघको उपदेश दे, उत्साहित कर सुरभि-गंधकुटीमें प्रवेशकर..." यह सोपान संभवतः पमुखसे गंधकुटी-द्वारपर चढ़नेके लिये था; क्योंकि अन्यत्र इस मणिसोपानफलकको गंधकुटीके द्वार पर देखते हैं—"**एक दिन** रात को गंधकुटीके द्वारपर मणिसोपानफलकपर खड़े हो भिक्षु-संघको सुगतोवाद दे गंधकुटीमें प्रवेश करने पर, धम्मसेनापति (=सारिपुत्र) भी शास्ताको वंदनाकर अपने परिवेणको चले गए। महामोग्गलान भी अपने परिवेणको.........।"

गंधकुटी-परिवेण—मालूम होता है, पमुख थोड़ा ही चौड़ा था।

---

[१] देव-संयुत्त

इसके नीचेका सहन गंधकुटी-परिवेण कहा जाता था। इस परिवेणमें एक जगह बुद्धासन रखा रहता था, जहाँपर बैठे बुद्धकी वंदना भिक्षु-संघ करता था। इस परिवेणमें बालू बिछाई हुई थी; क्योंकि **मज्झिमनिकाय**[1] अ० क०में अनाथपिंडकके बारेमें लिखा है कि वह खाली हाथ कभी बुद्धके पास न जाता था; कुछ न होनेपर बालू ही ले जाकर गंधकुटीके आँगनमें बिखेरता था। **अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकथामें**, बुद्धके भोजनोपरांत-के कामका वर्णन करते हुए, लिखा है—"इस प्रकार भोजनोपरांतवाले कृत्यके समाप्त होनेपर, यदि गात्र धोना (=नहाना) चाहते थे, तो बुद्धासनसे उठकर स्नानकोष्ठकमें जाकर, रखे जलसे शरीरको ऋतु-ग्रहण कराते थे। उपट्ठाक भी बुद्धासन ले आकर गंधकुटी-परिवेणमें रख देता था। भगवान् लाल दुपट्टा पहनकर कायबंधन बाँधकर, उत्तरासंग एक कंधा (खुला रख) पहनकर वहाँ आकर बैठते थे; अकेले कुछ काल ध्यानावस्थित होते थे। तब भिक्षु जहाँ तहाँसे भगवान्‌के उपस्थानके लिये आते थे। वहाँ कोई प्रश्न पूछते थे, कोई कर्म-स्थानपूछते थे। कोई धर्मोपदेश सुनना चाहते थे। भगवान्, उनके मनोरथको पूरा करते हुए, पहले यामको समाप्त करते थे।"

बुद्धासन-स्तूप—गंधकुटीका परिवेण इस तरह एक बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण स्थान था। जेतवनमें, गंधकुटीमें, रहते हुए भगवान् यहीं आसीन हो प्रायः नित्य ही एक याम उपदेश देते थे, वंदना ग्रहण करते थे। इस तरह गंधकुटी-परिवेणकी पवित्रता अधिक मानी जानी स्वाभाविक है। उसमें उस स्थानका माहात्म्य, जहाँ तथागतका आसन रखा जाता था, और भी महत्त्वपूर्ण है। ऐसे स्थानपर परवर्ती कालमें कोई स्मृति-चिन्ह अवश्य ही बना होगा। जेतवनकी खुदाईमें स्तूप नं० H ऐसा ही एक स्थान मिला है। इसके बारेमें सर जान मार्शल लिखते हैं[2]—

---

[1] सुत्त १४३ की अट्ठकथा।

[2] Archæological Survey of India, 1910-11, p. 9

"Of the stupas H, J and K, the first-mentioned seems to have been invested with particular sanctity; for not only was it rebuilt several times but it is set immediately in front of temple No. 2, which there is good reason to identify with the famous Gandhakuti and right in the midst of the main road which approaches this sanctuary from the east...this plinth is constructed of bricks of same size as those monasteries (of Kushan Period)."

जान पड़ता है, यह स्तूप वह स्थान है जहाँ बैठकर तथागत उपदेश दिया करते थे और इसीलिये उसे बार बार मरम्मत करने का प्रयत्न किया गया है। गंधकुटी-परिवेणमें, भिक्षुओंके ही लिये नहीं, प्रत्युत गृहस्थोंके लिये भी उपदेश होता था—"विशाखा, उपदेश सुननेके लिये, जेतवन गई। उसने अपने बहुमूल्य आभूषण 'महालतापसाधन'को दासीके हाथमें इसलिये दे दिया था कि उपदेश[1] सुनते समय ऐसे शरीर-श्रृंगारकी आवश्यकता नहीं। दासी उसे चलते वक्त भूल गई। नगरको लौटते समय दासी आभूषणके लिये लौटी। विशाखाने पूछा—तूने कहाँ रखा था? उसने कहा—गंधकुटी-परिवेणमें। विशाखाने कहा—गंधकुटी-परिवेणमें रखनेके समयसे ही उसका लौटाना हमारे लिये अयुक्त है।"

आभूषणके छूटनेका यह वर्णन विनयमें भी आया है। संभवतः बुद्धासन-स्तूपके पूर्वका स्तूप G इसीके स्मरणमें है। सर जान कहते हैं[2]—

This stupa is co-eval with the three buildings of Kushan Period, just described (*ibid*, p. 10).

---

[1] धम्मपदट्ठकथा, ४।४४, विसाखाय वत्थु।

[2] A. S. I. Report, 1910—1911

यह गंधकुटी-परिवेण वहुत ही खुली जगह थी, जिसमें हजारों आदमी वैठ सकते थे। वुद्धासन-स्तूप (स्तूप H) गंधकुटीसे कुछ अधिक हटकर मालूम होता है। उसका कारण यह है कि उपदेशके समय तथागत पूर्वाभिमुख वैठते थे। उनके पीछे भिक्षु-संघ पूर्व मुँह करके वैठता था और आगे गृहस्थ लोग तथागतकी ओर मुँह करके वैठते थे। गंधकुटी-पमुखसे वुद्धासन तककी भूमि भिक्षुओंके लिये थी। इसका वर्णन हमें उदानमें[1] मिलता है, जहाँ तथागतका पाटलिगामके नए आवसथागारमें वैठनेका सविस्तार वर्णन है। संभवतः यह परिवेण पहले और भी चौड़ा रहा होगा, और कमसे कम वुद्धासनसे उतना ही स्थान उत्तर ओर भी छूटा रहा होगा जितना कि नं० K से वुद्धासन। इस प्रकार कुषाण-कालकी इमारतके स्थानपरकी पुरानी इमारत, यदि कोई रही हो तो, दक्षिण तरफ इतनी वढ़ी हुई न रही होगी, अथवा रही ही न होगी।

गंधकुटी कितनी लंवी-चौड़ी थी, यद्यपि इसके जाननेके लिये कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, तथापि एक आदमीके लिये थी, इसलिये वहुत वड़ी नहीं हो सकती। संभवतः विहार नं० २ के वीचका गर्भ वहुत कुछ पुरातन गंधकुटीके आकारको वतलाता है। गंधकुटीके दर्वाजेमें किवाड़[2] लगा था, जिसमें भीतरसे किल्ली (सूचीघटिक) लगानेका भी प्रवंध था। इसमें तथागतके सोनेका मंच था। इस मंचके चारों पैरोंके स्थानको अट्ठकथावालोंने 'अविजहित' कहा है। गंधकुटीके दर्वाजे द्वारा कई वातोंका संकेत भी होता था। म० नि० अट्ठकथा[3]में वुद्धघोषने लिखा है—'जिस दिन भगवान् जेतवनमें रहकर पूर्वाराममें दिनको विहार करना चाहते थे, उस दिन विस्तरा, परिष्कार भांडोंको ठीक ठीक करनेका संकेत करते थे। स्थविर (आनंद) झाड़ देते, तथा कचड़ेमें

[1] उदान—पाटलिगामियवग्ग (८।६)

[2] धम्मपद-अट्ठकथा ४:४४ भी। [3] सुत्त २६

फेंकनेकी चीजोंको समेट लेते थे। जब अकेले पिंडचारको जाना चाहते थे, तब सवेरे ही नहाकर गंधकुटीमें प्रवेश कर दर्वाजा बंदकर समाधिस्थ हो बैठते थे। जब भिक्षु-संघके साथ पिंडचारको जाना चाहते थे, तब गंधकुटीको आधी खुली रखकर...। जब जनपदमें विचरनेके लिये निकलना चाहते थे, तो एक-दो ग्रास अधिक खाते थे और चंक्रमण पर आरूढ़ हो पूर्व-पश्चिम टहलते थे।" भरहुतके जेतवन-पट्टिकामें गंध-कुटीके द्वारका ऊपरी आधा भाग खुला है, जिससे यह भी पता लगता है कि किवाड़ ऊपर-नीचे दो भागोंमें विभक्त होता था। गंधकुटीका नाम यद्यपि सैकड़ों बार आता है, किंतु उसका इससे अधिक विवरण देखनेमें नहीं मिलता।

द्वारकोट्ठक—हम पीछे कह चुके हैं कि अनाथपिंडकके पहली बार लाए हुए कार्पापणोंसे जेतवनका एक थोड़ासा हिस्सा बिना ढँका ही रह गया था। इसे कुमार जेतने अपने लिये माँग लिया और वहाँ पर उसने अपने दामसे कोठा बनवाया जिसका नाम जेतवनबहिद्वारकोष्ठक या केवल द्वारकोट्ठक पड़ा। यह गंधकुटीके सामने ही था, क्योंकि **धम्मपद-अट्ठकथा**में आता है—

एक समय अन्य तीर्थिक उपासकोंने...अपने लड़कोंको कसम दिलाई कि घर आनेपर तुम शाक्यपुत्रीय श्रमणोंको न तो वंदना करना और न उनके विहारमें जाना। एक दिन जेतवन विहारके बहिद्वार-कोष्ठकके पास खेलते हुए उन्हें प्यास लगी। तब एक उपासकके लड़केको कहकर भेजा कि तुम जाकर पानी पिओ और हमारे लिये भी लाओ। उसने विहारमें प्रवेश कर शास्ताको वंदना कर पानी पी इस बातको कहा। शास्ताने कहा कि तुम पानी पीकर...जाकर औरोंको भी, पानी पीनेके लिये यहीं भेजो। उन्होंने आकर पानी पिया। गंधकुटीके पासका कुआँ हमें मालूम है। द्वारकोष्ठकसे कुएँपर आते हुए लड़कोंको गंधकुटीके द्वारपरसे देखना स्वाभाविक है, यदि दर्वाजा गंधकुटीके सामने हो।

जेतवन-पोक्खरणी—यह द्वारकोट्ठकके पास ही थी। **जातकट्ठकथा** (निदान) में एक जगह इसका इस प्रकार वर्णन आता है—

एक समय कोसल राष्ट्रमें वर्षा न हुई। सस्य सूख रहे थे। जहाँ-तहाँ तालाव, पोखरी और सरोवर सूख गए। **जेतवन-द्वार-कोष्टकके** समीपकी जेतवन-पुष्करिणीका जल भी सूख गया। घने कीचड़में घुसकर लेटे हुए मच्छ-कच्छपोंको कौए चील आदि अपनी चोंचोंसे मार मार, ले जाकर, फड़फड़ाते हुओंको खाते थे। शास्ताने मत्स्य-कच्छपोंके उस दुःखको देखकर, महती करुणासे प्रेरित हो, निश्चय किया—आज मुझे पानी वरसाना है।...भोजनके वाद सावत्थीसे विहारको जाते हुए जेतवन-पुष्करिणीके **सोपानपर** खड़े हो आनंद स्थविरसे कहा—आनंद, नहानेकी धोती ला; जेतवन-पुष्करिणीमें स्नान करेंगे।... शास्ता एक छोरसे नहानेकी धोतीको पहनकर और दूसरे छोरसे सिरको ढाँककर सोपानपर खड़े हुए।...पूर्वदिशा-भागमें एक छोटीसी घटाने उठकर...वरसते हुए सारे कोसल राष्ट्रको वाढ़ जैसा वना दिया। शास्ताने पुष्करिणीमें स्नान कर, लाल दुपट्टा पहिन........।

यहाँ हमें मालूम होता है कि (१) पुष्करिणी जेतवन-द्वारके पास ही थी, (२) उसमें घाट वँधा हुआ था।

इस पुष्करिणीके पास वह स्थान था, जहाँपर देवदत्तका जीते जी पृथिवीमें समाना कहा गया है। फाहियान और युन्-च्वेङ् दोनों ही देवदत्तको जेतवनमें तथागतपर विप-प्रयोग करनेके लिये आया हुआ कहते हैं, किंतु **धम्मपद अट्ठकथाका** वर्णन दूसरा ही है—

देवदत्त[1]ने, नौ मास वीमार रहकर अंतिम समय शास्ताके दर्शनके लिये उत्सुक हो, अपने शिष्योंसे कहा—मैं शास्ताका दर्शन करना

---

[1] **ध० प० १।१२। अ० क०** ७४, ७५ (Commentary, Vol. I, p. 147) **देवदत्तवत्थु। देखो दी० नि० सुत्त २ की अट्ठकथा भी।**

चाहता हूँ; मुझें दर्शन करवाओ। ऐसा कहनेपर—समर्थ होनेपर तुमनें शास्ताके साथ वैरीका आचरण किया, हम तुम्हें वहाँ न ले जायँगे। तव देवदत्तने कहा—मेरा नाश मत करो। मैंने शास्ताके साथ आघात किया, किंतु मेरे ऊपर शास्ताको केशाग्रमात्र भी क्रोध नहीं है। वे शास्ता वधिक देवदत्तपर, डाकू अंगुलिमालपर, धनपाल और राहुलपर—सव पर—समान भाववाले हैं। तव वह चारपाईपर लेकर निकले। उसका आगमन सुनकर भिक्षुओंने शास्तासे कहा...। शास्ताने कहा—भिक्षुओ ! इस शरीर से वह मुझे न देख सकेगा...। अव एक योजन-पर आ गया है, आधे योजनपर, गावुत (=गव्यूति) भरपर, जेतवन-पुष्करिणीके समीप...। यदि वह जेतवनके भीतर भी आ जाय, तो भी मुझे न देख सकेगा। देवदत्तको ले आनेवाले **जेतवनपुष्करिणी**के तीरपर चारपाईको उतार पुष्करिणीमें नहाने गए। देवदत्त भी चारपाईसे उठ, दोनों पैरोंको भूमिपर रखकर, बैठा। (और) वह वहीं पृथिवीमें चला गया। वह क्रमशः घुट्टी तक, फिर ठेहुने तक, फिर कमर तक, छाती तक, गर्दन तक घुस गया। ठुड्डीकी हड्डीके भूमिपर प्रतिष्ठित होते समय उसने यह गाथा कही—

इन आठ प्राणोंसे उस अग्रपुद्गल (=महापुरुष) देवातिदेव, नर-दम्यसाखी समंतचक्षु शतपुण्यलक्षण वुद्धके शरणागत हूँ।

वह अवसे सौ हजार कल्पों वाद अट्ठिस्सर नामक प्रत्येक्‌वुद्ध होगा।—वह पृथिवीमें घुसकर अवीचिनरकमें उत्पन्न हुआ।

इस कथामें और ऐतिहासिक तथ्य चाहे कुछ भी न हो, किंतु इसमें संदेह नहीं कि देवदत्तके जमीनमें धँसनेकी किंवदंती फाहियानके समय (पाँचवीं शताब्दीमें) खूव प्रसिद्ध थी। वह उससे भी पहलेकी सिंहाली अट्ठकथाओंमें वैसे ही थी, जिसके आधारपर फाहियानके समकालीन वुद्धघोषने पाली अट्ठकथामें इसे लिखा। फाहियानने देवदत्तके धँसनेके इस स्थानको जेतवनके पूर्वद्वार पर राजपथसे ७० पद पश्चिम ओर, जहाँ

चिंचाके धरतीमें धँसनेका उल्लेख किया है, लिखा है।

युन्-च्वेङ्ने इस स्थानके विषयमें लिखा है—

"To the east of the convent about 100 paces is a great chasm; this is where Devadutta went down alive into Hell after trying to poison Buddha. To the south of this, again is a great ditch; this is the place where the Bhikshu Kokali went down alive into Hell after slandering Buddha. To the south of this, about 800 paces, is the place where the Brahman woman Chancha went down alive into Hell after slandering Buddha. All these chasms are without any visible bottom (or bottomless pits)." (Beal, *Life of H. T.*, pp. 93 and 94).

इनमें ऐतिहासिक तथ्य संभवतः इतना ही हो सकता है कि मरणासन्न देवदत्तको अंतमें अपने किएका पश्चात्ताप हुआ और वह बुद्धके दर्शनके लिए गया, किंतु जेतवनके दर्वाजेपर ही उसके प्राण छूट गए। यह मृत्यु पहले भूमिमें धँसनेमें परिणत हुई। फाहियानने उसे पृथिवीके फटकर बीचमें जगह देनेके रूपमें सुना। युन्-च्वेङ्के समय वह स्थान अथाह चँदवकमें परिणत हो गया था। किंतु इतना तो ठीक ही है कि यह स्थान (१) पूर्व-कोट्ठकके पास था; (२) पुष्करिणीके ऊपर था; (३) विहार (गंधकुटी) से १०० कदमपर था; और (४) चिंचाके धँसनेका स्थान भी इसके पास ही था।

चिंचाके धँसनेका स्थान द्वारके बाहर पासहीमें अट्ठकथामें भी आता है, किंतु कोकालिकके धँसनेका कहीं जिक्र नहीं आता। बल्कि इसके विरुद्ध उसका वर्णन सुत्तनिपातमें इस प्रकार है—

कोकालिकने जेतवनमें भगवान्के पास जाकर कहा—भंते, सारि-

पुत्त मोग्गलान पापेच्छु हैं, पापेच्छाओंके वशमें हैं। भगवान्‌ने उसे सारिपुत्त मोग्गलानके विषयमें चित्तको प्रसन्न करनेके लिये तीन वार कहा, किंतु उसने तीन वार उसीको दुहराया। वहाँसे प्रदक्षिणा करके गया तो उसके सारे वदनमें सरसोंके वरावर फुंसियाँ निकल आईं, जो क्रमशः विलसे भी वड़ी हो फूट गईं। फिर खून और पीव वहने लगा और वह इसी वीमारीसे मरा।

इसमें कहीं कोकालिकके धँसने या वुद्धको अपमानित करनेका वर्णन नहीं है। इसमें शक नहीं, इसी सुत्तनिपातकी अट्ठकथामें इस कोका-लियको देवदत्तके शिष्य कोकालियसे अलग वतलाया है, किंतु उसका भी जेतवनके पास भूमिमें धँसना कहीं नहीं मिलता। चिंचाके भूमिमें धँसनेका उल्लेख फाहियान और युन्-च्वेङ दोनोंहीने किया है। लेकिन युन्-च्वेङने ८०० कदम दक्षिण लिखा है, यद्यपि फाहियानने चूहोंसे वंधन काटने और धँसनेका स्थान एक ही लिखा है। पालीमें यह कथा[1] इस प्रकार है—

पहली वोधी[1] (५२७-१३ ई० पू०)में तीर्थिकोंने वुद्धके लाभ-सत्कार-को देखकर उसे नष्ट करनेकी ठानी। उन्होंने **चिंचा** परिव्राजिकासे कहा। वह श्रावस्ती-वासियोंके धर्मकथा सुनकर जेतवनसे निकलते समय इंद्रगोप-के समान वर्णवाले वस्त्रको पहन गंधमाला आदि हाथमें ले जेतवनकी ओर जाती थी। जेतवनके समीपके तीर्थिकाराममें वासकर प्रातः ही नगरसे उपासक जनोंके निकलनेपर, जेतवनके भीतर रही हुई सी हो, नगरमें प्रवेश करती थी। एक मासके वाद पूछनेपर कहती थी—जेतवन में श्रमण गोतमके साथ एक गंधकुटीहीमें सोई हूँ। आठ-नौ मासके वाद पेटपर गोल काष्ठ वाँधकर, ऊपरसे वस्त्र पहन, सायाह्न समय, धर्मोप-देश करते हुए तथागतके सामने खड़ी हो उसने कहा—महाश्रमण, लोगों-

---

[1] धम्मपद—अ० क०, १३:१९

को धर्मोपदेश करते हो। मैं तुमसे गर्भ पाकर पूर्णगर्भा हो गई हूँ। न मेरे सूतिका-गृहका प्रबंध करते हो और न घी-तेलका। यदि आपसे न हो सके तो अपने किसी उपस्थापकहीसे—कोसलराजसे, अनाथपिंडकसे या विशाखासे—करा दो...।" इसपर देवपुत्रोंने, चूहेके बच्चे बन, बंधनकी रस्सीको काट दिया। लोगोंने यह देख उसके शिरपर थूककर उसे ढेले, डंडे आदिसे मारकर जेतवनसे बाहर किया। तथागतके दृष्टिपथसे हटनेके बाद ही महापृथिवीने फटकर उसे जगह दी।

इस कथामें तथागतके आँखोंके सामनेसे चिंचाके अलग होते ही उसका पृथिवीमें धँसना लिखा है। बुद्ध इस समय बुद्धासनपर (स्तूप H) बैठे रहे होंगे। दर्वाजेके बहिःकोष्ठक सामने ही था। द्वारकोट्ठकके पार होते ही उसका आँखोंसे ओझल होना स्वाभाविक है और इस प्रकार धँसनेकी जगह द्वारकोट्ठकके बाहर पास ही, पुष्करिणीके किनारे हो सकती है; जिसके पास, पीछे देवदत्तका धँसना कहा जाता है। यह फाहियानके भी अनुकूल है। काल बीतनेके साथ कथाओंके रूपमें भी अतिशयोक्ति होनी स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त युन्-च्वेङ उस समय आए थे, जिस समय महायान भारतमें यौवनपर था। महायान ऐतिहासिकताकी अपेक्षा लोकोत्तरताकी ओर अधिक झुकता है, जैसा कि महायान करुणा-पुंडरीक सूत्र आदिसे खूब स्पष्ट है। इसीलिये युन्-च्वेङकी किंवदंतियाँ फाहियानकी अपेक्षा अधिक अतिरंजित मिलती हैं। और इसीलिये युन्-च्वेङकी कथामें ही चिंचाको हम ८०० कदम और दक्षिण पाते हैं। युन्-च्वेङका यह कथन कि देवदत्तके धँसनेकी जगह अर्थात् द्वारकोट्ठकके बाहर पुष्करिणीका घाट विहार (=गंधकुटी) से १०० कदम था, ठीक मालूम होता है; और इस प्रकार विहार F की पूर्वी दीवारसे बिलकुल पास ही जेतवनके द्वारकोट्ठकका होना सिद्ध होता है। फिर ४८७ नंबरवाले खेतकी निचली भूमि ही जेतवनकी पुष्करिणी सिद्ध होती है।

कपल्ल-पूव-पब्भार—इसमें संदेह नहीं कि कितनी ही जगहोंका

आरंभ अनैतिहासिक कथाओंपर अवलंवित है, किंतु इससे वैसे स्थानोंका पीछे वना लिया जाना असत्य नहीं हो सकता। ऐसा ही एक स्थान जेतवनद्वारकोट्ठकमें 'कपल्ल-पूव-पब्भार' था। कथा यों है—

राजगृह नगर[1]के पास एक सक्खर नामका कस्वा था। वहाँ अस्सी करोड़ धनवाला कौशिक नामक एक कंजूस सेठ रहता था। उसने एक दिन वहुत आगा-पीछा करके भार्यासे पुआ खानेके लिये कहा। स्त्रीने पुआ वनाना आरंभ किया। यह जान स्थविर महामोग्गलान उसी समय जेतवनसे निकलकर ऋद्धिवलसे उस कस्वेमें सेठके घर पहुँचें।...सेठनें भार्यासे कहा—भद्रे! मुझे पुओंकी जरूरत नहीं, उन्हें इसी भिक्षुको दे दो।...स्थविर ऋद्धिवलसे सेठ-सेठानीको पुओंके साथ लेकर जेतवन पहुँच गए। सारे विहारके भिक्षुओंको देनेपर भी वह समाप्त हुआ सा न मालूम होता था। इसपर भगवान्ने कहा—इन्हें जेतवन द्वारकोट्ठक पर छोड़ दो। उन्होंने उसे द्वारकोट्ठकके पासके स्थानपर ही छोड़ दिया। *आज भी वह स्थान कपल्ल-पूव-पब्भारके ही नामसे प्रसिद्ध है।*

यह स्थान भी द्वारकोष्ठकके ही एक भागमें था, और इस जगहकी स्मृतिमें भी कोई छोटा-मोटा स्तूप अवश्य वना होगा।

जेतवनके वाहरकी वातोंको समाप्तकर अव हमें जेतवनके अंदरकी शेष इमारतोंको देखना है। विनयके अनुसार अनाथपिंडकने जेतवनके भीतर ये चीजें वनवाईं—विहार, परिवेण, कोठा, उपस्थान- शाला, कप्पियकुटी, पाखाना, पेशावखाना, चंक्रम (=टहलनेकी जगह), चंक्रमणशाला, उदपान (=प्याऊ), उदपानशाला, जंताघर (=स्नान-गृह), जंताघरशाला, पुष्करिणी और मंडप। जातक-अट्ठकथा[2] (निदान)-के अनुसार इनका स्थान इस प्रकार है—मध्यमें गंधकुटी, उसके चारों तरफ अस्सी महास्थविरोंके अलग अलग निवासस्थान, एककुट्टक

---

[1] धम्मपदट्ठकथा, Vol. I, p. 373 [2] जातक, १।८।८

(=एकतला), द्विकुड्डुक, हंसवट्टक, दीघशाला, मंडप आदि तथा पुष्करिणी, चंक्रमण, रात्रिको रहनेके स्थान और दिनको रहनेके स्थान।

चुल्लवग्गके[1] सेनासनक्खंधक (६) से हमें निम्न प्रकारके गृहोंका पता लगता है—

उपस्थानशाला—उस समय भिक्षु खुली जगहमें खाते समय शीतसे भी, उष्णसे भी कष्ट पाते थे। भगवान्‌से कहनेपर उन्होंने कहा—मैं अनुमति देता हूँ कि उपस्थानशाला बनाई जाय, ऊँची कुरसीवाली, ईंट, पत्थर या लकड़ीसे चिनकर; सीढ़ी भी ईंट, पत्थर या लकड़ीकी; बाँह-आलंबन भी; लीप-पोतकर, सफेद या काले रंगकी गेरूसे सँवारी, माला लता, चित्रोंसे चित्रित, खूँटी, चीवर-बाँस चीवर-रस्सीके सहित।

जेतवनमें भी ऐसी उपस्थानशाला थी, जिसका वर्णन सूत्रोंमें बहुत आता है। जेतवनकी यह उपस्थानशाला लकड़ीकी रही होगी तथा नीचे ईंटें बिछी रही होंगी।

जेतवनके भीतर हम इन इमारतोंका वर्णन पाली स्रोतसे पाते हैं—करेरिकुटिका, कोसंबकुटी, गंधकुटी, सललघर, करेरिमंडलमाल, करेरि-मंडप, गंधमंडलमाल, उपट्ठानसाला (=धम्मसभामंडप), नहानकोट्ठक, अग्गिसाला, अंबलकोट्ठक (=आसनसाला, पानीयसाला), उपसंपदा-मालक। यद्यपि सललघर जेतवनके भीतर लिखा मिलता है; किंतु ज्ञात होता है कि जेतवनसे यहाँ जेतवन-राजकाराम अभिप्रेत है और सललघर राजकारामकी ही गंधकुटीका नाम था।

करेरिकुटिका और करेरिमंडलमाल—दीघनिकाय[2]में आता है—एक समय भगवान् जेतवनमें अनाथपिंडकके आराम, करेरिकुटिकामें, विहार करते थे। भोजनके बाद करेरिमंडलमालमें इकट्ठा बैठे हुए बहुत-

---

[1] विनयपिटक।

[2] दी० नि० महापदानसुत्त।

से भिक्षुओंमें पूर्वजन्म-संवंधी धार्मिक चर्चा चल पड़ी। भगवान्ने उसे दिव्य श्रोत्र-धातुसे सुना।

इसपर टीका करते हुए आचार्य बुद्धघोषने लिखा है—

करेरि वरुण वृक्षका नाम है। करेरि वृक्ष उस कुटीके द्वारपर था, इसी लिये करेरिकुटिका कही जाती थी; जैसे कोसंव वृक्षके द्वारपर होनेसे कोसंवकुटिका। जेतवनके भीतर करेरिकुटी, कोसंवकुटी, गंधकुटी, सललघर ये चार बड़े घर (महागेह) थे। एक एक सौ हजार खर्च करके वनवाए गए थे। उनमें सललघर राजा प्रसेनजित् द्वारा वनवाया गया था, वाकी अनाथपिंडिक गृहपति द्वारा। इस तरह अनाथपिंडक गृहपति द्वारा स्तंभोंके ऊपर वनवाई हुई देवविमान-समान करेरिकुटिकामें भगवान् विहार करते थे[1]।

सूत्रसे हमें मालूम होता है कि जेतवनके भीतर (१) करेरिकुटिका थी, जो संभवतः गंधकुटी, कोसंवकुटीकी भाँति सिर्फ बुद्ध ही के रहनेके लिए थी; (२) उससे कुछ हटकर करेरिमंडलमाल था। विल्कुल पास होने पर दिव्य कर्णसे सुननेकी कोई आवश्यकता न थी। अट्ठकथासे मालूम होता है कि इस (३) कुटीके द्वारपर करेरीका वृक्ष था, इसीलिये इसका नाम करेरिकुटिका पड़ा था। इतना ही नहीं, कोसंवकुटीका नाम भी द्वारपर कोसंव वृक्षके होनेसे पड़ा था। (४) अनाथपिडक द्वारा यह करेरिकुटी लकड़ीके खंभोंके ऊपर वहुत ही सुंदर वनाई गई थी।

---

[1] दी० नि० अट्ठकथा, II, पृ० २६९—

"एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति जेतवने अनाथपिंडिकस्स आरामे करेरिकुटिकायं। अथ खो संबहुलानं भिक्खूनं पच्छाभत्तं पिंडपात-पटिक्कत्तानं करेरि-मंडल-माले सन्निसिन्नानं सन्निपतितानं पुब्बे-निवास-परिसंयुत्ता धम्मिय-कथा उदपादि—'इति पुब्बे-निवासो इति पुब्बे निवासोति'।"

करेरिमंडलमालपर टीका करते हुए बुद्धघोष कहते हैं—"उसी करेरि-मंडप[1]के अविदूर (=बहुत दूर नहीं) बनी हुई निसीदनशाला (को करेरिमंडलमाल कहते हैं)। वह करेरिमंडप, गंधकुटी और निसीदनशाला-के बीचमें था। इसीलिये गंधकुटी भी करेरिकुटिका, और शाला भी करेरिमंडलमाल कहा जाता था।" उदानमें भी—'एक बार[2] बहुतसे भिक्षु करेरिमंडलमालमें इकट्ठे बैठे थे' देखा जाता है। टीका करते हुए अट्ठकथामें आचार्य धर्मपाल लिखते हैं—"करेरि[3] वरुण वृक्षका नाम है। वह गंधकुटी, मंडप और शालाके बीचमें था। इसीलिये गंधकुटी भी करेरिकुटी कही जाती थी, मंडप भी, और शाला भी करेरिमंडलमाल। प्रतिवर्ष बननेवाले घास-पत्तीके छप्परको मंडल-माल कहते हैं। दूसरे कहते हैं, अतिमुक्त आदि लताओंके मंडपको मंडलमाल कहते हैं।

यहाँ दी० नि० अट्ठकथामें 'करेरिमंडप, गंधकुटी और निसीदनशाला-के बीचमें था।' उदान अट्ठकथामें 'करेरि वृक्ष गंधकुटी, मंडप और शालाके बीचमें था', जिसमें 'मंडप'को 'गंधकुटी-मंडप' स्वीकार किया जा सकता है, किंतु आगे 'इसीके लिये गंधकुटी भी. . ., मंडप भी और शाला भी . . ., से मालूम होता है कि यहाँ करेरिकुटी, करेरिमंडप, करेरिमंडल माला ये तीन अलग चीजें हैं, और इन तीनोंके बीचमें करेरिवृक्ष था।' लेकिन दीघनिकायअट्ठकथाका 'वह करेरिमंडप गंधकुटी और निसीदन-शालाके बीचमें था'—यह कहना फिर करेरिमंडपको संदेहमें डाल देता है। इससे तो मालूम होता है 'करेरिवृक्ष'की जगहपर 'करेरिमंडप' भ्रमसे लिखा गया जान पड़ता है। यद्यपि इस प्रकार करेरिमंडपका होना संदिग्ध

---

[1] दीघ० नि० अ० क०।

[2] (उदान—३।८)—"करेरिमंडलमाले सन्निसिन्नानं सन्निपतितानं अयं अंतराकथा उदपादि।"

[3] उदानट्ठकथा, पृ० १३५

हो जाता है; तोभी इसमें संदेह नहीं कि करेरि वृक्ष करेरिकुटीके सामने था, जिसके आगे करेरिमंडलमाल। जेतवनमें सभी प्रधान इमारतें गंध-कुटीकी भाँति पूर्वमुँह ही थीं। करेरिकुटीके द्वारपर पूर्व तरफ एक करेरि-का वृक्ष था, और उससे पूर्व तरफ (१) करेरिमंडलमाल था, जिसमें भोजनोपरांत भिक्षु इकट्ठे होकर धर्म-चर्चा किया करते थे। (२) यह मंडलमाल प्रतिवर्ष फूससे छाया जाता था, इसलिये कोई स्थायी इमारत न थी।

यहाँ हमें यह कुछ भी नहीं पता लगता कि करेरिकुटी, कोसंवकुटी और गंधकुटीसे किस ओर थी। यदि हम **'करेरिकुटी, कोसंबकुटी, गंध-कुटी'** इस क्रमको उनका क्रम मान लें, तो करेरिकुटी कोसंवकुटीसे भी पश्चिम थी। यहाँ सललघरको इस क्रमसे नहीं मानना होगा क्योंकि यह तैर्थिकोंकी जगहपर राजा प्रसेनजित्का बनवाया हुआ आराम था। यह जेतवनके बाहर होनेपर भी शायद समीपताके कारण उसमें ले लिया गया था। ऐसा होनेपर विहार नं० ५ को हम करेरिकुटी मान सकते हैं। करेरिका वृक्ष उसके द्वारपर पूर्वोत्तरके कोनेमें था, और **करेरिमंडलमाल** उससे पूर्वोत्तरमें।

उपट्ठानसाला (उपस्थानशाला)—खुद्दकनिकायके उदान ग्रंथमें आता है—"एक समय[१] भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। उस समय भोजनके बाद, उपस्थानशालामें इकट्ठे बैठे, बहुतसे भिक्षुओंमें यह कथा होती थी। इन दोनों राजाओंमें कौन बड़ा... है, राजा मागध सेनिय बिंबिसार अथवा राजा प्रसेनजित् कोसल।... उस समय ध्यानसे उठकर भगवान् शामके वक्त उपट्ठानशालामें गए और बिछे आसनपर बैठे।"

---

[१] "तेन खो पन समयेन उपट्ठानसालायं सन्निसिन्नानं सन्निपतितानं अयमन्तराकथा उदपादि।"—उदान, २।२

इसकी अट्ठकथामें आचार्य धर्मपाल लिखते हैं—

'भगवान्[1]ने ... भोजनोपरांत ... गंधकुटीमें प्रवेशकर फलसमापत्ति सुखके साथ दिवस-भागको व्यतीतकर (सोचा) ... अब चारों परिषद् (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका) मेरे आनेकी प्रतीक्षामें सारे विहारको पूर्ण करती बैठी है, अब धर्मदेशनाके लिये धर्म-सभा-मंडलमें जानेका समय है ... ।'

इससे मालूम होता है कि उपस्थानशाला (१) जेतवनमें भिक्षुओंके एकत्र होकर बैठनेकी जगह थी; (२) तथागत सायंकालको उपदेश देनेके लिये वहाँ जाते थे। अट्ठकथासे इतना और मालूम होता है—(३) इसीको धर्म-सभा-मंडल भी कहते थे। (४) यह गंधकुटीके पास थी; (५) सायंकालको धर्मोपदेश सुननेके लिये भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका सभी यहाँ इकट्ठे होते थे; (६) मंडल शब्दसे करेरिमंडलकी भाँति ही यह भी शायद फूसके छप्परोंसे प्रतिवर्ष छाई जानेवाली इमारत थी; (७) ये छप्पर शायद गंधकुटीके पासवाली भूमिपर पड़े थे, इसी लिये 'सारे विहारको पूर्ण करती' शब्द आया है।

गंधकुटीके पासवाले गंधकुटी-परिवेणके विषयमें हम कह चुके हैं। यह गंधकुटीके सामनेका आँगन था। गंधकुटीकी शोभाके ढँक जानेके खयालसे इस जगह उपस्थानशाला नहीं हो सकती। यह संभवतः गंधकुटीसे लगे हुए उत्तर तरफके भू-खंडपर थी, जिसमें स्तूप नं० ८ या ९ शायद बुद्धासनके स्थानपर हैं।

स्थानकोष्ठक—अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकथाका उद्धरण दे चुके हैं—"भोजनोपरान्तवाले कृत्य (तीसरे पहरके कृत्य—उपदेश आदि) के समाप्त होनेपर, यदि बुद्ध नहाना (=गात्र धोना) चाहते थे, तो बुद्धासनसे उठकर स्नानकोष्ठकमें..... शरीरको ऋतु ग्रहण कराते थे।" (१) यह स्नान-

---

[1] उदानट्ठकथा, पृ० ७२ (सिंहललिपि)

कोष्ठक गंधकुटीके पास था। (२) गंधकुटीके पासका कुआँ भी इसके पास ही हो सकता है। (३) यह अलग नहानेकी एक छोटीसी कोठरी रही होगी।

इनपर विचार करनेसे विहार नं० २ के कुएँके पासवाला स्तूप K स्नानकोष्ठकका स्थान मालूम होता है, जिसके विषयमें सर जान मार्शलने लिखा है—

The character is not wholly apparent. It consists of a chamber, 12′ 8″ square, with a paved passage around enclosed by an outer wall. The floor of the inner chamber and the passage around it are paved in bricks of the same size 13″×9″×2½″ (of Kushana Period) as those used in the walls...... absence of any doorway. In all probability, it was a stupa with a relic-chamber within and a paved walk outside; and the outer wall was added at a later date......A few feet to the south west of this structure is a carefully constructed well; which appears to be of a slightly later date than the building K....The bricks are of the same size as those in the building K....sweet and clear water......

जंताघर (=अग्निशाला)—इसके बारेमें धम्मपद अट्ठकथाके वाक्य ये हैं—

सड़े शरीरवाला तिष्य[१] स्थविर अपने शिष्य आदि द्वारा छोड़ दिया गया था। (भगवान्‌ने सोचा) इस समय मुझे छोड़ इसका दूसरा कोई

---

[१] ध० प० ४ : ८, अ० क० १५७

अवलंब नहीं; और गंधकुटीसे निकल विहारचारिका करते हुए, अग्निशाला-में जा जलपात्रको धो चूल्हेपर रख जल को गर्म हुआ जान, जाकर उस भिक्षु-के लेटनेकी खाटका किनारा पकड़ा। तव भिक्षु खाटको अग्निशालामें लाये। शास्ताने इसके पास खड़े हो गर्म पानीसे शरीरको भिगोकर मल-मलकर नहलाया। फिर वह हल्के शरीर हो और एकाग्रचित्त हो, खाट पर लेटा। शास्ताने उसके सिरहाने खड़े हो यह गाथा कह उपदेश दिया—

"देर नहीं है कि तुच्छ, विज्ञान-रहित, निरर्थक काष्ठखंड सा यह शरीर पृथ्वी पर लेटेगा।.....देशनाके अंतमें वह अर्हत्वको प्राप्त हो, परिनिर्वृत्त हुआ। शास्ताने उसका शरीरकृत्य कराकर हड्डियाँ ले चैत्य बनवाया।"

जंताघर[1] और अग्निशाला दोनों एक ही चीज हैं। चुल्लवग्गमें अग्नि-शालाके विधानमें यह वाक्य है—

"अनुज्ञा[2] देता हूँ, एक तरफ अग्निशाला....ऊँची कुर्सीकी..., ईंट पत्थर या लकड़ीसे चुनी...., सोपान....आलंवनवाहु-सहित..।"

महावग्गमें सामणेरका कर्त्तव्य वर्णन करते हुए जंताघरके संबंधमें इस प्रकार कहा गया है—

"यदि[3] उपाध्याय नहाना चाहते हों।....यदि उपाध्याय जंताघर-में जाना चाहते हों, तो चूर्ण ले जाना चाहिए, मिट्टी भिगोनी चाहिए। जंताघरके पीठ(=चौकी)को लेकर उपाध्यायके पीछे पीछे जाकर, जंता-घरमें पीठ देकर, चीवर लेकर एक तरफ रखना चाहिए। चूर्ण देना चाहिए।

---

[1] 'जंताघरं त्वग्गिसाला" (अभिधानप्पदीपिका २१४)।

[2] "अनुजानामि भिक्खवे एकमन्तं अग्गिसालं कातुं...उच्चवत्थुकं इट्ठिकाचयं सिलाचयं दारुचयं..सोपान..आलंबनवाहं..।" (सेनासन-क्खंधक, ६)

[3] विनयपिटक, महा० व०, p. 43

मिट्टी देनी चाहिए।.....जलमें भी उपाध्यायका परिकर्म करना (= मलना) चाहिए। नहाकर पहले ही निकलकर अपने गात्रको निर्जलकर वस्त्र पहनकर, उपाध्यायके गात्रसे जल सम्मार्जित करना चाहिए। वस्त्र देना चाहिए, संघाटी देनी चाहिए। जंताघरके पीठको लेकर पहले ही (निवासस्थानपर) आकर आसन ठीक करना चाहिए... ।"

जंताघरका वर्णन और भी है[1]—

"अनुज्ञा देता हूँ (जंताघरको) उच्च-वस्तुक करना...किवाड़... सूचिक, घटिक, तालछिद्र...धूमनेत्र......छोटे जंताघरमें एक तरफ अग्निस्थान, वड़ेके मध्यमें... । (जंताघरमें कीचड़ होता था इसलिये) ईंट, पत्थर या लकड़ीसे गच करना,......पानीका रास्ता वनाना... जंताघर-पीठ..., ईंट, पत्थर या लकड़ीके प्राकारसे परिक्षेप करना...।" इन उद्धरणोंसे मालूम होता है कि (१) जंताघर संघारामके एक छोर पर होता था। (२) यह नहानेकी जगह थी। (३) ईंट, पत्थर या लकड़ी-की चुनी हुई इमारत होती थी। (४) उसमें पानी गर्म करनेके लिये आग जलाई जाती थी, इसीलिये उसे अग्निशाला भी कहते हैं। (५) उसमें किवाड़, ताला-चाभी भी रहती थी। (६) धुएँकी चिमनी भी होती थी। (७) वड़े जंताघरोंमें आग जलानेका स्थान वीचमें, छोटोंमें एक किनारे पर। (८) जंताघरकी भूमि ईंट, पत्थर या लकड़ीसे ढकी रहती थी। (९) उसमें पीढ़ेपर वैठकर नहाते थे। (१०) वह ईंट, पत्थर या लकड़ीकी दीवारसे घिरा रहता था।

जेतवनका जंताघर भी जेतवनके अगल-वगल एक कोनेमें रहा होगा, जो ऊपर वर्णन किये गए तरीके पर संभवतः ईंट और लकड़ीसे वना होगा। ऐसा स्थान जेतवनके पूर्व-दक्षिण कोणमें संभव हो सकता है; अर्थात् विहार B के आसपास।

---

[1] विनयपिटक, चुल्ल वग्ग, खुद्दकवत्थुक्खंधक, pp. 213, 214

आसनशाला, अंबलकोट्ठक—जातकट्ठकथामें इसके लिये यह शब्द हैं—

"अंबलकोष्ठक[1] आसनशालामें भात खानेवाले कुत्तेके संबंधमें कहा। उस (कुत्ते)को जन्मसे ही पनभरोंने लेकर वहाँ पाला था।" इससे हमें ये बातें मालूम होती हैं—(१) जेतवनमें आसनशाला थी, (२) जिसके पास या जिसमें ही अंबलकोष्ठक नामकी कोई कोठरी थी, (३) जिसमें पानी भरनेवाले अक्सर रहा करते थे; (४) पानीशाला या उदपानशाला भी यहीं पासमें थी।

यह स्थान भी गंधकुटीसे कुछ हटकर ही होना चाहिए। पनभरोंके संबंधसे मालूम होता है, यह भी जंताघर (विहार B)के पास ही कहींपर रहा होगा।

उपसंपदामालक—"फिर[2] उसको स्थविरने जेतवनमें ले आकर अपने हाथसे ही नहलाकर, मालकमें खड़ा कर प्रव्रजित कर, उसकी लँगोटी और हलको मालककी सीमाहीमें वृक्षकी डाल पर रखवा दिया।"

अन्यत्र धम्मपद (८:११ अ० क०)में भी उपसंपदा-मालक नाम आता है।

यह संभवतः गंधकुटीके पास कहीं एक स्थान था, जहाँ प्रव्रज्या दी जाती थी। जेतवनमें वैसे सभी जगह वृक्ष ही वृक्ष थे, अतः इसकी सीमामें वृक्षका होना कोई विशेषता नहीं रखता।

आनंदबोधि—आखिरी चीज जो जेतवनके भीतर रह गई वह आनंद-बोधि है। जातकट्ठकथामें उसके लिये यह वाक्य हैं—

"आनंद[3] स्थविरने रोपा था, इसलिये आनंदबोधि नाम पड़ा। स्थविर द्वारा जेतवनद्वारकोष्ठकके पास बोधि (=पीपल)का रोपा जाना सारे जम्बूद्वीपमें प्रसिद्ध हो गया था।"

भरहुतकी जेतवन-पट्टिकामें भी गंधकुटीके सामने, कोसंबकुटीसे

---

[1] जातक, २४२ [2] ध० प०, २५:१०, अ० क० [3] जातक, २६१

पूर्वोत्तरके कोणपर, वेष्टनीसे वेष्टित एक वृक्ष दिखाया गया है, जो संभवतः आनंदबोधि ही है। यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणसे यह नहीं मालूम होता कि यह पीपलका वृक्ष द्वारकोष्ठकके बाहर था या भीतर; किंतु अधिकतर इसका भीतर ही होना सम्भव है, क्योंकि ऐसा पूजनीय वृक्ष जेतवन खासके भीतर होना चाहिए। पट्टिकामें भी भीतर ही दिखलाया गया है, क्योंकि उसमें द्वारकोष्टक छोड़ दिया गया है।

वड्ढमान—जेतवनके भीतर यह एक और प्रसिद्ध वृक्ष था। धम्मपदट्ठकथामें—"आनंद, आज वर्द्धमानकी छायामें... चित्त... मुझे वंदना करेगा।....वंदनाके समय राजा-मानसे आठ करीस प्रमाण प्रदेशमें.. दिव्य पुष्पोंकी घनी वर्षा होगी।" (ध० प० ५:१४, अ० क० २५०)। यह चित्त गृहपति तथागतके सर्वश्रेष्ठ गृहस्थ शिष्योंमें था। तथागतने इसके बारेमें स्वयं कहा है—"भिक्षुओ, श्रद्धालु उपासक अच्छी प्रार्थना करते हुए यह प्रार्थना करे, वैसा होऊँ जैसा कि चित्त गहपति।" (अ० नि० ३-२-२-५३)।

सुंदरी—जेतवनके संबंधमें एक और प्रसिद्ध घटना (जो अट्ठकथा और चीनी परिव्राजकोंके विवरणमें ही नहीं, वरन् त्रिपिटकके मूलभाग उदानमें भी, मिलती है) सुंदरी परिव्राजिकाकी है। उदानमें इसका उल्लेख इस प्रकार है—

"भगवान् जेतवन[1] में विहरते थे। उस समय भगवान् और भिक्षु-संघ सत्कृत पूजित, पिंडपात, शयनासन, ग्लानप्रत्य भैषज्योंके लाभी थे, लेकिन अन्य तीर्थिक परिव्राजक असत्कृत ...थे। तब वे तीर्थिक, भगवान् और भिक्षु संघके सत्कारको न सहते हुए, सुंदरी परिव्राजिकाके पास जाकर बोले—

'भगिनी! ज्ञातिकी भलाई करनेका उत्साह रखती हो?—मैं क्या

---

[1] उदान, ४:८ (मेघियवग्ग)।

करूँ आर्यो! मेरा किया क्या नहीं हो सकता? जीवन भी मैंने ज्ञातिके लिये अर्पित कर दिया है।—तो भगिनी बार बार जेतवन जाया कर।—बहुत अच्छा आर्यो! यह कह..., सुंदरी परिव्राजिका बराबर जेतवन जाने लगी। जब अन्य तीर्थिक परिव्राजकोंने जाना, कि बहुत लोगोंने सुंदरी .....को बराबर जेतवन जाते देख लिया, तो उन्होंने उसे जानसे मारकर वहीं जेतवनकी खाईमें कुआँ खोदकर डाल दिया और राजा प्रसेनजित् कोसलके पास जाकर कहा—महाराज! जो वह सुंदरी परिव्राजिका थी, सो नहीं दिखलाई पड़ती।—तुम्हें कहाँ सन्देह है?—जेतवनमें महाराज—तो जाकर जेतवनको ढूँढ़ो। तब (उन्होंने) जेतवनमें ढूँढ़कर अपने खोदे हुए परिखाके कुएँसे निकालकर खाटपर डाल श्रावस्तीमें प्रवेश कर एक सड़कसे दूसरी सड़क, एक चौराहेसे दूसरे चौराहेपर जाकर आदमियों-को शंकित कर दिया—"देखो आर्यो! शाक्यपुत्रीय श्रमणोंका कर्म, ये अलज्जी, दुःशील, पापधर्म, मृषावादी, अब्रह्मचारी हैं।.... इनको श्रामण्य नहीं, इनको ब्रह्मचर्य नहीं। इनका श्रामण्य, ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया है।... कैसे पुरुष पुरुष-कर्म करके स्त्रीको जानसे मार देगा?

उस समय सावत्थीमें लोग भिक्षुओंको देखकर (उन्हें) असभ्य और कड़े शब्दोंसे फटकारते थे, परिहास करते थे...। तब बहुतसे भिक्षु श्रावस्तीसे... पिंडपात करके ... भगवान्के पास जाकर बोले...—इस समय भगवान्! श्रावस्तीमें लोग भिक्षुओंको देखकर असभ्य और कड़ें शब्दोंसे फटकारते हैं...। यह शब्द भिक्षुओ! चिरकाल तक नहीं रहेगा, एक सप्ताहमें समाप्त हो लुप्त हो जायगा.......। (और) वह, शब्द चिरकाल तक नहीं रहा, सप्ताह भर ही रहा...।"

धम्मपदअट्ठ कथामें भी यह कथा आई है वहाँ यह विशेषता है—...तब तीर्थिकों[1] ने कुछ दिनोंके बाद गुंडोंको कहापण देकर कहा—जाओ

---

[1] ध० प०, २२–१, अ० क०, ५७१

सुंदरीको मारकर श्रमण गोतमकी गंधकुटीके पास मालोंके कूड़ेमें डाल आओ ...।..राजाने कहा—तो (मुर्दा लेकर) नगरमें घूमो।....(फिर) राजाने सुंदरीके शरीरको कच्चे श्मशानमें मचान बाँधकर रखवा दिया। ...गुंडोंने उस कहापणसे शराब पीते ही झगड़ा किया (और रहस्य खोल दिया)...। राजाने फिर तीर्थिकोंको कहा–जाओ, यह कहते हुए नगरमें घूमो कि यह सुंदरी हमने मरवाई...। (फिर) तीर्थिकोंने भी मनुष्य-वधका दंड पाया।

उदानमें कहा है—(१) तीर्थिकोंने खुद मारा। (२) जेतवनकी परिखामें कुआँ खोदकर सुंदरीके शरीरको दबा दिया। (३) सप्ताह बाद अपनी ही बदनामी रह गई। लेकिन धम्मपदअट्ठकथामें—(१) तीर्थिकोंने गुंडोंसे मरवाया। (२) जेतवनकी गंधकुटीके पास मालाके कूड़ेमें सुंदरीके शरीरको डाल दिया। (३) धूर्तोंने शराबके नशेमें भंडा फोड़ दिया। (४) तीर्थिकोंको भी मनुष्य-वधका दंड मिला। यहाँ यद्यपि अन्य अंशोंका समाधान हो सकता है, तथापि उदानका 'परिखामें गाड़ना' और अट्ठकथाका गंधकुटीके पास कूड़ेमें डालना, परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं। आरामोंके चारों ओर परिखा होती थी, इसके लिये विनयपिटकमें यह वचन है—"उस[1] समय आराममें घेरा नहीं था, बकरी आदि पशु भी पौधोंका नुकसान करते थे। भगवान्‌से यह बात कही। (भगवान्‌ने कहा)—बाँस-बाट, कंटकी-बाट, परिखा-बाट इन तीन बाटों(=रुँधान)से घेरनेकी अनुज्ञा देता हूँ।" यह परिखा आरामके चारों ओर होनेसे गंधकुटीके समीप नहीं हो सकती। दोनोंका विरोध स्पष्ट ही है। ऐसे भी उदान मूल सूत्रोंसे संबंध रखता है, इसलिये उसकी, अट्ठकथासे अधिक प्रामाणिकता है। दूसरे उसका कथन भी अधिक संभव प्रतीत होता है। परिखा दूर होनेसे वहाँ आदमियोंके आने-जानेका उतना भय न था, इसलिये खून करनेका वही स्थान हत्यारोंके

---

[1] विनयपिटक चुल्लवग्ग, सेनासन० ६, पृ० २५०

अधिक अनुकूल था। गंधकुटी जो मुख्य दर्वाजेके पास थी। वहाँ लोगोंका बराबर आना-जाना रहता था। शरीर ढाँकने भरके लिये मालाओंके ढेरका गंधकुटीके पास जमा करके रखना भी अस्वाभाविक है।

युन्-च्वेङ ने लिखा है—

Behind the convent, not far, is where the Brahmachari heretics killed women and accused Buddha of the murder. (*The Life of Hiuen-Tsang*, p. 93).

फाहियानने इसके लिये कोई विशेष स्थान निर्दिष्ट नहीं किया है।

परिखा—सुंदरीके इस वर्णनसे यह भी पता लगता है कि जेतवनके चारों ओर परिखा खुदी हुई थी। इसलिये बाँस या काँटेकी बाड़ नहीं रही होगी।

इन इमारतोंके अतिरिक्त जेतवनके अंदर पेशावखानें, पाखाने, चंक्रमणशालाएँ भी थीं; किन्तु इनका कोई विशेष उद्धरण नहीं मिलता।

जेतवन बननेका समय—जेतवन-निर्माणमें दिए विनयके प्रमाणसे पता लगता है कि बुद्धको राजगृहमें अनाथपिंडकने वर्षावासके लिये निमंत्रित किया था। फिर वर्षा भर रहनेके लिये स्थान खोजते हुए उसे जेतवन दिखलाई पड़ा और फिर उसने बहुत धन लगाकर वहाँ अनेक सुंदर इमारतें बनवाईं। यद्यपि सूत्र और विनयमें हमें बुद्धके वर्षावासोंकी सूची नहीं मिलती तो भी अट्ठकथाएँ इसकी पूरी सूचना देती हैं। अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकथा (८।४।५)में यह इस प्रकार है—

वर्षा०	ई० पू०	
१	(५२७)	ऋषिपतन (सारनाथ)
२	(५२६)	राजगृह (वेलुवन)

वर्षा०	ई० पू०	
३	(५२५)	राजगृह (वेलुवन)
४	(५२४)	,, ,,
५	(५२३)	वैसाली (महावन)
६	(५२२)	मंकुल पर्वत
७	(५२१)	तावतिंसभवन (त्रायस्त्रिंश लोक)
८	(५२०)	भर्ग (सुंसुमारगिरि=चुनार)
९	(५१९)	कौशांबी
१०	(५१८)	पारिलेय्यकवनसंड
११	(५१७)	नाला
१२	(५१६)	वेरंजा
१३	(५१५)	चालिय पर्वत
१४	(५१४)	जेतवन
१५	(५१३)	कपिलवत्तु
१६	(५१२)	आलवी
१७	(५११)	राजगृह
१८	(५१०)	चालिय पर्वत
१९	(५०९)	चालिय पर्वत
२०	(५०८)	राजगृह
२१	(५०७)	श्रावस्ती
२२	(५०६)	,,
२३	(५०५)	,,
२४	(५०४)	,,
२५	(५०३)	,,
२६	(५०२)	,,
२७	(५०१)	,,

वर्षा०	ई० पू०	
२८	(५००)	श्रावस्ती
२९	(४९९)	,,
३०	(४९८)	,,
३१	(४९७)	,,
३२	(४९६)	,,
३३	(४९५)	,,
३४	(४९४)	,,
३५	(४९३)	,,
३६	(४९२)	,,
३७	(४९१)	,,
३८	(४९०)	,,
३९	(४८९)	,,
४०	(४८८)	,,
४१	(४८७)	,,
४२	(४८६)	,,
४३	(४८५)	,,
४४	(४८४)	,,
४५	(४८३)	वैशाली (वेलुवगाम)

इसके देखनेसे मालूम होता है कि तथागतने जेतवनमें सर्वप्रथम वर्षा-वास बोधिके चौदहवें वर्षमें किया था। इसका अर्थ यह भी है कि जेतवन बना भी इसी वर्ष (५१४-५१३ ई० पू०)में था, क्योंकि विनयका कहना साफ है कि अनाथपिंडकने वर्षावासके लिये निमंत्रित किया था और विनयके सामने अट्ठकथाका प्रमाण नहीं। यहाँ इस बातपर विचार करनेके लिये कुछ और प्रमाणोंपर विचार करना होगा।

वर्षावासके लिये जेतवनमें निमंत्रित होना इसलिये जब जेतवनको पहले गये, तो वर्षावास भी वहीं किया।

(क) कौशांबी[1] में भिक्षुओंके कलहके बाद पारिलेयकमें जाकर रहना, वहाँसे फिर जेतवनमें।

(ख) उदान[2] में एकांत विहारके लिये पारिलेयकमें जाना लिखा है, झगड़ेका जिक्र नहीं।

(ग) संयुत्तनिकाय[3] में एकांत विहारका भी जिक्र नहीं। बिल्कुल

---

[1] "कोसंबियं पिंडाय चरित्त्वा...संघमज्झे ठितको'व...गाथाय भासित्वा...बालकलोणकारगामे...। अथ...पाचीनवंसदाये...। अथ...पारिलेय्यके...यथाभिरत्तं विहरित्त्वा...अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो...सावत्थियं...जेतवने...।"

—महावग्ग, कोसंबक्खन्धक १०, ४०४–४०८, पृष्ठ।

[2] "भगवा कोसंबियं विहरति घोसितारामे। तेन खो पन समयेन भगवा आकिण्णो विहरति भिक्खूहि, भिक्खुनीहि उपासकेहि उपासिकाहि राजूहि राजमहामत्तेहि तित्थियेहि तित्थियसावकेहि आकिण्णो दुक्खं न फासु विहरति।...अथ खो भगवा...अनामंतेत्वा उपट्ठाके अनपलोकेत्त्वा भिक्खुसंघं एको अदुतीयो येन परिलेय्यकं तेन चारिकं पक्कामि। अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो येन पारिलेय्यकं तदवसरि। तत्तसुदं भगवा पारिलेय्यके विहरति रक्खितवनसंडे भद्दसालमूले। अञ्ञातरोपि खो हत्थिनागो...येन भगवा तेनुपसंकमि।"

—उदान, ४।५

[3] "एकं समयं भगवा कोसंबियं विहरति घोसितारामे।...कोसंबियं पिंडाय चरित्वा...अनामंतेत्वा उपट्ठाके, अनपलोकेत्त्वा भिक्खुसंघं, एको अदुतीयो चारिकं पक्कामि।...एकको भगवा तस्मिं समये विहरितुकामो होति।...अथ खो भगवा अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो येन पारिलेय्यकं

चुपचाप पारिलेयकका चला जाना लिखा है। पीछे चिरकालके बाद आनंद-का भिक्षुओंके साथ जाना, किंतु हाथी आदिका वर्णन नहीं।

(घ) धम्मपदअट्ठकथा[1] में झगड़ेके विस्तारका वर्णन है, और महा-वग्गकी तरह यात्रा करके पारिलेयकमें जाना तथा वहाँ वर्षावास करना। वर्षावासके बाद फिर वहाँसे जेतवन जाना भी लिखा है।

यद्यपि चारों जगहोंकी कथाओंमें परस्पर कितना ही भेद है, किंतु संयुत्तनिकायसे भी, जो निःसन्देह सबसे पुरातन प्रमाण है, चिरकाल तक पारिलेय्यकमें वास करना मालूम होता है, क्योंकि वहाँ भिक्षु आनंदसे कहते हैं—'आयुष्मान् आनंद ! भगवान्‌के मुखसे धर्मोपदेश सुने बहुत दिन हुए।' संयुक्तनिकायके बाद उदानका नंबर है। वहाँ झगड़ेका जिक्र नहीं, तोभी चिरकाल तक वहाँ रहना लिखा है। यद्यपि इन दोनों पुराने प्रमाणोंमें पारिलेय्यकसे श्रावस्ती जाना नहीं लिखा है, तोभी पारिलेय्यकमें अधिक समयका वास वर्षावासके विरुद्ध नहीं जाता। विनय और पीछेके दूसरे ग्रन्थोंमें वर्णित जेतवन-गमनसे कोई विरोध नहीं है। यहाँ, हाथीकी सेवाकी कथा संयुत्तनिकायके बाद उदानके समयमें गढ़ी गई मालूम होती है। पारिलेय्यकसे वर्षाके बाद जेतवनमें जाना निश्चित मालूम होता है। पारि-

---

तदवसरि। तत्थ सुदं पारिलेय्यके विहरति भद्दसालमूले।...अथ खो संबहुला भिक्खू...आनंदं उपसंकमित्त्वा...चिरस्सं सुता खो नो आवुसो आनंद भगवतो सम्मुखा धम्मियकथा।...अथ खो...आनंदो तेहि भिक्खूहि सद्धिं येन पारिलेय्यकं भद्दसालमूलं येन भगवा तेनुपसंकमि।...भगवा धम्मिया कथाय संदस्सेसि।" —सं० नि०, २१।८।९

[1] "कोसंबियं पिंडाय चरित्त्वा अनपलोकेत्त्वा भिक्खुसंघं एककोव... बालकलोणकारगामं गंत्वा...पाचीनवंसदाये...येन पारिलेय्यकं तदवसरि ...भद्दसालमूले पारिलेय्यके एकेन हत्थिना उपट्ठहियमानो फासुकं वस्सा-वासं वसि।...अनुपुब्बेन जेतवनं अगमासि।..." (ध० प०, १।५, अ० क०)

लेय्यकका वर्षावास ऊपरकी सूचीमें वोधिसे दसवें वर्ष (५१८ ई० पू०)में है। अतः इससे पूर्व ही जेतवन वना था। वोधि-प्राप्तिके समय तथागतकी आयु ३५ वर्षकी थी। संयुत्तनिकायमें राजा प्रसेनजित्से, संभवतः पहली, मुलाकात होनेका इस प्रकार वर्णन आया है—

"भगवान्...जेतवनमें विहरते थे। राजा प्रसेन्जित् कोसल.. भगवान्के पास जा सम्मोदन करके एक तरफ बैठ गया।...फिर भगवान् से कहा। आप गोतम भी—'हमने अनुत्तर सम्यक् संबोधिको प्राप्तकर लिया'—यह प्रतिज्ञा करते हैं?—जिसको महाराज! अनुत्तर सम्यक्-संबुद्ध हुआ कहें, ठीक कहते हुए वह मुझे ही कहे।...हे गोतम! जो भी संघी, गणी, गणाचार्य, ज्ञात, यशस्वी तीर्थंकर, वहुत जनोंद्वारा साधु-सम्मत, हैं..जैसे—पूर्ण काश्यप, मंखलि, गोसाल, निगंठ नाथपुत्त, संजय वेलट्ठिपुत्त, पकुध कच्चायन, अजित केसकंवल, वह भी पूछने पर 'अनुत्तर सम्यक् संबोधिको जान गए', यह दावा नहीं करते। फिर क्या कहना है, आप गौतम तो जन्मसे दहर (=तरुण) हैं, प्रव्रज्यासे भी नए हैं।...भगवान्, आज से मुझे अपना शरणागत उपासक....धारण करें[1]।"

यहाँ राजा प्रसेनजित् जेतवनमें जाकर, निर्ग्रंथ ज्ञातृ-पुत्र (महावीर) आदिका यश वर्णन करके, तथागतको उमरमें कम और नया साधु हुआ कहता है। इससे मालूम होता है कि तथागत अभिसंबोधि (३५ वर्षकी आयु) के वहुत देर वाद श्रावस्ती नहीं गए थे। उस समय जेतवन बन चुका था। 'दहर' कहनेके लिये हम ४५ वर्षकी उम्र तककी सीमा मान सकते हैं। इस प्रकार पुराने सुत्तंतके अनुसार भी अभिसंबोधिसे दसवें वर्ष (५१९ ई० पू०)से पूर्व ही जेतवन वन चुका था।

महावग्गमें राजगृहसे कपिलवस्तु, फिर वहाँसे श्रावस्ती जेतवन जानेका वर्णन आया है—

---

[1] संयुत्तनिकाय, पृ० २३

"भगवान्[1] राजगृहमें...विहार करके...चारिका चरण करते हुए ...शाक्य देशमें कपिलवस्तुके न्यग्रोधारामें विहार करते थे।....फिर भगवान् पूर्वाह्ण समय....पात्र चीवर लेकर जहाँ शुद्धोदन शाक्य का घर था वहाँ गए, और रखे हुए आसन पर बैठे। तव राहुलमाता देवीनें राहुल कुमारसे कहा। राहुल! यह तेरा पिता है, जा दायज्ज माँग। ...राहुल कुनार यह कहते हुए भगवान्‌के पीछे पीछे हो लिया—'श्रमण, मुझे दायज्ज दो', 'श्रमण, मुझे दायज्ज दो'। तव भगवान् ने आयुष्मान् सारिपुत्रसे कहा—तो सारिपुत्त तू राहुल कुमारको प्रव्रजित कर...। फिर भगवान् कपिलवस्तुमें इच्छानुसार विहार कर श्रावस्तीकी ओर चारिका के लिये चल दिए। वहाँ...अनाथपिंडकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् सारिपुत्तके उपस्थापक-कुलने एक लड़के को आयुष्मान् सारिपुत्रके पास प्रव्रज्या देनेके लिये भेजा। आयुष्मान् सारिपुत्र-के चित्तमें हुआ, भगवान्‌ने प्रज्ञप्त किया है, एकको, दो सामणेर अपनी सेवामें न रखना चाहिए। और यह मेरा राहुल सामणेर है ही..." अट्ठकथासे स्पष्ट है कि यह यात्रा बोधिके दूसरे वर्षमें अर्थात् गयासे वाराणसी ऋषि-पतन, वहाँसे राजगृह आकर फिर कपिलवस्तु जाना। इस प्रकार ५२६ ई० पू०में जेतवन मौजूद मालूम होता है।

जातकट्ठकथामें इसे इस तरह संक्षिप्त किया है—शास्ता[2] बुद्ध होकर प्रथम वर्षा० ऋषिपतनमें वसकर,....उरुवेलाको जा वहाँ तीन मास वसे,...भिक्षुसंघ-सहित पौषकी पूर्णिमाको राजगृहमें पहुँच दो मास ठहरे। इतनेमें वाराणसीसे निकलेको पाँच मास हो गए।....फाल्गुन पूर्णिमाको उस(=उदायि)ने सोचा...अब यह (यात्राका) समय है...। राजगृहसे निकलकर प्रतिदिन एक योजन चलते थे।...(इस प्रकार) राजगृहसे ६० योजन कपिलवस्तु दो मासमें पहुँचे।... (वहाँसे) भगवान्

[1] महावग्ग (सिंहललिपि), ३९१–९३ [2] जातक, निदान।

फिर लौटकर राजगृह जा, सीतवनमें ठहरे। उस समय अनाथपिंडक गृहपति...अपने प्रिय मित्र राजगृहके सेठके घर जा, बुद्धोत्पत्ति सुन,... शास्ताके पास जा धर्मोपदेश सुन,... द्वितीय दिन बुद्ध प्रमुख संघको महा-दान दे, श्रावस्ती आनेके लिये शास्ताकी प्रतिज्ञा ले...।

यहाँ विनयसे जातकट्ठकथाका, कपिलवस्तुसे आगे जानेके स्थानमें विरोध है। जातकट्ठकथाके अनुसार बुद्ध वहाँसे लौटकर फिर राजगृह आए। लेकिन विनयके अनुसार राहुलको प्रव्रजितकर वे श्रावस्ती जेतवन पहुँचे। जातकके अनुसार बुद्धकी कपिलवस्तुकी यात्रा बोधिसे दूसरे वर्ष (५२६ ई० पू०)की फाल्गुन-पूर्णिमाको आरंभ हुई, और वे दो मास बाद वैशाख-पूर्णिमाको वहाँ पहुँचे। वहाँसे फिर लौटकर राजगृह आकर वहीं उन्होंने वर्षावास किया जो ऊपरकी सूचीसे स्पष्ट है। वहीं सीतवनमें अना-थपिंडक का जातक-अट्ठकथाके अनुसार श्रावस्ती आनेकी प्रतिज्ञा लेना, विनयके अनुसार वर्षावासके लिये निमंत्रण स्वीकार कराना होता है। इस प्रकार तथागतका जाना द्वितीय वर्षावासके बाद (५२६-५२५ ई० पू०) हो सकता है।

अब यहाँ दो बातोंपर ही हमें विशेष विचार करना है—(१) विनयके अनुसार कपिलवस्तुसे श्रावस्ती जाना और वहाँ जेतवनमें ठहरना। (२) जातक अ० के अनुसार कपिलवस्तुसे राजगृह लौट आना, और संभवतः वर्षावासके बाद दूसरे वर्ष जेतवनमें विहार तैयार हो जानेपर वहाँ जाना। यद्यपि विनय ग्रंथकी प्रामाणिकता अट्ठकथासे अधिक है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि कपिलवस्तुके जाने से पहले अनाथपिंडकका तथागत से मिलना नहीं आता; इसीलिये कपिलवस्तुसे श्रावस्ती जाकर जेतवनमें ठहरना बिल्कुल ही संभव नहीं मालूम पड़ता। इसके विरुद्ध जातकका वर्णन सीतवनके दर्शनके (द्वितीय वर्षा०के) बाद जाना अधिक युक्तियुक्त मालूम होता है। विनयने स्पष्ट कहा है कि अनाथपिंडकने वर्षावासके लिये निमं-त्रण दिया, और इसीलिये तीन मासके निवासके लिये जेतवनके झटपट

बनवानेकी भी अधिक जरूरत पड़ी; इस प्रकार तथागत जेतवन गए और साथ ही वहीं उन्होंने वर्षावास भी किया—यह अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यद्यपि वर्षावासोंकी सूचीमें तीसरा वर्षावास राजगृहमें लिखा है, तोभी जेतवन बोधिके दूसरे और तीसरे वर्षके बीच (५२६-५२५ ई० पू०)में बना जान पड़ता है।

पहिले दिये अट्ठकथाके उद्धरणसे मालूम होता है कि तीर्थिकोंने जेत-वनके पास तीर्थिकाराम प्रथम बोधि अर्थात् बोधिके बाद प्रथम पंद्रह वर्षों (५२७-५१३ ई० पू०)में बनाना आरंभ किया था। इससे निश्चित ही है कि उस (२१३ ई० पू०)से पूर्व जेतवन बन चुका होगा।

ऊपर दी गई वर्षावासकी सूचीके अनुसार प्रथम वर्षावास श्रावस्तीमें बोधिसे चौदहवें साल (५१४ ई० पू०)में किया। चूँकि अनाथपिंडकका निमंत्रण वर्षावासके लिये था, इसलिये यह भी जेतवनके बननेका साल हो सकता है।

सातवाँ वर्षावास त्रयस्त्रिंश-लोकमें बतलाया जाता है। उस वर्ष आषाढ़ पूर्णिमा (बुद्धचर्या पृष्ठ ८५)के दिन तथागत श्रावस्ती जेतवनमें थे। इस प्रकार इस समय (५२१ ई० पू०) जेतवन बन चुका था।

सारांश यह कि जेतवनके बननेके सात समय हमें मिलते हैं—

(१) सोलहवें वर्ष (५१२ ई० पू०)से पूर्व, (अट्ठकथा) पृ० २५९।
(२) पंद्रहवें ,, (५१३ ई० पू०)से पूर्व, (अट्ठकथा) पृ० २९४।
(३) दसवें ,, (५१८ ई० पू०)से पूर्व, (विनय सूत्र) पृ० २९६।
(४) ,, ,, ,, ,, (सूत्र) पृ० २९८।
(५) सातवें (५२१ ई० पू०)से पूर्व, (अट्ठकथा) पृ० २९९।
(६) द्वितीय (५२० ई० पू०) (विनय) पृ०, २९९।
(७) तृतीय (५२५ ई० पू०) (अट्ठकथा) पृ०, ३००।

इनमें पहले पाँचसे हमें यही मालूम होता है कि उक्त समयसे पूर्व किसी समय जेतवन तैयार हुआ, इसलिये उनका किसीसे विरोध नहीं है।

पूर्वाराम

जेतवनके बाद बौद्धधर्मकी दृष्टिमें दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान पूर्वाराम था। पहले हम पूर्वारामकी स्थितिके बारेमें संक्षेपसे विचार कर चुके हैं। पूर्वाराम और पूर्वद्वारके संबंधमें संयुक्तनिकाय[१] के और उदान[२] के इस उद्धरणसे कुछ प्रकाश पड़ता है।

"भगवान्...पूर्व्वारामसें...सायंकाल ध्यानसे उठकर बाहरी द्वारके कोठेके बाहर बैठे थे।....(उस समय) राजा प्रसेनजित् भगवान्के पास पहुँचा।...उस समय सात जटिल, सात निगंठ, सात अचेलक, सात एकसाटक और सात परिव्राजक, नख, लोम बढ़ाए अनेक प्रकारकी खारिया लेकर भगवान्के अविदूरसे जाते थे। तब राजा...आसनसे उठकर, उत्तरासंगको एक कंधेपर कर, दाहिने घुटनेको भूमिपर रख, उन सातों ...की ओर अंजलि जोड़ तीन बार नाम सुनाने लगा—भंते! मैं राजा *प्रसेनजित् कोसल हूँ...।*"

इसपर अट्ठकथा—"बाहरी द्वारका कोठा—प्रासाद—द्वारकोट्ठकके बाहर, विहारके द्वारकोट्ठकसे बाहरका नहीं। वह प्रासाद लौहप्रासादकी भाँति चारों ओर चार द्वारकोट्ठकोंसे युक्त, प्राकारसे घिरा था। उनमेंसे पूर्व द्वारकोट्ठकके बाहर प्रासादकी छायामें पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके...बैठे थे। अविदूरसे, अर्थात् अविदूर मार्गसे नगर (=श्रावस्ती)-में प्रवेश करते थे।"

इससे हमें निम्न-लिखित बातें मालूम होती हैं—

(१) पूर्वारामके प्रासादके चारों ओर चार फाटकोंवाली चहार-दीवारी थी।

---

[१] ३।२।१, पृ० २४; अ० क० २१६

[२] ६।२

(२) अनुरावपुरका लौहप्रासाद और पूर्वारामका प्रासाद कई अंशोंमें समान थे। संभवतः पूर्वारामके नमूनेपर ही लौह-प्रासाद बना था।

(३) इसके चारों तरफ चार दर्वाजे थे।

(४) (जाड़ेमें) सायंकालको पश्चिम द्वारके बाहर बैठकर प्रायः तथागत धूप लिया करते थे।

(५) वहाँ राजा प्रसेनजित् तथा दूसरे संभ्रांत व्यक्ति भी उपस्थित होते थे।

(६) उसके पासहीसे मार्ग था।

(७) इस स्थानसे नगरका पूर्वद्वार बहुत दूर न था, क्योंकि जटिलोंके लिये 'नगरको जाते थे' न कहकर 'नगरमें प्रवेश करते थे' कहा है।

(८) संभवतः पूर्वाराम[1]की ओर भी, जटिल, निगंठ (=जैन), अचेलक, एकसाटक और परिव्राजक साधुओंके विहार थे, जहाँसे वे नगरमें जा रहे थे।

पहले[2] यह बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार विशाखाका 'महा-लता आभूषण' एक दिन जेतवनमें छूट गया था। विशाखाने तथागतसे कहा —"भंते[3]! आर्य आनंदने मेरे आभूषणको हाथ लगाया...। उसको देकर, (उसके मूल्यसे) चारों प्रत्ययोंमें कौन प्रत्यय ले आऊँ? विशाखा! पूर्व द्वारपर, संघके लिये वासस्थान बनाना चाहिए। अच्छा भंते! यह कहकर तुष्टमानसा विशाखाने नव करोड़में भूमि ही खरीदी। अन्य नव करोड़से विहार बनाना आरंभ किया।...एक दिन अनाथपिंडकके घर भोजन करके शास्ता उत्तर द्वारकी ओर गए।....उत्तर द्वार जाते हुए देख चारिकाको जाएँगे...यह सुन...विशाखाने जाकर...कहा— भंते! कृताकृत जाननेवाले एक भिक्षुको लौटाकर (=देकर) जाएँ।—

---

[1] वर्तमान हनुमनवाँ। [2] देखो पृष्ठ ६४

[3] ध० प०, ४–८; अ० क०, १९९, ३८–३९

तो वैसे (भिक्षु) का पात्र ग्रहण कर।...विशाखाने ऋद्धिमान् समझ महा-मोग्गलानका पात्र पकड़ा।... उनके अनुभावसे पचास-साठ योजनपर वृक्ष और पाषाणके लिये आदमी जाते थे। बड़े बड़े पाषाणों और वृक्षोंको लेकर उसी दिन लौट आते थे।.....जल्दी ही दो-महला प्रासाद बना दिया गया। निचले तलपर पाँच सौ गर्भ (=कोठरियाँ) और ऊपरकी भूमि (=तल) पर पाँच सौ गर्भ, (कुल) एक हजार गर्भोसे सुशोभित ...था। शास्ता नौमास चारिका करके फिर श्रावस्ती आए। विशाखाके प्रासादमें भी काम नौ मासमें समाप्त हुआ। प्रासादके कूटको ठोस साठ जलघड़ेके बराबर लाल सुवर्णसे बनवाया। शास्ता जेतवनको जा रहे हैं, यह सुन (विशाखाने) आगे जा, शास्ताको अपने विहारमें लाकर..। उसकी एक सहायिका हजार मूल्यवाले एक वस्त्रको ले आकर—सहायिके! तेरे प्रासाद-में मैं इस वस्त्रका फर्श बिछाना चाहती हूँ; बिछानेका स्थान मुझे बतलाओ। वह उससे कम मूल्यवाले वस्त्रको न देख रोती हुई खड़ी थी। तब आनंद स्थविरने कहा—सोपान और पैर धोनेके स्थानके बीचमें पाद-पुंछन करके बिछा दो।.... विहारकी भूमिको खरीदनेमें नौ करोड़, विहार बनवानेमें नौ, और विहारके उत्सवमें नौ, इस प्रकार सब सत्ताईस करोड़ उसने बुद्ध-शासनमें दान किया। स्त्री होते, तथा मिथ्या-दृष्टिके घरमें बसने वालीका इस प्रकारका त्याग (और) नहीं है।"

इससे मालूम होता है—

(९) पूर्वाराम ९ मासमें बना था।

(१०) मोग्गलान बनानेमें तत्त्वावधायक थे।

(११) मकान बनवानेमें कुल खर्च २७ करोड़ हुआ।

(१२) यह दो-महला था। प्रत्येक तलमें ५०० गर्भ थे।

विनयपिटकमें है—

"विशाखा[१]... संघके लिये आलिंद (=बरामदा)-सहित, हस्तिनख

---

[१] विनयपिटक चुल्लवग्ग, सेनासनक्खंधक ६

प्रासाद वनवाना चाहती थी।"

इससे—

(१३) वह वरांमदा सहित था।

(१४) वह हस्तिनख प्रासाद था।

संयुक्तनिकायमें—

"भगवान्[1]...पूर्वाराममें...सायंकालको...पीछेकी ओर धूपमें पीठ तपाते वैठे हुए थे। आयुष्मान् आनंद भगवान्के पास गए।...और हाथसे भगवान्के शरीरको रगड़ते हुए बोले—आश्चर्य है भंते! अव भगवान्...का छवि-वर्ण उतना परिशुद्ध नहीं रहा। गात्र शिथिल है, सव झुर्रियाँ पड़ गईं हैं। शरीर सामने झुका हुआ है। चक्षु..(आदि) इंद्रियोंमें भी विपरीतता दिखलाई पड़ती है।"

इसपर अट्ठकथामें है—"प्रासाद पूर्व ओर छायासे ढँका था, इसीलिये प्रासादके पश्चिम-दिशाभागमें धूप थी। उस स्थानपर...वैठें थे।...यह हिम पड़नेका शीत समय था। उस वक्त महाचीवरको उतारकर सूर्यकिरणों-से पीठको तपाते हुए वैठे थे।"

इनसे ये वातें और मालूम होती हैं—

(१५) उस समय तथागतके शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गई थीं, आँखों आदिकी रोशनीमें अंतर आ गया था।

(१६) प्रधान द्वार पूर्व ओर था, तभी 'पीछेकी ओर' कहा गया है। संयुक्तनिकायहीमें है—

"मोग्गलान[2] ने...पैरके अँगूठेसे मिगारमाताके प्रासादको हिलाया। ...उन भिक्षुओंने (कहा)...यह मिगारमाताका प्रासाद गंभीरनेम, सुनिखात, अचल, असंप्रकम्प्य है...।"

---

[1] सं० नि०, ५।६।२६

[2] ५०।२।४

अट्ठकथाने गंभीरनेमका अर्थ 'गंभीर भूमिभागमें प्रतिष्ठित' किया
और 'सुनिखात'का, कूटकर अच्छी तरह स्थापित ।"

इनसे—

(१७) पूर्वाराम ऊँची और दृढ़ भूमिमें बनाया गया था।

(१८) "कूटकर गाड़ा गया था"से खंभोंको गाड़कर, लकड़ियों
बना मालूम होता है।

मज्झिमनिकायमें—

"हे गौतम, जिस[1] प्रकार इस मिगारमाताके प्रासादमें अंतिम सोप
कलेवर तक अनुपूर्व क्रिया देखी जाती है...।"

अट्ठकथामें—

"प्रथम सोपानफलक[2] तक, एक ही दिनमें सात महलका प्रासाद न
बनाया जा सकता। वस्तु शोधन कर स्तंभ खड़ा करनेसे लेकर चित्रक
करने तक अनुपूर्व क्रिया।"

इससे भी—

(१९) वह प्रासाद सात महलका था, जो (१२)से बिल्कुल विर
है, और बतलाता है कि किस प्रकार बातोंमें अतिशयोक्ति होती है।

(२०) मकान बनानेमें पहले भूमिको बराबर किया जाता था, फि
खंभे गाड़े जाते थे,...अंतमें चित्रकर्म होता था।

मज्झिमनिकायमें ही—

"जिस[3] प्रकार आनंद! यह मिगारमाताका प्रासाद हाथी, गा
घोड़ा-घोड़ीसे शून्य है, सोना-चाँदीसे शून्य है; स्त्री-पुरुष-सन्निपातसे शू
है"। इसकी अट्ठकथामें लिखा है—

---

[1] म० नि०, ३।१।७, गणक-मोग्गलानसुत्त, १०७

[2] अ० क०, ८५५

[3] म० नि०, ३।२।७, चूल सुञ्ञतासुत्त, ११९

"वहाँ काष्ठ-रूप[1], पुस्त-रूप, चित्र-रूपमें वनें हाथी आदि हैं। वैश्रवण मांधाता आदिके स्थित स्थानपर चित्रकर्म भी किए गए हैं। रत्न-परिसेवित जँगले, द्वारवंध, मंच, पीठ आदि रूपसे स्थित, तथा जीर्ण प्रतिसं-स्करणार्थ रखा हुआ सोना-चाँदी है। काष्ठरूपादिके रूपमें, तथा प्रश्न पूछने आदिके लिये आनेवाले स्त्री-पुरुष हैं। इसलिये वह (मिगारमातु पासाद) उनसे शून्य है,का अर्थ है—इंद्रिययुक्त जीवित हाथी आदिका, तथा इच्छानुसार उपभोगयोग्य सोने-चाँदीका, नियमपूर्वक वसनेवाले स्त्री-पुरुपोंका अभाव"।

इससे —

(२१) वह सोने-चाँदीसे शून्य था। अट्ठकथाकी इसपरकी लीपा-पोती सिर्फ यही वतलाती है कि कैसे पीछे भिक्षुवर्ग चमक-दमकके पीछे पड़कर, तावील किया करता था।

दीघनिकायकी अट्ठकथामें—

"(विशाखा)[2] दशवलकी प्रधान उपस्थायिकाने उस आभूपणको देकर नव करोड़से... करीस भर भूमिपर प्रासाद वनवाया। उसके ऊपरी भागमें ५०० गर्भ, निचले भागमें ५०० गर्भ, १००० गर्भोंसे सुशोभित। वह प्रासाद खाली नहीं शोभा देता था, इसलिये उसको घेरकर, साढ़ें पाँच सौ घर, ५०० छोटे प्रासाद और ५०० दीर्घशालाएँ वनवाईं...। अनार्थपिंडकने...श्रावस्तीके दक्षिण भागमें **अनुराधपुरके महाविहारसदृश** स्थानपर जेतवन महाविहारको वनवाया। विशाखाने श्रावस्तीके पूर्व भागमें **उत्तमदेवी** विहारके समान स्थानपर पूर्वारामको वनवाया। भग-वान्‌ने इन दो विहारोंमें नियमित रूपसे निवास किया। (वह) एक वर्षा

---

[1] अ० क०। रूप=मूर्त्ति।

[2] दी० नि०, आनञ्जसुत्त २०, अ० क० पृ० १४। अं० नि० अ० क० १।७।२ भी।

जेतवनमें व्यतीत करते थे, एक पूर्वाराममें ।"

(२२) विहार एक करीस अर्थात् प्राय: ३ एकड़ भूमिमें बना था।

(२३) चारों ओर हजारों घरों, छोटे प्रासादों, दीर्घशालाओंका लिखना अट्ठकथाकारोंका अपना काम मालूम होता है।

(२४) अनुराधपुरमें भी जेतवन और पूर्वारामका अनुकरण किया गया था। पूर्वाराम श्रावस्तीके उसी प्रकार पूर्व तरफ था, जैसे अनुराधपुर (सिंहल)में उत्तरदेवी विहार।

जिस प्रकार सुदत्तसेठका नाम अनाथपिंडक प्रसिद्ध है; उसी प्रकार विशाखा मिगारमाताके नामसे प्रसिद्ध है। नामसे, मिगार विशाखाका पुत्र मालूम होगा, किंतु बात ऐसी नहीं है, मिगार सेठ विशाखाका ससुर था। इस नामके पड़नेकी कथा इस प्रकार है—

"विशाखा[1] ... अंगराष्ट्र (भागलपुर, मुँगेर जिले)के भद्दिय (= मुंगेर) नगरमें मेंड़क सेठके पुत्र धनंजय सेठकी अग्रमहिषी सुमना देवीके कोखसे पैदा हुई...। बिंबिसार राजाके आज्ञा-प्रवर्तित स्थान (अंग-मगध)में पाँच अतिभोग व्यक्ति **जोतिय, जटिल, मेंडक, पुण्णक** और **काक-वलिय** थे...। श्रावस्तीमें कोसल राजाने बिंबिसारके पास संदेश भेजा ...हमको एक महाधनी कुल भेजो।... राजाने...धनंजयको...भेजा। तब कोसल राजाने श्रावस्तीसे सात योजनके ऊपर साकेत (अयोध्या) नगरमें श्रेष्ठीका पद देकर (उसे) बसा दिया। श्रावस्तीमें मिगारसेठका पुत्र पूर्णवर्द्धनकुमार वयःप्राप्त था।...मिगार सेठ (बारातके साथ) कोसल राजाको लेकर गया।...चार मास (उन्होंने वहीं) पूरे किये। ...(धनंजय सेठने विशाखाको) उपदेश देकर दूसरे दिन सभी श्रेणियोंको इकट्ठा करके राजसेनाके बीचमें आठ कुटुंबियोंको जामिन देकर—'यदि गए हुए स्थानपर मेरी कन्याका कोई दोष उत्पन्न हो, तो तुम उसे शोधन

---

[1] अं० नि०, १।७।२, अ० क० २१९

करना'—कहकर नौ करोड़ मूल्यके 'महालता' आभूषणसे कन्याको आभूषित कर, स्नान चूर्णके मूल्यमें ५४ सौ गाड़ी धन दे...। मिगारसेठीने... सातवें दिन...नंगे श्रमणकोंको बैठाकर, (कहा)—मेरी बेटी आवे, अर्हतोंकी वंदना करे...। वह...उन्हें देख...'धिक्, धिक्' निंदा करती चली गई। ...नंगे श्रमणोंने सेठकी निंदाकी—...क्यों गृहपति! दूसरी नहीं मिली? श्रमण गौतम की श्राविका (शिष्या) महाकालकर्णीको किसलियें इस घरमें प्रवेश कराया।...(सेठ) आचार्यो! बच्ची है...आप चुप रहें—यह कह नंगोंको बिदाकर, आसन पर बैठ सोनेकी कर्छुल लेकर विशाखा द्वारा परोसे (खाद्यको) भोजन करता था।...उसी समय एक मधूकरीवाला भिक्षु घरके द्वारपर पहुँचा...। वह ...स्थविरको देख-कर भी...नीचे मुँहकर पायसको खाता ही रहा। विशाखाने... स्थविरसे (कहा)—माफ करें भंते! मेरा ससुर पुराना खाता है। उस (सेठ)ने अपने आदमियोंसे कहा,...इस पायसको हटाओ, इसे (=विशा-खाको) भी इस घरसे निकालो। यह ऐसे मंगल घरमें मुझे अशुचि-खादक बना रही है...। विशाखाने...कहा—तात! इतने वचन मात्र-से मैं नहीं निकलती। मैं कुंभदासीकी भाँति पनघटसे तुम्हारे द्वारा नहीं लाई गई हूँ। जीते मा बापकी लड़कियाँ इतने मात्रसे नहीं निकला करतीं,.. आठों कुटुंबिकोंको बुलाकर मेरे दोषादोषकी शोध कराओ।...सेठने आठ कुटुंबिकोंको बुलाकर कहा—यह लड़की सप्ताह भी न परिपूर्ण होते, मंगल घरमें बैठे हुए मुझे अशुचि-खादक बतलाती है।...ऐसा है अम्म?—तातो! मेरा ससुर अशुचि खानेकी इच्छावाला होगा, मैंने ऐसा करके नहीं कहा; एक पिंडपातिक स्थविरके घर-द्वारपर स्थित होनेपर, यह निर्जल पायस भोजन करते हुए, उसका ख्याल (मनमें) नहीं करते थे। मैंने इसी कारणसे—'माफ करो भंते! मेरा ससुर इस शरीरसे पुण्य नहीं करता, पुराने पुण्यको खाता है,'...कहा—आर्य, दोष नहीं है, हमारी बेटी तो कारण कहती है, तुम क्यों क्रुद्ध होते हो।...(फिर' कुछ और

इलजामोंके जाँच करनेपर)—वह और उत्तर न दे, अधोमुख हो बैठ गया। फिर कुटुंबिकोंने उससे पूछा—क्यों सेठ, और भी दोष हमारी बेटीका है? —नहीं आर्यो!—क्यों फिर निर्दोषको अकारण घरसे निकलवाते हो? उस समय विशाखाने कहा—पहले मेरे ससुरके वचनसे मेरा जाना ठीक न था। मेरे आनेके दिन मेरे पिता ने दोष शोधनके लिये तुम्हारे हाथमें रख-कर (मुझे) दिया था। अब मेरा जाना ठीक है। यह कह, दासी दासोंको यान तैयार करनेके लिये आज्ञा दी। तब सेठने उन कुटुंबिकोंको लेकर कहा —अम्म! अनजाने मेरे कहनेको क्षमा कर।—तात, तुम्हारे क्षंतव्यको क्षमा करती हूँ; किंतु मैं बुद्धशासनमें अनुरक्त कुलकी बेटी हूँ; हम बिना भिक्षुसंघके नहीं रह सकतीं। यदि अपनी रुचिके अनुसार भिक्षु-संघकी सेवा करने पाऊँगी, तो रहूँगी।—अम्म! तू अपनी रुचिके अनुसार अपने श्रमणोंकी सेवा कर।

तब विशाखाने निमंत्रितकर दूसरे दिन... बुद्धप्रमुख भिक्षुसंघ को बैठाया।... मेरा ससुर आकर दशबलको परोसे (यह खबर भेजी)।... (मिगार सेठने बहाना करदिया)...। आकर दशबलकी धर्मकथाको सुने ...। मिगारसेठ जाकर कनातसे बाहर ही बैठा।... देशनाके अंतमें सेठने **सोतापत्ति-फल**में प्रतिष्ठित हो कनातको हटा.. पंचंगसे वंदनाकर, शास्ताके सामने ही—'अम्म! तू आजसे मेरी माता है'—यह कह विशाखाको अपनी माताके स्थानपर प्रतिष्ठित किया। तभीसे विशाखा 'मिगारमाता' प्रसिद्ध हुई।"

स्थानको देखनेपर हनुमनवाँही पूर्वाराम मालूम होता है।

तीर्थिकाराम

समयप्पवादक-परिव्वाजकाराम—पहिले[१] पाँच प्रकारके अन्य तीर्थिक—जटिल, निर्ग्रंथ आदि बतलाए हैं। अचेलक[१] एकदम नंगे रहते

---

१ ध० प० २२।८, अ० क० ५७८

थे। अट्ठकथामें—एक दिन भिक्षुओंने निग्रंथोंको देखकर कथा उठाई—आवुसो! सब तरह बिना ढँके हुए अचेलकोंसे यह निग्रंथ (=जैन) श्रेष्ठतर हैं, जो एक अगला भाग भी तो ढाँकते हैं, मालूम होता है ये सलज्ज हैं। यह सुन निग्रंथोंने कहा—इस कारणसे नहीं ढाँकते हैं, पाँशु धूलि भी तो पुद्गल (=जीव) ही है। प्राणी हमारे भिक्षा-भाजनमें न पड़ें, इस वजहसे ढाँकते हैं।" एकशाटक और परिव्राजकोंका जिक्रकर चुके हैं। इन सभी मतोंके साधुओंके आराम श्रावस्तीके बाहर फैले हुए थे। ये अधिकतर श्रावस्तीके दक्षिण और पूर्व तरफमें रहे होंगे, जिधर कि पूर्वाराम और जेतवन थे। चिंचा और सुंदरीके वर्णनसे भी पता लगता है कि जेतवनकी ओर तीर्थिकोंके भी स्थान थे। इनमें **समयप्पवादक तिंदुकाचीर एकसालक** मल्लिकाका आराम बहुत ही बड़ा था। हमने इसको **चीरेनाथके** मंदिरकी जगहपर निश्चित करनेके लिये कहा है। दीघनिकायमें कहा है—"पोट्ठपाद[1] परिव्राजक समयप्पवादक... मल्लिकाके आराममें तीस सौ परिव्राजकोंकी बड़ी परिषद्के साथ निवास करता था।" अ० क०में—उस स्थानपर चंक, तारुक्ख, पोक्खरसाति, "आदि ब्राह्मण, निग्रंथ, अचेलक, परिव्राजक आदि प्रव्रजित एकत्र हो अपने अपने समय (=सिद्धान्त)-का व्याख्यान करते थे; इसीलिये वह आराम समयप्पवादक (कहा जाता था)... ।"

मज्झिमनिकायमें—

"समणमंडिकापुत्र उग्गहमाण परिव्राजक समयप्पवादक. . .मल्लिकाके आराममें सात सौ परिव्राजकोंकी बड़ी. . . . परिषद्के साथ वास करता था। उस समय पंचकंग गृहपति दोपहरको श्रावस्तीसे भगवान्‌के दर्शनके लिये निकला। तब पंचकंग गृहपतिको ख्याल हुआ—भगवान्‌के दर्शनका यह समय नहीं है, भगवान् इस समय ध्यानमें हैं. . .। क्यों न. . . मल्लिकाके

---

[1] दी० नि०, ९

आराममें चलूँ।"

ये दोनों उद्धरण दीघनिकाय और मज्झिमनिकायके हैं; जो कि त्रिपिटकके अत्यंत पुराने भाग हैं[१]। इनसे हमें ये बातें स्पष्ट मालूम होती हैं—

(१) यह एक बड़ा आराम था, जिसमें ७०० से तीन हजार तक परिव्राजक निवास कर सकते थे।

(२) नगरसे जेतवन जानेवाले द्वार (=दक्षिण द्वार)के बाहर था।

(३) यहाँ बैठकर ब्राह्मण और साधु लोग नाना प्रकारकी दार्शनिक चर्चाएँ किया करते थे।

(४) बुद्ध तथा उनके गृहस्थ और विरक्त शिष्य यहाँ जाया करते थे।

जेतवनके पीछे आजीवकोंकी भी कोई जगह थी। क्योंकि जातकअट्ठकथामें आता है—

"उस समय[२] आजीवक जेतवनके पीछे नाना प्रकारका मिथ्या तप करते थे। उक्कुटिक प्रधान, वग्गुलिव्रत, कंटकाप्रश्रय, पंचातप, तपन आदि।"

परिव्राजकारामका बनना रुक जानेसे, जेतवनके बहुत समीप और कोई किसी ऐसे आरामका होना असंभव नहीं मालूम होता। शायद जेतवनके पीछेकी ओर खुली ही जगहमें वे तपस्या करते रहे होंगे।

सुतनु-तीर—[३]संयुक्तनिकायसे पता लगता है, सुतनुतीर पर भी

---

[१] "आयुष्मान् सारिपुत्र...(जेतवनसे) श्रावस्तीमें पिंडके लिये चले।...बहुत सवेरा है......(इसलिये) जहाँ अन्य तीर्थिकों, परिव्राजकोंका आराम था वहाँ गए।"
—अं० नि० ७।८।११, ९।२।८, १०।३।७

[२] जातकट्ठकथा १।१४।५

[३] "एक समय आयुष्मान् अनुरुद्ध सावत्थीमें सुतनुके तीर विहार करते थे।"—सं० नि०, ५१।१।३

भिक्षुओंका कोई विहार था। 'तीर' शब्दसे तो पता लगता है, सुतनु कोई जलाशय (=छोटी नदी, या बड़ा तालाव) होगा। संभवतः वर्तमान ओडाझार, खडौआझार सुतनुतीरको सूचित करते हैं। ऐसा होनेपर वर्तमान खजुहा ताल प्राचीन सुतनु है।

अंधवन—श्रावस्तीके पास एक और प्रसिद्ध स्थान अंधवन था। संयुत्तनिकाय-अट्ठकथामें—

"काश्यप[1] सम्यक्-संबुद्धके चैत्यकी मरम्मतके लिये धन एकत्रित करा कर आते हुए यशोवर नामक धर्मभाणक आर्यपुद्गलकी आँखें निकालकर, वहाँ (स्वयं) अंधे हुए पाँच सौ चोरोंके वसनेसे...**अंधवन** नाम पड़ा। यह श्रावस्तीसे दक्षिण तरफ गव्यूति भर दूर राजरक्षासे रक्षित (वन) था..। यहाँ एकांतप्रिय (भिक्षु)...जाया करते थे।"

फाहियान[2]ने इसपर लिखा है—

"विहारसे चार 'ली' दूर उत्तर-पश्चिम तरफ़ एक कुंज है।... पहले ५०० अन्धे भिक्षु इस वनमें वास करते थे। एक दिन उनके मंगल के लिये बुद्धदेवने धर्मव्याख्या की, उसी समय उन्होंने दृष्टिशक्ति पाली। प्रसन्न हो उन्होंने अपनी अपनी लकड़ियोंको मिट्टीमें दवाकर प्रणाम किया। उसी दम वे लकड़ियाँ वृक्षके रूपमें, और शीघ्र ही वनके रूपमें परिणत हो गईं। ...इस प्रकार इसका यह नाम (अंधवन) पड़ा। जेतवनवासी अनेक भिक्षु मध्याह्न भोजन करके (इस) वनमें जाकर ध्यानावस्थ होते हैं।"

इससे मालूम होता है—

(१) काश्यप बुद्धके स्तूपसे श्रावस्तीकी ओर लौटते समय यह स्थान रास्ते में पड़ता था।

(२) श्रावस्तीसे दक्षिण एक गव्यूति या प्रायः २ मील पर था।

---

[1] स० नि०, ५।१।१०, अ० क०, ११४८

[2] ch. XX

(३) जेतवनसे उत्तर-पश्चिम ४ 'ली' (=१ मील से कम) था। दूरी और दिशाएँ इन पुरानी लिखंतोंमें शब्दशः नहीं ली जा सकती। इसलिये **पुरैना**का ध्वंस अंधवन मालूम होता है। यह **भींटी**से श्रावस्तीके आनेके रास्तेमें भी है। भींटी को सर जान मार्शल[१] ने काश्यप-स्तूप निश्चित किया है।

पांडुपुर—श्रावस्तीके पास पाँडुपुर नामक गाँव था। धम्मपद-अट्ठकथामें "श्रावस्तीके अविदूर पाँडुपुर नामक एक गाँव था। वहाँ एक केवट वास करता था"।

इस गाँवके बारेमें इसके अतिरिक्त और कुछ मालूम नहीं है।

मैंने इन थोड़ेसे पृष्ठोंमें श्रावस्ती और उसके पासके बुद्धकालीन स्थानों-पर विचार किया है। सुत्त, विनय और उसकी अट्ठकथाओंकी सामग्री शायद ही कोई छूटी हो। यहाँ मुझे सिर्फ भौगोलिक दृष्टिसे ही विचार करना था, यद्यपि कहीं कहीं और बातें भी आ गई हैं[२]।

---

[१] A.S.R., 1910-11, p. 4

[२] जेतवनके नकशोंके लिये देखो Arch. Survey of India की १९०७–०८ और १९१०–११ की रिपोर्टें।

(६)

ज्ञातृ=जथरिया

पण्डित ज० श० एम० ए० ने मेरे वसाढ़ की खुदाई नामक लेखमें आये कुछ वाक्योंके खण्डनमें, एक लेख लिखा। उसको पढ़नेसे मालूम होता है कि, मेरे लेखसे उन्हें दुःख हुआ है। संभवतः कुछ और भी भूमिहार-बन्धुओंको दुःख हुआ हो। अपने उक्त कथनको सत्यके समीपतम समझते हुए भी वस्तुतः मुझे दुःख है कि, उससे इन भाइयोंको मानसिक कष्ट पहुँचा। उन चन्द पङ्क्तियोंमें मैं अपने भावोंको संक्षेपसे भी नहीं प्रकट कर सका था (और, इस छोटे लेखमें भी शायद न कर सकूँगा); तोभी कुछ गलतफहमियोंको हटा देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

शर्माजीके लेखको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) उन्होंने युक्तिसे मेरी बातोंका खण्डन करना चाहा है; (२) मुझे भूमिहार ब्राह्मणोंका विरोधी समझा है।

जथरिया वंशके लिच्छवि (ज्ञातृ) न होनेके वारेमें आपने कहा है—

(१) "जेथरियावंश या वेतिया-राजवंशसे लिच्छवि क्षत्रियोंकी ज्ञातृ अथवा किसी भी शाखासे कोई भी सम्पर्क नहीं। वे इतने कालसे विहारके निवासी भी नहीं कि, उनका कोई भी सम्वन्ध लिच्छवि जातिसे ठहराया जा सके। वे विशुद्ध ब्राह्मण हैं तथा महाकवि वाणभट्टके वंशज सोनभदरियों और अथर्वोंको छोड़कर अन्यान्य भूमिहार ब्राह्मणोंकी तरह पश्चिमके जिलोंसे मुसलमानी शासनकालमें या उसके कुछ पूर्व विहारमें आकर वस गये हैं।"

(२) "जयस्थल"से ही जैथरकी उत्पत्ति सर्वथा भापा-विज्ञानके अनुकूल है, 'ज्ञातृ'से नहीं। ज्ञातृ शब्दका अपभ्रंश "जैथरिया"मान लेना अनुचित और अपने भापाविज्ञान-सम्बन्धी ज्ञानकी अल्पज्ञता दिखाना है।" "भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे 'ज्ञातृ' शब्दका "जैथरिया" बन जाना कदापि सम्भव नहीं।"

(३) "केवल ज्ञातृ शब्दके आधारपर जैथरिया लोगोंको ज्ञातृवंशीय लिच्छवि क्षत्रिय मान लेना तो लालबुझक्कड़की बूझको भी मात कर देना है।"

(४) "सम्भव है, लिच्छवि-वंश (जो बुद्धके समयमें ही व्रात्य हो चुका था) पतित होकर नीच जातियोंमें मिल चुका हो; अथवा, यदि, तिर्हुतके अहीर ही उनके वंशज हों, तो क्या आश्चर्य ?"

मैं आरम्भमें यह कह देना चाहता हूँ कि, ज्ञातृ और जेथरियाके एक होनेकी खोजका श्रेय मुझे नहीं है; बल्कि हमारे देशके गौरवस्वरूप और भारतके प्राचीन इतिहासके अद्वितीय विद्वान् श्रद्धेय डा० काशीप्रसाद जायसवालने पहले पहल इसका पता लगाया था। मैंने प्रमाणकी कुछ कड़ियाँ भर और जोड़ दी हैं। ज्ञातृ और जथरिया क्यों एक हैं:—

(१) "भापा-विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञानकी अल्पज्ञता" क्या, अज्ञताको स्वीकार करते हुए भी ज्ञातृसे ज्ञातर, जथर या जेथर, फिर 'इया' लगा कर जथरिया स्वीकार करनेमें मैं गलतीपर नहीं हूँ; और, न "लाल बुझक्कड़की बूझको" मात कर रहा हूँ। ज्ञातृ (=ज्ञातर=जतर=जथर), इका (=इया)=जथरिया, जेथरिया।

(२) जैन धर्मके संस्थापक वर्द्धमान महावीरको नात-पुत्त और ज्ञातृ-पुत्र कहा जाता है; क्योंकि वह ज्ञातृकुलमें उत्पन्न हुए थे। उनका गोत्र काश्यप था, यह सभी जैन ग्रन्थोंमें मिलता है। जेथरियोंका भी गोत्र काश्यप है। यह आकस्मिक नहीं हो सकता।

(३) वसाढ़ (=वैशाली) जिस परगने में है, वह रत्ती कहा जाता

है। यह परगना आजकल भी जेथरियोंका केन्द्र है। रत्ती=लत्ती-नत्ती=नाती=नादि (पाली) है। बुद्धके समय वज्जीदेशमें नादिका नामक ज्ञातृवंशियोंका एक बड़ा गाँव था, जिसका संस्कृत रूप ज्ञातृका होता है।

(४) ज्ञातृ लोग जिन लिच्छवियोंके[1] ९ विभागोंके एक प्रमुख विभाग-में थे, ई० पू० छठी-पाँचवीं शताब्दियोंमें उनकी शक्ति इतनी प्रबल थी कि, मगधराजको भी डरके मारे गंगातटपर पाटलिग्राममें एक किला बनाना पड़ा; और आगे चलकर पाटलिपुत्र (=पटना) नगरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। मगध-साम्राज्यमें सम्मिलित होनेपर भी लिच्छवि प्रभावहीन नहीं हो गये, यह तो इसीसे प्रकट है कि, चौथी शताब्दीमें उनकी सहायता से गुप्तोंको अपना साम्राज्य कायम करनेमें सफलता मिली। ईसाकी चौथी-पाँचवीं शताब्दियोंमें लिच्छवियोंकी शक्तिको ही प्रकट करनेके लिये लिच्छवि-कुमारी कुमारदेवीका पुत्र सम्राट् समुद्रगुप्त अपनेको "लिच्छवि-दौहित्र" कहकर अभिमान करता है। ईसाकी पाँचवीं शताब्दीतक जो लिच्छवि जाति अपने अस्तित्वको ही कायम नहीं रख सकी थी, बल्कि पूरी पराक्रम-शालिनी थी, वह इसके बाद बिलकुल नष्ट हो गयी या "पतित होकर नीच जातियोंमें मिल" गई, यह विश्वास करनेके लिये कोई कारण नहीं। विशेष कर जब कि, उक्त लक्षणोंवाली एक जातिको हम उसी स्थानपर पाते हैं।

(५) ज्ञातृ (लिच्छवि) वंश जिस वैशालीके आसपास ई० पू० छठी शताब्दीसे ईसाकी पाँचवीं शताब्दीतक बसता था, वहीं अब भी जयरिया वंशका प्राधान्य है। छपरा जिलेके मसरख थानेके जेथरडीहमें ज्ञातृओंका

---

[1] लिच्छवियोंके नौ वर्गोंमें जेथरियोंके अतिरिक्त दिघवइत भी मालूम होते हैं। यदि मुजफ्फरपुर-चम्पारन जिलोंके पर्गनों और प्रधान जातियोंको मिलाकर खोज की जाये, तो शायद और भी कुछ वर्गोंका पता लग जाये।

निवास हो सकता है। (छपरा जिलेका वह हिस्सा तो प्राचीन वज्जीदेशका भाग ही है। उस समय गंडककी धार घोघाडी और मही नदियोंसे होकर वहती थी।) मेरी तुच्छ रायमें जेथरियों (=ज्ञातृओं) की वजहसे उक्त स्थानका नाम जेथरडीह पड़ा होगा। जेथरडीहके कारण जातिका नाम जेथरिया नहीं पड़ा। एक कहावतको मैंने भी सुना है कि, जेथरिया "ब्राह्मण" लोग नीमसारसे किसी कुष्टि राजाको अच्छा करनेके लिये आये। पीछे भूमिका दान लेकर वहीं रह गये। नीमसारसे आनेका मतलव यह है कि, वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। फिर वह मगहके ब्राह्मणोंसे ही क्यों सम्वन्ध जोड़ सके, सरवरियोंसे क्यों नहीं, जो कि, अपनेको कान्यकुब्ज भी कहते हैं? मगधके वाभनों (="भूमिहार ब्राह्मणों") को मैं शुद्ध प्राचीन मगध-देशीय ब्राह्मणोंकी सन्तान मानता हूँ। इस वंशने वाण जैसे महाकविको ही नहीं पैदा किया, वल्कि भगवान् वुद्धके सवसे प्रधान तीन शिष्यों (सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और महाकाश्यप) को पैदा करनेका गौरव भी इसे ही है। सम्राट् अशोकके गुरु मौद्गलि-पुत्र तिष्य भी इसी कुलके रत्न थे। बौद्ध महापुरुषों और महान् दार्शनिकोंके पैदा करनेमें मगध-ब्राह्मण (=वाभन)-कुल सवसे आगे रहा; इसीके लिये बौद्धद्वेषी ब्राह्मणोंके प्रभुत्वमें उन्हें और उनके मगध देशको नीच कहना और लिखना शुरू किया गया।

जेथरियोंको ज्ञातृओंके साथ सम्वन्ध न जोड़ने देनेके लिये "पश्चिमके जिलोंसे मुसलमानी शासनकालमें या उसके कुछपूर्व विहारमें आकर उनका वसना" कहना व्यर्थकी खींचातानी है। आप वगौछियों (हथुआ राजवंश) को नवागन्तुक कहना चाहते हैं, फिर हथुआकी ८०-८५ पीढ़ियाँ कैसे गुजरीं? मेरी समझमें व्यर्थके ब्राह्मण वनानेके प्रयत्नमें (जिसका मूल निकट भविष्यमें ऐसा न रहेगा) एक कीर्तिशाली जातिके इतिहासको नष्ट करना है।

(६) गणराज्योंके क्षत्रियोंने कभी अपनेको ब्राह्मणोंके चरणोंका दास नहीं होने दिया। वौद्ध-जैन-ग्रन्थोंको देखनेसे पता लगता है कि,

इन क्षत्रियोंको शुद्ध आर्यरक्तकी रक्षाका बहुत खयाल था। जहाँ उस समयके ब्राह्मण अनुलोम, प्रतिलोम—दोनों प्रकारके विवाहोंको करके अपने रक्तमें आर्य-भिन्न-रक्त मिला रहे थे, वहाँ यह क्षत्रिय लोग आर्योंके गौरवर्ण, अभि-नीलनेत्र और तुंग नासाकी रक्षाके लिये न अनुलोम ही विवाह जायज मानते थे, न प्रतिलोम ही। पीछे बौद्धधर्मके प्रभावके बढ़नेके साथ, जातिवादका खयाल जब ढीला होने लगा, तब इन्होंने ब्राह्मणोंकी कन्याओंको भी लेना शुरू किया। पहले जातिभेद इतना कड़ा न था। पीछे, जब गुप्तोंके कालके बाद कन्नौजके प्रभुत्वके समयमें जातियोंका अलग-अलग गुट बनना शुरू हुआ, तब कितने ही गणतन्त्रोंके क्षत्रिय ब्राह्मणोंमें चले गये, कितने ही क्षत्रियोंमें। मल्ल क्षत्रियोंके बगौछिया भूमिहार ब्राह्मण (हथुआ राजवंश), राजपूत (मझौली राजवंश) और सैंथवार (पडरौना राजवंश)—इन तीन वर्गोंमें बँटनेकी बात मैं किसी दूसरे लेखमें कह चुका हूँ। (याद रहे, जहाँ लोग बगौछिया नामका कुत्ते-बिल्लीकी कहानीसे व्याख्यान कर देना चाहते हैं, वहाँ मल्लोंके एक कुलका गोत्र ही व्याघ्रपद था, जिससे यह नाम अधिक सार्थक हो सकता है।) इसी प्रकार टटिहा या तटिहा भूमिहारों और राज-पूतोंको ही ले लीजिये। उनके नाम, मूल, गोत्र सब एक हैं; और बतलाते हैं कि, यह दोनों एक ही वंशकी सन्तानें हैं। ऐसे और भी कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

गणक्षत्रियोंके रक्तकी शुद्धताकी बात मैं कह चुका हूँ। जेथरियोंके आर्य-रक्तके बारेमें मैं श्रद्धेय जायसवालजीकी ही कही बातको कहता हूँ। एक बार वह बसाढ़ गये थे। वहाँ उन्होंने एक भूमिहार लड़केको भैंस चराते देखा, जिसका शरीर ही देदीप्यमान गौरवर्णका नहीं था, बल्कि आँखें भी नीली थीं। मैंने स्वयं चम्पारनमें एक नीली आँखों वाले गोरे नौजवानको जब जेथरिया कहा, तो उसे आश्चर्य होने लगा, कि मैं कैसे जान गया। आज भी आप इन भूमिहारोंमें आर्योंके शरीरलक्षण जितनी प्रचुरता से पायेंगे, उतने ब्राह्मणोंमें नहीं पायेंगे। कारण, ब्राह्मणोंने, चाहे

किसी लोभसे ही सही, बहुत पहलेसे ही अनुलोम विवाह करके अपने भीतर आर्य-भिन्न रुधिरको प्रविष्ट करना शुरू किया, जबकि, इस बातमें यह गण-क्षत्रिय दक्षिणी अफ्रिकाके गोरोंकी भाँति वर्ण (=रंग)के कट्टर भक्त थे। हजारों वर्षों तक आर्यरक्तकी शुद्धताके कायम रखनेका प्रयत्न अब भी इन्हें इतने अधिक आर्यरक्तका धनी बनाये हुए है।

(७) जेथरियोंकी क्षत्रिय-वीरताकी बात मैं पहले ही कह चुका हूँ।

मेरे लेखको पढ़कर श्री ज० श० को खयाल हुआ है कि, मैं भूमिहार ब्राह्मणोंका विरोधी हूँ। इसी भाव से प्रेरित होकर उन्होंने अपने लेख में ये वाक्य लिखे हैं—

(१) " 'गंगा' में पारसाल भी उन्होंने हथुआ राजवंशके सम्बन्धमें ऐसीही ऊटपटाँग बातें लिख डाली थीं।"

(२) 'क्या सांकृत्यायनजीको भूमिहार ब्राह्मण-समाजसे ही विरक्ति है? क्या इसी कारण एक-एककर उन्होंने उसके सभी दृढ़ अङ्गोंपर आक्रमण करना अपना कर्तव्य बना रखा है? यह कार्य नितान्त हेय है।"

मैं हनुमानजी नहीं हूँ कि, अपने हृदयको चीरकर हृद्गत् भावोंको प्रकट कर सकूँ। यदि उक्त लेखक मेरे छपराके भूमिहार मित्रोंसे पूछें, तो शायद उन्हें मेरे भाव मालूम हो जायँ। बाबू गुणराजसिंह (वकील, छपरा), जिनका घर वर्षों तक मेरा घर रहा है, भूमिहार ब्राह्मण ही हैं। इस खयालको हटानेके लिये मैं छपरेके दर्जनों सम्भ्रान्त शिक्षित भूमिहार बन्धुओं को पेश कर सकता हूँ।

दो वर्ष पूर्व (१९३१ ई०) मुझे गया जिलेके गाँवोंमें घूमनेका मौका मिला था। वहाँ मुझे कितने ही भारद्वाज तथा दूसरे गोत्रोंके बाभनोंके गाँव मिले थे। सचमुच उस समय बार-बार मेरे सामने इन्हीं कुलोंमें उत्पन्न भगवान् बुद्धके महान् शिष्योंकी तस्वीरें आ जाती थीं; और, इस महान् जातिके सम्मुख मेरा मस्तक झुक जाता था।

मैं भूमिहार जातिको नीचे गिरानेके लिये "एक-एक कर उसके सभी

दृढ़ अङ्गोंपर आक्रमण करना अपना कर्तव्य" नहीं समझ रहा हूँ। इतिहासके एक तुच्छ विद्यार्थीके नाते जब कहीं इतिहासकी कोई अनमोल बात पाता हूँ, तब उसका संग्रह जरूर करना चाहता हूँ। लिच्छवियोंका शक्तिशाली गणतन्त्र, उनकी स्वतन्त्रप्रियता, न्यायप्रियता हमारे देशके लिये गौरवकी चीजें हैं। हमारी भविष्यकी सन्तान (जो कि प्रजातन्त्रकी अनन्य भक्त होगी) तो वैशालीको तीर्थ मानेगी। ऐसी दशामें यदि मैं किसी समुदायको उन्हीं प्रजातन्त्र-संस्थापकोंका रक्त-सम्बन्धी समझता हूँ, तो उसमें आक्रमण करनेकी गंध कहाँसे आती है। मेरी समझमें जेथरिया युवक एक ज्ञान-जड, कूपमण्डूक, भिखमंगी जाति[1] बननेकी अपेक्षा भारतके अद्वितीय पराक्रमी प्रजातन्त्रके संस्थापक होनेको अधिक गौरवकी बात समझेंगे।

लेखकने मेरे विचारोंको तो "पुरातत्त्वाङ्क" के "भारतमें मानव विकास" नामक लेखमें पढ़ लिया होगा। मैं तो ब्राह्मण जातिका बनना आर्योंपर अनार्योंके प्रभावके कारण मानता हूँ। भारतमें आनेसे पूर्व यह स्वर्गकी ठेकेदारी आर्योंने एक फिर्केको नहीं दे रखी थी। मैं जब ब्रह्मा बाबा-को ही नहीं मानता हूँ, तो उनके मुखसे पैदा होनेके कारण किसीको बड़ा कैसे मानूँगा? अहीर जातिको छोड़कर भूमिहारोंकी जातिको ही मैं बिहारमें सबसे अधिक आर्य-रक्तवाली मानता हूँ। अहीर पीछेसे आये; इसलिये उनमें अधिक आर्य-रक्त रहना स्वाभाविक है,; लेकिन भूमिहारोंमें आर्य-रक्तका आधिक्य उनके अपने संयमका फल है।

मेरे लेखसे लेखकको बुरा न मानना चाहिये; क्योंकि वह एक नास्तिक द्वारा लिखा गया है; और, उसका प्रभाव भी वैसे ही चन्द इने-गिने नास्तिकों पर ही पड़ेगा। ईश्वर या खुदा, पोथियों और पट्टेदारोंपर जिसका विश्वास है, वह मेरी चंद पङ्क्तियोंसे क्यों डरने लगा? लेकिन भूत कालमें

---

[1] मैं अपने ब्राह्मण पाठकोंसे क्षमा माँगता हूँ; कहीं वे भी रुष्ट न हो जायें! —लेखक।

भूमिहार जाति (=गणक्षत्रिय) अपने बुद्धिस्वातन्त्र्यसे बड़ी बनी, पोथियो और व्यवस्थाओंकी गुलामीसे नहीं।

एक बात और भी है। मान लीजिये कि, यदि जेथरिया कहने लगें कि, हम लिच्छवि गणतन्त्रके संस्थापक वही ज्ञातृ हैं, तो क्या मगहके बाभन—जिनके पूर्वसे ही ब्राह्मण होनेमें कोई सन्देह नहीं—उनसे व्याह-शादी करना छोड़ देंगे? फिर सामाजिक तौरसे तो कोई हानि नहीं?

वज्जी गणतन्त्र और उसके संचालक ज्ञातृवंशके पुण्य स्मरणमें कुछ लिखनेका मौका देनेके लिये मैं श्री० ज० श० का आभारी हूँ। यदि कोई अरुचिकर बात यहाँ फिर लिखी गई हो, तो यह समझ कर वे क्षमा करेंगे कि, यह किसी जातिके द्वेषवश नहीं, बल्कि नास्तिकताके कारण लिखी गई।

---

(७)

थारू

हिमालयकी तराईमें यह रहस्यपूर्ण थारू-जाति निवास करती है। पश्चिममें बहराइच जिलेके उत्तरसे पूर्वमें दरभंगा जिलेके उत्तरतक पहाड़के किनारे इसी जातिकी प्रधानता है। तराईकी भूमिमें मलेरियाका बड़ा भय है, और यह जाति वहीं बसती है। मुँह देखते ही मालूम हो जाता है कि यह अपने आस-पासके रहनेवालोंसे भिन्न—उत्तरी पहाड़ोंमें रहनेवाली (मंगोल)—जातिसे सम्बन्ध रखती है। रंग इनका गेहुँआँ या पक्का होता है—काले बहुत कम होते हैं। कदमें आसपासके लोगोंसे विशेष अन्तर नहीं है।

यहाँ मुझे विशेषकर चम्पारन और मुजफ्फरपुर जिलोंके उत्तर तरफ बसनेवाले थारुओंके बारेमें ही कहना है। इनके भेद और पदवियाँ निम्न-प्रकार हैं:—

भेद	पदवी
बाँतर	(महतो)
चितवनिया	(,,)
गढ़वरिया	(,,)
रववसिया	(दिसवाह)
रउतार	(महतो)
न(ल)म्पोंछा	(महतो, राय)
सेंठा	(महतो)

भेद	पदवी
कोंचिला	(खाँव)
महाउत	(राउत)
मझिअउर	(माझी)
गोरत	(महतो)
कनफटा	(नाथ)
कुम्हार	(राना)
मर्दनिया	(मर्द)
खउहट	(महतो)

थारू लोग वढ़ईका काम अपने आप कर लेते है। तेल भी खुद निकालते हैं। यद्यपि थरुहट (थारुओंके देश) में धोवी नहीं होता, तोभी अपनेसे दक्षिणके लोगोंसे उनके कपड़े-लत्ते अधिक साफ रहते हैं। खेती ही थारुओंका एक मात्र व्यवसाय है, और इसमें उनकी-सी दूसरी कोई परिश्रमी जाति नहीं। एक हलपर थारू तीन जोड़ी वैल रखते हैं। सवेरे ही हल जोतते है और दस वजे दिनको छोड़ देते हैं। फिर दूसरी जोड़ीसे दो वजे तक काम लेते हैं, इसके वाद फिर तीसरी जोड़ी। थरुहटमें धान ही की खेती होती है, इसलिये भात ही इनका प्रधान खाद्य है। खानेके लिये मुर्ग़ियाँ भी ये लोग पालते हैं। थारुओंमें 'भगत' मिलना वहुत कठिन है। मांस और शराबके ये वड़े प्रेमी हैं।

इनकी पोशाक अपने आस-पासके लोगोंकी ही भाँति होती है। हाँ, मिरजईकी जगह ये लोग नैपाली वगलवन्दी पहनते है। स्त्रियाँ साड़ी पहनती हैं और शिर नंगा रखना अधिक पसंद करती हैं।

विवाह अधिकतर ये लोग अपनी ही उप-जातियोंमें करते हैं। युवक और युवतीमें प्रेम हो जाने पर वे घरसे निकल जाते हैं, और वाहर किसी गाँवमें जाकर वर्षो तक रहते हैं। फिर लौटकर पति-गृहमें रहते हैं। कभी

बाँतर और चितवनियोंमें भी इस प्रकार प्रेम हो जाता है, फिर जातिमें मिलने के लिये बिरादरीको भात-भोज देना पड़ता है। इस प्रकारके विवाह अन्य उप-जातियोंमें भी होते हैं। प्रौढ़ विवाह ही इनमें अधिक होते हैं, लेकिन अब अपने पड़ोसी 'अधिक सभ्य' वाजियोंका प्रभाव इनपर भी पड़ रहा है, और धीरे-धीरे इनमें भी बाल-विवाहकी प्रथा बढ़ रही है। गढ़वरियोंमें बाल-विवाह अधिक होता है और चितवनियोंमें बहुत कम। गरीब होनेपर लड़कीको घर लाकर विवाह किया जाता है, नहीं तो बरात जाती है। बरातमें २०, ३० आदमी साधारणतः जाते हैं। रासधारी, झुमरा, पूर्बी, नाटक इनमेंसे कोई नाच भी होता है; जिनमें पहले दो गीत प्रायः थारू-भाषामें होते हैं। ब्राह्मण और नाई विवाह-विधि कराते हैं। पुरोहित नैपाली या बाजी ब्राह्मण होते हैं।

जन्मके वक्त गाना-बजाना कुछ नहीं करते। छठी बरही, और हिन्दुओंकी भाँति होती है। अन्नप्राशनका कोई नियम नहीं। नाक-कान वर्षके भीतर ही छेद दिया जाता है। मृत्युमें थारू लोग विशेष उत्सव करते हैं। छोटे बच्चेको भी मरने पर जलाते हैं। नाच-बाजा विवाहकी भाँति होता है। थारुओंकी यह विशेषता बर्मी लोगोंसे बहुत मिलती है। मरनेके बाद दस दिनमें दशगात्र और बारह दिनके बाद ब्राह्मण-भोजन और जातिभोजन होता है।

प्रायः प्रत्येक थारूके घरमें गृह-देवता है, जिसे 'गन' कहते हैं। उसके लिये दूध, पाट (रेशम), कबूतर, मुर्गे बलि चढ़ाये जाते हैं। 'बरम' स्थान हर गाँवका ग्राम-देवता है। इसके अतिरिक्त हलका ऊपरी भाग गाड़कर जखिन (यक्षिणी), कोल्हूकी जाठ गाड़कर मसान भी पूजते हैं। मलंग, औलियाबाबा आदि कितने ही और भी देवता होते हैं। थरुहटमें मन्त्र-तन्त्र भूत-प्रेत बहुत चलता है। बाहरके भोले-भाले लोग समझते हैं, थरुहट जादूगरनियोंका स्थान है। थरुहटमें जादूगरनियोंको डाइन कहते हैं। हर गाँवमें दस-पाँच डाइनें होती हैं। लोगोंका विश्वास है कि डाइनें आदमीको

जादूसे मार डालती हैं, हैजा महामारीको बुलाती हैं। इसीलिये लोग डाइनोंसे बहुत डरते और घृणा करते हैं। इन्हीं सबसे बचानेके लिये हर थारू-गाँवका एक गुरु होता है, जिसे गृहस्थ अपने घरके प्रत्येक आदमी पीछे चार पसेरी धान हर साल देता है। बनिहारको दो पसेरी और खोकइता (मजूर)को एक पसेरी देते हैं। गुरुका काम है, भूत-प्रेत, मन्त्र-तन्त्र, हैजा आदिसे आदमियोंकी रक्षा करना।

थारुओंका प्राचीन कालहीसे एक संगठन चला आता है। कई गाँवोंका एक हल्का होता है, इसे 'दह' कहते हैं। हर एक दहमें एक प्रधान होता है, जिसे मधस्त (मध्यस्थ) कहते हैं। उसके नीचे १६ या १७ पंच होते हैं। इन पंचोंके नीचे 'हजारिया पंच' होते हैं, जिनमें प्रायः प्रत्येक घरका मुखिया होता है। जातिसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी मामले इसी पंचायतके सामने पेश होते हैं। फैसला हमेशा सर्वसम्मतसे हुआ करता है। मधस्त और पंचोंके मरनेपर, वह अधिकार उनके बड़े लड़कोंको मिलता है। यह दह सभी थारुओंका एक नहीं है। गढ़वरिया, चितवनिया सभीकी अपनी-अपनी अलग पंचायतें हैं। भिखनाठोरी (जिला चम्पारन)के पास गढ़-वरियोंकी प्रधानता है। यहाँ इनके बरहगाँवाँ और लौरइयाँ दो दह हैं। बरहगाँवाँ अंग्रेजी इलाकेमें है और इसके मधस्त राजमन महतो हैं। लौर-इयाँ नेपाल राज्यमें है, जिसके मधस्त लेखमन महतो हैं।

भिखनाठोरीसे उत्तर-नेपाली तराईमें चितावनका इलाका है। यहाँ चितवनियाँ थारू रहते हैं। यहाँके थारुओंपर नैपालियोंका प्रभाव अधिक है। बरहगाँवाँ आदिके थारू भी चितावनकी भाषाहीको शुद्ध थारू-भाषा कहते हैं। पाठकोंको यह सुनकर बहुत ही आश्चर्य होगा कि चितावनके थारुओंकी भाषा, स्वर, शब्द आदिमें गया जिलेकी मगही (मागधी) भाषासे बिलकुल एक है। हलई, गेलही, लन्‌लही आदि सभी शब्द शुद्ध मगहीके हैं। गेल्‌सुनमें सिर्फ थको ससे (गेलथुन) बदल दिया गया है। सम्बोधनमें रे, हे का प्रयोग अधिक होता है, और मागहीका गे भी कम

प्रयुक्त नहीं होता। छोड़ गे, चल गे साधारण प्रयोग हैं। चितवनिया अपनेको चित्तौरगढ़से आया बतलाते हैं, और भाषा उन्हें खींचकर मगधमें ले जा रही है; और चेहरा और आँखें उत्तरकी ओर खींच रही हैं।

ठोरीसे दक्षिण-पूर्व ५ मीलपर पिपरिया गाँव है। यह भी थरुहटके अन्दर ही है। पिपरियाके पास ही रमपुरवाके दो अशोक-स्तम्भ हैं। एक ही स्थानपर दो-दो अशोक-स्तम्भ विशेष महत्त्व रखते हैं। पुरातत्त्वकी खुदाईमें एक स्तम्भके ऊपरका बैल भी मिला था। परम्परासे जनश्रुति चली आ रही है कि एक खम्भेके ऊपर पहले मोर था। खम्भेकी पेंदीमें तो मोर खुदे अब भी मौजूद हैं। खुदाईमें यद्यपि कोई मोर नहीं मिला, तोभी इसमें तो सन्देह नहीं कि दूसरे खम्भेके शिखरपर जरूर कुछ था। दीघनिकायके महापरिनिर्वाण-सूत्रसे हम जानते हैं, कि पिप्पली वनके मौर्योंने भी गौतमबुद्धकी अस्थियोंका एक भाग पाया था, जिसपर उन्होंने स्तूप बनवाया। इसी मौर्यवंशका राजकुमार चन्द्रगुप्त पीछे मगधके मौर्य-साम्राज्यका संस्थापक हुआ। ऐसी अवस्थामें सम्राट् अशोकने बुद्धभक्त अपने पूर्वज मौर्योंके आदि स्थानपर यदि ये दो स्तम्भ गड़वाये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। जिस प्रकार यह पाषाण-स्तम्भ मगध-साम्राज्यसे सम्बद्ध हैं, वैसे ही शुद्ध थारू-भाषाभी आधुनिक मागधी भाषासे अपना स्पष्ट सम्बन्ध बतलाती है, लेकिन मंगोल-जातीय थारुओंने कैसे मागधी भाषाको अपनाया, यह बड़े ही रहस्यकी बात है।

मानवशास्त्र-वेत्ताओंके अन्वेषणके लिये थारू-जाति एक बड़ा ही रहस्य-पूर्ण विषय है। देखें, उसे कब कोई शरच्चन्द्र मिलता है। जब तक कोई वैसा सांगोपांग वैज्ञानिक रीतिसे अनुसंधान करनेवाला नहीं मिलता, तब तक साधारण शिक्षित लोगोंहीको उनकी उस सामग्रीकी रक्षा करनेका प्रयत्न करना चाहिये, जो वर्तमान कालमें बड़ी शीघ्रतासे लुप्त होती जा रही है। उनकी भाषा दिन-पर-दिन पड़ोसी भाषाओंसे प्रभावित हो बिग-ड़ती जा रही है। लोग अपनी परम्परागत कथाओंको भूलते जा रहे हैं।

उनके सामाजिक रीति-रवाज बड़ी शीघ्रतासे परिवर्तित हो रहे हैं। उनका संगठन शिथिल और निर्बल होता जा रहा है। यदि दरभंगा, मुज़फ्फरपुर, चम्पारन, गोरखपुर, बस्ती, गोंडा, और बहराइचके जिलोंके कुछ शिक्षित इस विषयको अपने हाथमें ले लें, और अपनी सीमावाले थारुओंकी भाषा, पुरानेगीत, जनश्रुति, रीति-रवाज, संगठन आदिका अन्वेषणकर प्रकाशित करें, तो इससे मानव इतिहासके एक महत्त्वपूर्ण अंशपर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। सामग्री संग्रह करनेमें बाह्य प्रभावसे बहुत कम प्रभावित तथा अशिक्षित वृद्ध थारू ही अधिक सहायक होंगे।

---

(८)

महायान बौद्धधर्मकी उत्पत्ति

बुद्ध ने ४५ वर्षोंतक ईश्वरवाद, आत्मवाद, पुस्तकवाद, जातिवाद और कितने ही अन्यवादोंके विरोधी, जड़वादकी सीमाके पासतक पहुँचे, अपने बुद्धि-प्रधान एवं सदाचार-परायण धर्मका उपदेश कर ४८३ ई० पू०में निर्वाण प्राप्त किया। जैसे जैसे समय बीतता गया और जैसे-जैसे नाना प्रकृतिके लोग बुद्धधर्ममें सम्मिलित होते गये, वैसे ही वैसे उसमें परिवर्तन होता गया। इस प्रकार बुद्धके निर्वाणके १०० वर्ष बाद, वैशालीकी संगीतिके समय, बौद्ध धर्म, स्थविरवाद और महासांघिक नामक दो निकायों (=सम्प्रदायों) में विभक्त हो गया। इसके सवा सौ वर्ष बाद और भी विभाग होकर उसके अठारह निकाय बन गये, जिनका वंशवृक्ष, पाली "कथावत्थु" की "अट्ठ कथा" के अनुसार, इस प्रकार है—
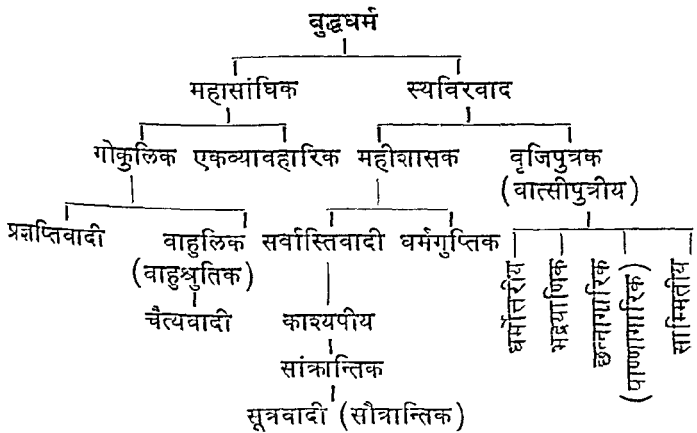
बुद्धके जीवनमें ही उनके शिष्य गन्धार, गुजरात (सूनापरान्त), पैठन (हैदराबाद-राज्य) तक पहुँच चुके थे। धीरे-धीरे भिक्षुओंके उत्साह एवं अशोक, मिलिन्द, इन्द्राग्निमित्र आदि सम्राटोंकी भक्ति और सहायतासे इसका प्रसार और भी अधिक हो गया। अशोकका सबसे बड़ा काम यह था कि, उन्होंने भारतकी सीमाके बाहरके देशोंमें, धर्म-प्रचारकोंके भेजे जानेमें, बहुत सहायता की। अशोक (ई० पूर्व तृतीय शताब्दी) के बाद बौद्ध धर्म सभी जगह फैल चुका था। उस समयतक अठारह निकाय पैदा हो चुके थे; इसलिये राजाकी सहायता, चाहे एक ही निकायके लिये रही हो लेकिन दूसरे निकायोंने भी अच्छा प्रचार किया। शुंगों और काण्वोंके बाद; आन्ध्र या आन्ध्रभृत्य सम्राट् हुए। इनकी सर्वपुरातन राजधानी प्रतिष्ठान (पैठन)[1] महाराष्ट्रमें थी। पीछे धान्य कटक भी दूसरी राजधानी बना, जो

[1] पीछे पैठनके इन शातवाहनोंका शकोंसे भी विवाह-सम्बन्ध हुआ। इन्हें अपने देशके नामपर, रट्ठिक (राष्ट्रिक) या महारट्ठिक भी कहते थे। पीछे नाटकोंमें शक या शकारके लिये "रट्ठिअ-साल" (राष्ट्रिक-श्यल) शब्द प्रयुक्त होनेका भी यही कारण है। वैसे भारतमें अचिरागत शकोंका रंग अधिक गोरा होनेसे, रनिवासोंमें, शक-कन्याओंकी काफी माँग भी थी। इससे भी राजाका साला होना हो सकता है। रट्ठ या महारट्ठ नाम पड़नेसे पूर्व पैठनके आसपासका प्रदेश अन्धक कहा जाता था; और, इसी लिये शातवाहनोंको आन्ध्र भी कहा जाता था। पीछे, राजनीतिक कारणोंसे, उन्हें अपनी राजधानी धान्यकटकमें बनानी पड़ी, जोकि, तेलगू देशमें है; और, उसीसे इस प्रदेशका नाम आन्ध्र हो गया। अन्धक और वृष्णि, दोनों ही पड़ोसी जातियाँ थीं। वृष्णियोंके वासुदेवके आर्य होनेपर अन्धकोंका आर्य होना निर्भर है।

आगे चलकर, कोसलकी राजधानी श्रावस्तीकी भाँति, प्रधान बन गया और पैठन सिर्फ युवराजकी राजधानी रह गया। शातकर्णी या शातवाहन (शालिवाहन) आन्ध्र राजा, यद्यपि कुछ समयतक, उत्तरीय भारतके भी शासक थे, तोभी पीछे उन्हें दक्षिणपर ही सन्तोष करना पड़ा। बौद्ध-धर्मपर इनका विशेष अनुराग था, यह उनके पहाड़ काटकर बने गुहा- विहारोंमें खुदे शिलालेखोंसे मालूम पड़ता है। राजधानी धान्यकटक (अमरावती)में उनके बनाये भव्य स्तूप, नाना मूर्तियाँ, लताओं तथा चित्रोंसे अलंकृत संगमरमरकी पट्टिकाएँ, स्तम्भ, तोरण आज भी उनकी श्रद्धाके जीवित नमूने हैं। वस्तुतः बौद्धोंके लिये, शातवाहन राजवंश, ई० पूर्व थम शताब्दीसे ईस्वी तीसरी शताब्दीतक, पुराने मौर्यों या पिछले पाल-ंशकी तरह था। पहाड़ खोदकर गुहा बनानेका कार्य यद्यपि मौर्योंने आरम्भ किया था; और, वे उसमें कहाँतक तरक्की कर चुके थे, यह बराबरकी चमकते पालिशवाली गुहाओंसे मालूम होता है; तोभी गुहाओंको बहुत अधिक और सुन्दर ढंगसे बनवानेका प्रयत्न आन्ध्रोंके ही राज्यमें हुआ। नासिक, कार्ला आदिकी भाँति अजन्ता और एलोराकी गुहाओंका भी श्रीगणेश इन्हींके समयमें हुआ था, और पीछेतक बढ़ता गया।

अन्धक-साम्राज्यमें महासाङ्घिकों और धर्मोत्तरीयोंके होनेका कार्ला[1] और नासिकके गुहालेखोंसे पता लगता है। पाली अभि-धम्मपिटकके "कथावत्थु" ग्रन्थमें कितने ही निकायोंके सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया है। उनका विश्लेषण उसकी अट्ठकथाके अनुसार निम्न प्रकार है—

---

[1] *Epigraphica Indica*, Vol. VII, pp. 54, 64, 71.

"कथावत्थु" में खण्डित सिद्धान्तोंकी तुलनात्मक सूची

		अर्वाचीन								प्राचीन									
		अन्धक								महा-सांघिक		स्थविरवाद							
	कुल सिद्धान्त	अन्धक	अपरशैल	पूर्वशैल	राजगिरिक	सिद्धार्थिक	वैपुल्य	उत्तरापथ	हेतुवाद	महासांघिक	गोकुलिक	काश्यपीय	भद्रयाणिक	महीशासक	वात्सीपुत्रीय	सर्वास्तिवाद	साम्मितीय	केवल अपने	दूसरों के सम्मिलित
(अर्वाचीन	..	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६		
१ अन्धक	७२	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	२	..	१	८	६२	१०
२ अपरशैलीय	७	१	..	६	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	७
३ पूर्वशैलीय	३९	१	६	..	..	..	..	..	..	..	..	V	..	१	..	..	३	१८	११
४ राजगिरिक	११	१	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	१	२	९
५ सिद्धार्थिक	९	१	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	१	..	९
६ वैपु० (वेतुल्ल)	८	१	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	७	१
७ उत्तरापथक	४४	७	..	..	..	..	..	..	१	..	..	..	..	१	..	१	..	३४	१०
८ हेतुवाद	८	..	..	..	..	..	..	१	..	..	..	..	..	..	..	..	..	७	१
																		१३०	

(प्राचीन)																			
९ महासांघिक	२४	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	१	१	१	४	२०	४
१० गोकुलिक	१	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	१	०
११ काश्यपीय	१	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	१	०
१२ भद्रयाणिक	१	१	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	१
१३ महीशासक	९	२	..	१	..	..	..	१	१	१	..	..	..	..	..	..	३	१	८
१४ वात्सीपुत्रीय	१	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	१	१	..	१
१५ सर्वास्तिवादी	४	१	..	..	..	..	..	१	..	..	..	..	१	..	१	..	२	१	३
१६ साम्मितीय	२२	८	..	३	१	१	..	..	..	४	..	..	१	३	२	२	..	३	१९
																		२७	
सम्मिलित	४०	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	१५७	
अनिश्चित	१७	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..	५७	
																		२१४	

इस नकशेसे मालूम होगा कि, कुल २१४ (२१६) सिद्धान्त हैं, जिनपर "कथावत्थु" ने बहस की है। उनमें १३० अन्धक आदि अर्वाचीन निकायोंके हैं, ४० सिद्धान्त बहुतोंके सम्मिलित हैं, १७[1] सिद्धान्तोंके विषयमें अट्ठकथा चुप है; और २७ ही ऐसे हैं, जो पुराने १८ निकायोंसे सम्बन्ध रखते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, कथावत्थु मुख्यतः अर्वाचीन निकायोंके ही विरुद्ध लिखी गयी है। इन अर्वाचीन आठ निकायोंमें अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक और सिद्धार्थिक अन्धकोंके ही भेद हैं। इनमें अन्धकोंके ८२ सिद्धान्तोंका खण्डन हुआ है। वैपुल्यवादियों और हेतुवादियोंके रहनेका स्थान यद्यपि नहीं लिखा है, तोभी आगे चलकर वैपुल्यवादियोंको हम आन्ध्रदेशका बतलायेंगे। उत्तरापथक पंजाब या हिमालयके मालूम होते हैं; किन्तु हेतुवादियोंके बारेमें कुछ नहीं कहा जा सकता। महासांघिकोंसे ही पिछले अन्धक-निकायोंका जन्म हुआ मालूम होता है। ऐसा माननेके लिये दो कारण हैं; एक तो कितने ही विवादग्रस्त विषय इनके सम्मिलित हैं, दूसरे आन्ध्र-साम्राज्यमें महासांघिकोंका[2] बहुत अधिक प्रचार

---

[1] मिलाकर देखनेसे अनिश्चित सत्रह सिद्धान्तोंवाले निकाय इस प्रकार मालूम होते हैं—

अन्धक ४+१, पूर्वशैलीय १, उत्तरापथक ५, महासांघिक ५, साम्मितीय अन्धक १।

भूत भविष्य-कालोंके अस्तित्वका सिद्धान्त (कथा० १।७) किसका है यद्यपि यह यहाँ नहीं दिया है, तो भी युन्-च्वेङ (हुएन्-साङ) द्वारा अनुवादित "विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि"की टीकामें यह सिद्धान्त सर्वास्तिवादियों और साम्मितियोंका बतलाया गया है। (देखिये "विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि", डाक्टर पूसिनका फ़्रेंच अनुवाद, पृ० १५७)।

[2] महासांघिकोंके भीतर चैत्यवाद-निकाय भी था। धान्यकटकमें इसकी प्रधानता थी, यह अमरावतीमें मिले शिलालेखोंसे मालूम होती

और प्रभाव था। इस प्रकार इन्हींसे आगे चलकर अन्धकोंकी उत्पत्ति हुई।
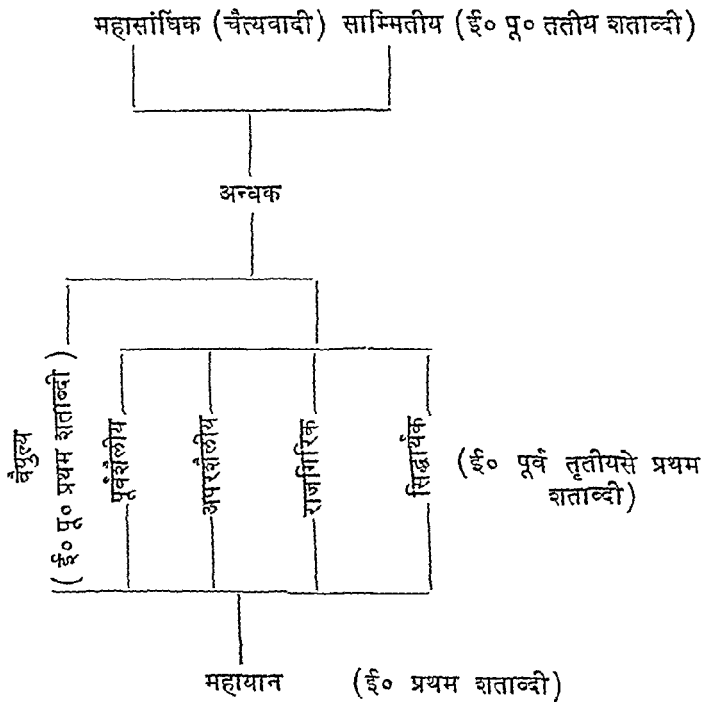
है। धान्यकटकके स्तूपका नाम ही "महाचैत्य" था। मंजुश्रीमूलकल्प, १० पटलमें है—

"श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणा-पथ-संज्ञके।
श्रीधान्यकटकके चैत्ये जिनधातु-धरे भुवि।"

इसी चैत्यके नामसे वहाँ वाले चैत्यवादी कहे जाते थे।

पूर्वशैलीय—"कथावत्थु" की अट्ठकथा (११९)में इसे तृतीय संगीति-के वाद उत्पन्न होनेवाले अन्धक-निकायोंमें गिना गया है। महासांघिकोंका (धान्यकटक-महाचैत्यका) चैत्यवाद-निकाय पुराने अठारह निकायोंमें सम्मिलित किया गया है; किन्तु इन अन्धक-निकायोंको हम उनमें सम्मि-लित नहीं पाते। इसलिये मालूम होता है, यह चैत्यवादियोंके भी पीछेका है। यद्यपि चैत्यवादियोंका नाम अठारह निकायोंमें होनेसे अट्ठकथाचार्य उन्हें तृतीय संगीतिसे पूर्वका वतलाते हैं। तोभी धान्यकटकके चैत्यकी प्रसिद्धि, शुङ्गोंके वाद, आन्ध्रोंके प्रतापी कालमें हुई होगी। अतः यहाँके विहारके भिक्षुओंका पृथक् व्यक्तित्व खारवेल और शुङ्गोंके वाद ही स्था-पित होना चाहिये। यदि यह ठीक हो, तो चैत्यवादको हम ई० पूर्व द्वितीय शताब्दीके अन्तिम भागमें मान सकते हैं; और, तव पूर्वशैलीय आदि चारो अन्धकनिकायोंकी उत्पत्ति ई० पू० प्रथम शताब्दीमें माननी होगी। भोटिया-ग्रन्थोंसे[1] मालूम होता है कि, पूर्वशैल और अपरशैल धान्यकटकके पूर्व और पश्चिमकी ओर दो पर्वत थे। इन्हींके ऊपरके विहार पूर्वशैलीय और अपर-शैलीय कहे जाते थे। धान्यकटक आन्ध्रदेशमें वर्तमान धरनीकोट (जि० गुंटूर) है। चौदहवीं शताब्दीके लिखे सिंहली-ग्रन्थ "निकायसंग्रह" से यह भी मालूम होता है कि, इन्होंने "राष्ट्रपालगर्जित"[2] ग्रन्थको वुद्धके नामसे प्रसिद्ध किया था। भोट (तिब्वत)में शर्-री (पूर्वशैल) कही जाने-वाली पीतल मूर्तियोंका दाम कई गुना अधिक होता है।

अपरशैलीय—धान्यकटकके पश्चिमकी पहाड़ीपर बसनेवाला यह निकाय भी चैत्यवादियोंसे निकला मालूम होता है। शेष पूर्वशैलीयकी भाँति, इसके वारेमें, जानना चाहिये। भोटिया-ग्रन्थोंमें इसका भी जिक्र आता है।

---

[1] ग्लोङ-दंल्-ग्सुं-बुम् (ल्हासा) ग, पृ० ८ ख।

[2] सम्भवतः चीनी त्रिपिटकका "राष्ट्रपालपरिपृच्छा"। (*Nanjio's* 873 स्कन्-जुर ४९।९)।

इसके सिद्धान्तोंपर पहले कुछ कहा जा चुका है। "निकायसंग्रह"के अनुसार इन्होंने "आलवक-गर्जित" सूत्रको बनाकर बुद्धके नामसे प्रकाशित किया।

राजगिरिक—अन्धक थे; किन्तु आन्ध्रमें राजगिरि कहाँ है (जहाँपर कि, इनका केन्द्र था), नहीं कहा जा सकता। "कथावत्यु" में इनके ११ सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया है, जिनमेंसे आठ इनके तथा "सिद्धार्थकों" के एक हैं। इससे ज्ञात होता है, इन दोनोंका आपसमें कुछ अधिक सम्बन्ध था। निकायसंग्रहमें इन्हें "अंगुलिमालपिटक"का[1] कर्ता कहा गया है।

सिद्धार्थक—राजगिरिककी भाँति इनके बारेमें भी नहीं कहा जा सकता कि, इनका केन्द्र आन्ध्र-देशमें किस स्थानपर था। इनके और राजगिरिकोंके सिद्धान्तोंकी समानता बतलाती है कि, इनमेंसे या तो एक दूसरेसे निकला था, या दोनोंका उद्‌गम एक ही था। "निकायसंग्रह"में इन्हें 'गूढ़-वेस्संतर'का कर्ता बतलाया गया है।

यह चारों ही अन्धक-निकाय, आन्ध्र-सम्राटोंके समयमें, बहुत ही उन्नत अवस्थामें थे। आन्ध्र राजा और उनकी रानियोंका बौद्धधर्मपर कितना अनुराग था, यह हमें अमरावती और नागार्जुनी-कोंडामें मिले शिला-लेखोंसे मालूम होता है। इनके बारेमें यद्यपि हमें चीन, भोटिया, पाली तथा संस्कृत-स्रोतोंसे कुछ सामग्री मिलती है; किन्तु वह बहुत ही अल्प है। लेकिन आन्ध्र लोग शिलालेखोंके बहुत अधिक प्रेमी थे; और, आशा है, धान्यकटक तथा नागार्जुनी–कोंडा एवं गुंटूर-जिलेके अन्य पुराने ध्वंसाव-शेषोंकी खुदाई पूरी होनेपर हम इन सभी गुत्थियोंको सुलझा सकेंगे एवम् उनसे महायान और वज्रयानके आरम्भिक दिनों तथा उनके विकासके इतिहासपर बहुत प्रकाश पड़ेगा।

---

[1] सम्भवतः "अङ्गुलिमाल-सूत्र" (*Nanjio's* 434 स्कन्-जुर ६२।१३)

वैपुल्य (वेतुल्ल)वादी—"कथावत्थु"की अट्ठकथामें वैपुल्यवादियोंको महाशून्यतावादी कहा गया है। हमें मालूम ही है कि, ना गा र्जु न शून्यवादके आचार्य कहे जाते हैं। इस प्रकार वैपुल्यवाद और महायान एक सिद्ध होते हैं। "कथावत्थु"में दो बातें विषेश महत्त्वकी हैं। एक तो वैपुल्योंके खण्डित सिद्धान्तोंमें "शून्यता" नहीं सम्मिलित है। [इनके मत संघ, बुद्ध और मैथुनके विषयमें भेद रखते थे। इनका कहना था—(१) संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिशुद्ध करता तथा उपभोग करता है, न संघको देनेमें महाफल है,[1] (२) बुद्धको दान देने में न महाफल है, न बुद्ध लोकमें आकर ठहरे और न बुद्धने धर्मोपदेश किया;[2] (३) खास मतलबसे (एकाभिप्रायेण) मैथुनका सेवन किया जा सकता है।[3] यह कहनेकी जरूरत नहीं कि, ये तीनों ही बातें एक प्रकारसे बौद्धधर्ममें भयङ्कर विप्लव मचानेवाली थीं। विशेषकर ऐतिहासिक बुद्धके अस्तित्व से इन्कार तथा खास स्थितिमें मैथुनकी अनुज्ञा। पहलेमें हम महायानके आखिरी विकासतकका स्पष्ट पूर्व-रूप पाते हैं, और, दूसरेमें वज्रयान या तान्त्रिक बौद्धधर्मका स्फुट बीज।] दूसरी बात है, "वेतुल्लवाद"के सभी मत "कथा-वत्थु"के अन्तिम भाग १७वें, १८वें और २३वें वर्गोमें हैं। यह पहले ही कह चुके हैं कि, "कथावत्थु"का आरम्भ चाहे अ शो क की तीसरी संगीतिसे ही हुआ हो; किन्तु उसमें पीछेके वाद भी जुटते गये। इस प्रकार यह मान लेनेमें कोई कठिनाई नहीं मालूम होती कि, कथावत्थुका "वेतुल्लवाद" वाला भाग सबसे पीछेका है। कितना पीछेका है? इसके लिये इतना कहा जा सकता है कि, वह बुद्धघोषसे ही पहलेका नहीं, बल्कि नागार्जुनसे भी पहलेका है; क्योंकि उसमें वेतुल्लवादियोंके शून्यवादका खण्डन नहीं है। हम इसे यदि ईसाकी पहली शताब्दी मान लें, तो वास्तविक समयसे बहुत थोड़ा ही आगे-पीछे रहेंगे। इस बातमें

---

[1] कथावत्थु १६।६-९ [2] वही १७।१०; १८।१

[3] वही २३।१

हम और कुछ निश्चित तौरसे तभी कह सकेंगे, जब हम शक-शालिवाहन-संवत् एवं नागार्जुनके समयको, अन्तिम तौरपर, निश्चित कर सकेंगे। सिंहलके इतिहाससे पता लगता है कि, सर्वप्रथम राजा वलगमबाहु (ई० पू० प्रथम शताब्दी)के समयमें वेतुल्लवाद सिंहलमें पहुँचा; किन्तु हो सकता है कि, पिछले समयमें, जब चारों अन्धक-सम्प्रदाय एवम् उन्हींकी एक शाखा "वेतुल्लवाद" एक हो गये, तब सबको ही "वेतुल्ल" कहा जाने लगा हो।

महायान सूत्रोंको हम चीनमें[1] प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, अवतंसक और निर्वाण तथा तिब्बती कन्-जूरमें प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, सूत्र (प्रकीर्ण) और निर्वाणके क्रमसे विभक्त पाते हैं। अवतंसक-सूत्रोंको वैपुल्यसे पृथक् गिना गया है; किन्तु वैपुल्य और अवतंसक एक ही प्रकारके सूत्र हैं।[2] "मंजुश्री मूलकल्प" में हर एक पटलके अन्तमें आता है—"बोधिसत्त्व-पिटकादवतंसकात् महायानवैपुल्य-सूत्रात्।" भोटियामें भी वैपुल्य-सूत्रोंके नामके साथ आता है—"बोधिसत्त्व-पिटकात् अवतंसकात् महा-वैपुल्य.....सूत्रम्।" स्वयं नन्ज्योके सूचीपत्रके ही ८७,८९,९४,९६ , १०१ ग्रन्थोंमें अवतंसक और वैपुल्य साथ-साथ विशेषण-विशेष्य-रूपसे प्रयुक्त हुये हैं। प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य आदि सूत्र महायानके हैं;[3] इसमें तो किसीको सन्देह हो ही नहीं सकता; और इसीसे वैपुल्यवाद (पाली वेतुल्लवाद) वही है, जिसे हम आजकल महायान कहते हैं। या यों कहिये कि, वेतुल्ल या "वैपुल्य" वह नाम है, जिससे आरम्भिक कालमें महायान प्रसिद्ध हुआ। आरम्भमें, महायान कहलानेमें, उन्हें सफलता न हुई थी। "वेतुल्ल" और "वैपुल्य" एक ही हैं; यही हम कथावत्थुकी अट्ठकथाके

---

[1] देखिये *A Catalogue of the Buddhist Tripitaka by Bunjiu Nanjio.*

[2] *Trivendrum Sanskrit Series LXX. LXXXIV*

[3] स्कन्-जुर ४१-४६

उस वाक्यसे भी समझ सकते हैं, जिसमें वेतुल्लवादीको महाशून्यतावादी कहा है। निकाय-संग्रहमें वेतुल्लवादियों को "वेतुल्ल-पिटक" (वैपुल्य-पिटक) का कर्ता कहा है। वहीं यह भी लिखा है कि, अन्वकोंने[१] "रत्नकूट" कथा दूसरे शास्त्रोंकी रचना की। "रत्नकूट" और "वैपुल्य", दोनों ही प्रकारके सूत्र महायानी हैं, यह हम देख चुके हैं; इसलिये महायान अन्धकों (पूर्वशैलीय आदि चार सम्प्रदाय) और वैपुल्यवादके सम्मिलित रूपका नाम है।

यह तो मालूम हो चुका कि, महायान पूर्वशैलीय आदि चार अन्वक-सम्प्रदायोंके तथा वैपुल्यवादके सम्मिश्रणसे वना है; और, जितना अंश अन्वकनिकायोंसे सम्वन्ध रखता है, वह आन्ध्र-देशकी—खासकर गुंटूर जिलेके वर्तमान धरनीकोटकी—उपज है। लेकिन वैपुल्यवादका मुख्य स्थान कहाँ था, अव हम इसपर विचार करेंगे।

यहाँपर ध्यान रखना चाहिये कि, महायान-सूत्र वरावर परिवर्तित और परिवर्द्धित किये जाते रहे हैं; इसलिये उनके मूल स्थानसे मतलव हमारा इतना ही है कि, उनके निर्माणकी नींव वहाँ डाली गयी; और, परि-वर्द्धन-परिवर्तन करनेमें तो सारा भारत शामिल था। वैपुल्यवादके वारेमें हमें निम्न वातें मालूम हैं—

(१) ईसा पूर्व [२] पहली शताब्दीमें यह सिंहल पहुँचा था।

(२) इसके [३] कुछ सूत्रोंका चीनीमें अनुवाद, ईसाकी दूसरी शताब्दी-में ही, हो चुका था।

---

[१] "अन्धकयो रतनकूटादिवू शास्त्रान्तर रचना कळह" निकायसंग्रहय (सीलोन-सरकार द्वारा १९२२में मुद्रित)।

[२] महावंस।

[३] नन्ज्योका सूचीपत्र, संख्या २५, "सुखावतीव्यूह" लोकरक्ष (१४७-१८६ ई०) द्वारा अनूदित।

(३) इसके प्रचारकोंमें सबसे ऊँचा स्थान आचार्य नागार्जुनका है।

(४) नागार्जुनका वास-स्थान श्रीपर्वत और धान्यकटक था।[1]

(५) (आन्ध्र-राजा) शातवाहन नागार्जुनका घनिष्ट मित्र था।[2]

(६) कुछ [3] क्रान्तिकारी सिद्धान्त इनके और अन्धकोंके आपसमें मिलते थे।

इससे अनुमान होता है कि, वैपुल्यवादका केन्द्र[4] भी श्रीधान्यकटकके पास ही था। इस बात की पुष्टि मंजुश्रीमूलकल्पका यह श्लोक भी करता है—

गच्छेद् विदिशं तन्त्रज्ञः सिद्धिकामफलोद्भवाम्।
पश्चिमोत्तरयोर्मध्यं स देशः परिकीर्तितः॥

(पृ० १७५, पटल १८)

---

[1] क्लोङ-र्दल-ग्सुङ-बुम् (ल्हासा) च, पृष्ठ ९क—"नागार्जुनका निवासस्थान दक्षिण भारतमें, श्रीपर्वतके समीप श्रीधान्यकटकमें था।"

[2] हर्षचरित, सप्तम उच्छ्वास—(निर्णयसागर, तृतीय संस्करण, पृ० २५०)—"समतिक्रामति च कियत्यपि काले कदाचित् तामेकावलीं तस्मान्नागराजात् नागार्जुनो नाम नागैरेवानीतः पातालतलं, भिक्षुरभिक्षत् लेभे च। निर्गत्य रसातलात् त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहननाम्ने नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्।" नागार्जुनने शातवाहन राजाके नाम "सुहृल्लेख" नामक पत्र लिखा था, जो चीनी और भोटिया-भाषाओंमें अब भी सुरक्षित है।

[3] जैसे खास अभिप्रायसे मैथुनकी अनुज्ञा (कथावत्थु २३।१), यह अन्धकों और इनकी एक-सी है। अन्धक बुद्धके व्यवहारको लोकोत्तर मानते थे (क० व० २।८); और, यह बुद्धकी ऐतिहासिकतासे ही इन्कार करते हैं—"बुद्ध मनुष्य लोकमें (आकर) नहीं ठहरे" (१८।१)। "बुद्धने धर्मका उपदेश नहीं किया" (१८।२)।

[4] नहरल्लबड्ड (नागार्जुनी-कोंडा, जिला गुंटूर)।

इसमें "पश्चिम-उत्तरके बीचमें" विदिशाको बतलाया गया है; और, विदिशा वर्तमान भिलसा (ग्वालियर-राज्य) का ही प्राचीन नाम है। यह स्पष्ट ही है कि, लेखक दक्षिण भारतमें बैठकर ही ऐसा लिख सकता है। "मंजुश्रीमूलकल्प" महावैपुल्य-सूत्रोंमेंसे है, यह पहले कहा जा चुका है। हमारी समझमें यह स्थान श्रीपर्वत या धान्यकटक ही हो सकता है।

---

(६)

वज्रयान और चौरासी सिद्ध

१. वज्रयानकी उत्पत्ति

मन्त्र कोई नयी चीज़ नहीं है। मन्त्रसे मतलब उन शब्दोंसे है, जिनमें लोग मारण, मोहन, उच्चाटन आदिकी अद्भुत शक्ति मानते हैं। यह हम वेदोंमें भी पाते हैं। ओं वौपट्, श्रौपट् आदि शब्द ऐसे ही हैं, जिनका प्रयोग यज्ञोंमें आवश्यक माना जाता है। मन्त्रोंका इतिहास ढूँढ़िये, तो आप, इन्हें मनुष्यके सभ्यतापर पैर रखनेके साथ-साथ, तरक्की करते पायेंगे। प्राचीन वावुल (वेविलोन), असुर, मिश्र आदि देशोंमें भी मन्त्रका अच्छा जोर था। फलतः मन्त्रयान वौद्धोंका कोई नया आविष्कार नहीं है। केवल प्रश्न यह है कि, वौद्धोंमें इसका आरम्भ कैसे हुआ और उसमें प्रेरक-शक्ति क्या थी? पालीके ब्रह्म-जालसुत्तसे मालूम होता है कि, वुद्धके समयमें ऐसे शान्ति-सौभाग्य लानेवाले पूजा-प्रकार या कल्प प्रचलित थे। गन्धारी-विद्या या आवर्तनी-विद्यापर भी लोग विश्वास रखते थे। वुद्धने इन सबको मिथ्या-जीव (=झूठा व्यवसाय) कहकर मना किया; तो भी इससे उनके शिष्य इन विद्याओंमें पड़नेसे रुक न सके। वुद्धके निर्वाणको जितना ही अधिक समय वीतता जाता था, उतना ही, लोगोंकी नजरसे, उनके मानुप गुण भी ओझल होते जाते थे। वादलकी तहमें दिखायी पड़ते सूर्य अथवा कुहरेमें टिमटिमाते चिरागकी भाँति उनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व अधिक धुँधला रूप धारण करता जाता था। जहाँ इस प्रकार मानुप वुद्ध लुप्त होते जा रहे थे, वहाँ अलौकिक गुणोंवाले वुद्धकी सृष्टिका उपक्रम वढ़ता जाता था। इसी प्रयत्नमें

बुद्धके जीवनकी अलौकिक कहानियाँ गढ़ी जाने लगीं। ऐसी कहानियाँ आकर्षक होती ही हैं। जब लोगोंने बुद्धकी अलौकिक जीवन-कथाओंको अधिक प्रभावशाली देखा, तब इधर जुट पड़े; किन्तु कुछ दिनोंमें ही वह आकर्षण फीका पड़ने लगा। बुद्धकी वे अलौकिक शक्तियाँ तो अतीतके गर्भमें विलीन हो गयी थीं। उनकी कथासे लोगोंको वर्तमानमें क्या लाभ? तब बुद्धकी अलौकिक शक्तियोंका वर्तमानमें भी, उपयोग होनेके लिये, बुद्धके वचनोंके पारायणमात्रसे, पुण्य माना जाने लगा। उनके उच्चारण मात्रसे रोग, भय आदिका नाश समझा जाने लगा! उस समय भूत-प्रेत आजसे बहुत अधिक थे! इतने अधिक थे कि, अभी उस परिणामपर पहुँचनेके लिये थियासोफी और स्पिरिचुअलिज़मको शताब्दियों मेहनत करनी पड़ेगी! कुछ लोगोंको इन भूतोंकी बहुत फिक्र रहती थी। इसलिये उन्हें वशमें करनेके लिये भी कुछ सूत्रोंकी रचना होने लगी। स्थविर-वादियोंने (जो कि, मानुष बुद्धके बहुत पक्षपाती थे) ही "आटानाटीय-सुत्त"[१] से इसका आरम्भ किया। फिर क्या था, रास्ता खुल निकला। तब स्थविरोंने देखा, वे इस घुड़दौड़में तबतक बाजी नहीं मार सकते, जब तक वे ऐतिहासिक बुद्धसे पिण्ड न छुड़ालें; किन्तु वह इनके लिये बहुत कड़वी गोली थी! उधर दूसरे सम्प्रदाय इसमें विशेष तरक्की करने लगे। जब देखा, दुनिया भी उन्हींकी ओर खिचती जा रही है, तब उन्होंने उसमें और भी उत्साह दिखाना शुरू किया। इसका, फल, हम देखते हैं कि, बुद्धके निर्वाणसे चार ही पाँच सौ वर्षों बाद वैपुल्यवादियोंने बुद्धके लोकमें आनेसे भी इनकार कर दिया। आखिर लौकिक पुरुष उन अभि-

---

१ "दीर्घ-निकाय" ३२ सुत्त, जिसमें यक्षों और देवताओंका बुद्धसे संवाद वर्णित है। इसमें यक्षों और देवताओंके प्रतिनिधियोंने प्रतिज्ञाएँ की हैं, जिनके दोहरानेसे आजभी उनके वंशज देवताओंको, अपने पूर्वजों-की प्रतिज्ञा, याद आ जाती है; और, वे सतानेसे बाज रहते हैं!

लषित अद्भुत शक्तियोंका कैसे धनी हो सकता है ?

उक्त क्रमसे पहले अठारह प्राचीन बौद्ध-सम्प्रदायोंने सूत्रोंमें ही अद्भुत शक्तियाँ माननी शूरू कीं; और, कुछ खास सूत्र भी इसके लिये बनाये। फिर वैपुल्यवादियोंने , लम्बे-लम्बे सूत्रोंके पाठमें विलम्ब देखकर, कुछ पङ्क्तियों की छोटी-छोटी धारणियाँ बनायीं। लेकिन मनुष्य बैलगाड़ीसे रेलतक पहुँचकर क्या हवाई जहाजसे इन्कार कर सकता है? अन्तमें दूसरे लोग पैदा हुए, जिन्होंने लम्बी धारणियोंको रटनेमें तकलीफ उठाती जनतापर, अपार कृपा करते हुए, "ओं मुने मुने महामुने स्वाहा," "ओं आ हुं", "ओं तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा" आदि मन्त्रोंकी सृष्टि की। अब अक्षरोंका मूल्य बढ़ चला। फिर लोगोंको, एक-एक मन्त्राक्षर की खोजमें भटकते देख, उन्होंने "मंजुश्रीनामसंगीति"के कहे अनुसार सभी स्वर और व्यञ्जन वर्णोंको मन्त्र करार दे दिया। अब "ओं" और "स्वाहा" लगाकर चाहे जो भी मन्त्र बनाया जा सकता था; बशर्ते कि, उसके कुछ अनुयायी हों! कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, इन सारी मेहनतोंका पारितोषिक, यदि उन्हें रुपये-आने-पाई या उसी तरहकी किसी और दुनियावी सुख-सामग्रीके रूप में न मिलता, तो शायद दुनिया उनकी इन कृतियोंसे वञ्चित ही रहती। संक्षेपमें, भारतमें बौद्ध मन्त्र-शास्त्रके विकासका यही ढँग रहा है। इस मन्त्रयान-कालको,यदि हम निम्न क्रमसे मान लें, तो वास्तविकतासे बहुत दूर न रहेंगे—

सूत्र-रूपमें मन्त्र—ई० पू० ४००–१००,
धारणीमन्त्र—ई० पू० १००–४०० ईस्वी,
मन्त्र-मन्त्र—ई० ४००–७०० ई०।

इसी धारणी-मन्त्रके युगमें हम अलौकिक बुद्धके
कितने ही अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री आदि अलौ
होते देखते हैं।

अब मन्त्रोंका माहात्म्य बढ़ने लगा। लोग इ

करने लगे। आविष्कारकोंने भी इधर मन्त्रोंकी फलदायकताकी वृद्धिपर सोचना शुरू किया। उन्होंने देखा, योगकी कुछ क्रियाएँ योगीके प्रति अपूर्व श्रद्धा उत्पन्न करती हैं, जिससे लोग जल्दी उनकी वात (*Suggestion*) पर आरूढ़ हो जाते हैं। (आजकल भी हिप्नाटिज़्म और मेसमेरिज़्ममें उत्कट श्रद्धा वहुत ही आवश्यक चीज़ मानी गयी है)! दूसरे उनकी मानसिक शक्ति, एकाग्रताके कारण, अधिक तीव्र हो, श्रद्धालुओंको छोटे-मोटे चमत्कार दिखानेमें या उनके कष्ट-सहनकी शक्तिको वढ़ानेमें, समर्थ होती है। योगकी कुछ प्रक्रियाओंका, वुद्धके समयके पूर्वसे ही, लोग अभ्यास करते आरहे थे। वुद्धके वाद तो और भी करने लगे। इसलिये, वुद्ध-निर्वाणके चार-पाँच सौ वर्षों वाद, इस तरहकी उपयोगी मानसिक शक्तियोंका उन्हें काफी अनुभव हो चुका था। उन्हें मालूम हो गया था कि, इस तरहके चमत्कारके लिये भक्तोंमें अन्धश्रद्धा और प्रयोक्तामें तीव्र मानसिक शक्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है। अव वे, एक ओर, योगसे अपनी मानसिक शक्तिको विकसित करने लगे; दूसरी ओर, भक्तोंमें श्रद्धाकी मात्रा खूव वढ़ानेके लिये नाना हठ, त्राटक क्रियाओं तथा मन्त्र-तन्त्रकी वृद्धिके साथ-साथ सहस्रों नये देवी-देवताओंकी सृष्टि करने लगे।

उक्त मन्त्रों और योग-विधियोंके प्रवर्त्तकों और अनुवर्त्तकोंमें दो प्रकारके मनुष्य थे, एक तो वे, जो वस्तुतः अत्यन्त श्रद्धासे मुग्ध हो, इन क्रियाओंको "स्वान्तः सुखाय" या "परहिताय" करते थे। उनमें उनका अपना स्वार्थ उतना न था। वे उन क्रियाओं द्वारा उस समयके मानसिक वातावरणमें तत्काल लोगोंको लाभ होते देखते थे; इसलिये, अपार श्रद्धासे, उस काममें रत थे। दूसरे, वे चालाक लोग थे, जो अच्छी तरह जानते थे कि, इन तन्त्र-क्रियाओंकी सफलताका अधिक दारोमदार उनकी अपनी संवाद शक्तियोंपर उतना नहीं है, जितना कि, श्रद्धालुकी उत्कट श्रद्धापर। की हैं, कि श्रद्धालुकी श्रद्धाको पराकाष्ठातक पहुँचाने के लिये या की प्रतिज्ञा, रूपेण "हिप्नोटाइज़्ड" करने के लिये वे नित्य नये आविष्कार

करते थे। वस्तुतः फर्स्ट क्लासके आविष्कारक इसी दूसरी श्रेणीके लोग थे। इसी युगमें चढ़ावेसे अपार धनराशि मठोंमें जमा हो गयी थी। जब इन्होंने देखा कि, आखिर बुद्धकी शिक्षासे भी हम बहुत दूर हो चुके हैं—लोग श्रद्धासे अन्धे हैं ही और सभी भोग हमारे लिये सुलभ हैं, तब उन्होंने विषय-भोगोंके संग्रहकी ठानी; और, इस प्रकार मद्य और स्त्री-सम्भोगका श्रीगणेश हुआ। यहाँ यह न समझना चाहिये कि, भैरवी-चक्रके ये ही आविष्कारक थे; क्योंकि इनसे सहस्रों वर्ष पूर्व मिश्र, असुर, यवन आदि देशोंमें भी ऐसे चक्रोंका हम प्रचार देखते हैं। इनका काम इतना ही था कि, इन्होंने बुद्धके नामपर और नये साधनोंके साथ इन बातों को पेश किया।

इस प्रकार मन्त्र, हठयोग और मैथुन—ये तीनों तत्त्व क्रमशः बौद्ध-धर्ममें प्रविष्ट हो गये। इसी बौद्धधर्मको मन्त्रयान कहते हैं। इसको हम निम्न भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

(१) मंत्रयान (नरम) ई० ४००—७००,

(२) वज्रयान (गरम) ई० ८००–१२००।

वैसे तो वैपुल्यवादमें तथा उससे पूर्वके अन्धक निकायोंमें विशेष अभि-प्रायसे मैथुनकी अनुज्ञा हो चुकी थी (कथावत्थु २३।१); तोभी वह भैरवी-चक्रके रूपमें तबतक न प्रकट हो सकी थी, जबतक कि, वज्रयान न बन सका। इस पुराने मन्त्रयानकी पुस्तकोंमें "मंजुश्रीमूलकल्प" एक है। "मंजुश्री-मूलकल्प" वैपुल्य सूत्रोंमेंसे भी है। इसका मतलब यह हुआ कि, मन्त्रयान-वैपुल्यवाद या महायानसे ही विकसित हुआ है (वस्तुतः अलौकिक बुद्ध और अद्भुत-शक्तिसम्पन्न धारणियोंसे वैसा होना सम्भव ही था)। "मंजुश्री-मूलकल्प"में यद्यपि हम नाना मन्त्र–तन्त्रोंका विधान देखते हैं, तथापि उसमें भैरवी-चक्रका अभाव है; और, वहाँ सदाचारके नियमोंकी अवहेलना नहीं की गयी है। इस युगको यद्यपि हम गुप्त-साम्राज्यकी स्थापनासे आरम्भकर हर्षवर्द्धनके शासनके साथ समाप्त करते हैं, तथापि इसके अङ्कु-

रित और विकसित होनेका स्थान उत्तर भारत न था। "मंजुश्रीमूलकल्प"के वैपुल्यवादी होनेकी बात हम कह चुके हैं। हम अपने एक लेख में[1] यह भी बतला चुके हैं कि, "मंजुश्रीमूलकल्प" उत्तर भारतमें न लिखा जाकर दक्षिण भारत में, विशेपतः धान्यकटक या श्रीपर्वतमें लिखा गया है; उसमें इन दोनों स्थानोंको, मन्त्र-सिद्धिके लिये, बहुत ही उपयोगी बतलाया गया है।[2]

इससे यह भी मालूम होता है कि, मन्त्रयानके जन्मस्थान श्रीधान्यकटक और श्रीपर्वत हैं। तिब्बती ग्रन्थोंमें तो स्पष्ट कहा गया है कि, बुद्धने बोधिके प्रथम वर्षमें, ऋषिपतनमें, श्रावक-धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया; १३वें वर्ष राजगृहके गृध्रकूट पर्वतपर महायान-धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया; और, १६वें वर्षमें मन्त्रयानका तृतीय धर्म-चक्र-प्रवर्तन श्रीधान्यकटकमें[3] किया। श्रीपर्वत[4] मन्त्रशास्त्रके लिये बहुत ही प्रसिद्ध था। मालतीमाधवमें भवभूतिने श्रीपर्वतका ज़िक्र कई बार किया है—

(१) "दाणिं सोदामिनि समासादिअ अच्चरिअमन्तसिद्धिप्पहावा सिरिपव्वदे कावालिअ-व्वदं धारेदि।"
(अङ्क १) ।

(२) "यावच्छ्रीपर्वतमुपनीय प्रतिपर्व तिलश एनां निकृत्य दुःख-मारिणीं करोमि।" (अङ्क ८)।

(३) "श्रीपर्वतादिहाहं सत्वरमपतं तयैव सह सद्यः।" (अङ्क १०)।

---

[1] देखिये "महायानकी उत्पत्ति"।

[2] पृष्ठ ८८—"श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञिके।
श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुवरे भुवि॥
सिध्यन्ते तत्र मन्त्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थकर्मसु॥"

[3] "ब्रुग-प-पद्म-द्कर्-पो" का "छोस्-ब्युङ" पृष्ठ १४ क-१५क।

[4] नहरल्ल-बडु (नागार्जुनी-कोंडा, जि० गुंटूर)।

वाण भी श्रीपर्वतके माहात्म्यसे खूब परिचित था; और, द्रविड़-पुरुपके साथ उसका सम्बन्ध जोड़नेसे उसका दक्षिणमें होना भी सिद्ध होता है—

"श्रीपर्वताश्चार्यवार्तासहस्राभिज्ञेन......जरद्द्रविडधार्मिकेन"[1]

और "सकल-प्रणयि-मनोरथ-सिद्धिः श्रीपर्वतो हर्षः।" (हर्पचरित, १ उच्छ्वास)।

इन उदाहरणोंसे अच्छी तरह मालूम होता है कि, छठी सातवीं शताब्दियोंमें श्रीपर्वत मन्त्र-तन्त्रके लिये प्रसिद्ध था। वस्तुतः मुसलमानोंके आने के वक्त (वल्कि हाल तक) जैसे बंगाल जादूके लिये मशहूर था, वैसे ही उस समय श्रीपर्वत था। ऊपरके मालतीमाधवके उद्धरणमें एक विशेप वात यह है कि, सौदामिनी एक बौद्ध-भिक्षुणी थी, जो पद्मावती (मालवा) से श्रीपर्वतपर मन्त्र-तन्त्र सीखने गयी थी।

श्रीपर्वतके साथ यहाँ सिद्धोंके वारेमें कुछ कह देना ज़रूरी है। वस्तुतः श्रीपर्वत सिद्धोंका स्थान था; और, जहाँ कहीं भी पुराने संस्कृत-काव्योंमें सिद्ध या सिद्धाचार्य-शब्द मिलता है, वहाँ प्रायः कविका अभिप्राय, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूपसे, श्रीपर्वतके साथ रहता है। सिद्धों और उनकी भविष्यद्वाणियों(—सिद्धादेशों)की हम संस्कृतसाहित्यमें भरमार पाते हैं। मृच्छकटिक (ईस्वी पाँचवीं शताब्दी)में भी—"आर्यकनामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति" (अङ्क २) और "चन्दनं भोः स्मरिष्यामि सिद्धादेशस्तथा यदि" देखनेमें आता है। नागार्जुनको सिद्ध-नागार्जुन कहा जाता है। सम्भवतः नागार्जुनने श्रीपर्वतको अपना वास-स्थान वनाया था। वज्रयानके साथ नागार्जुनको नहीं जोड़ा जा सकता। यद्यपि तिव्वती ग्रन्थकार इसके लिये नागार्जुनको ६०० वर्पकी लम्बी आयु देनेके लिये तैयार हैं; तथापि मालूम होता है कि, उनकी शिक्षामें मन्त्रोंकी कुछ वात थी, जिसकी पुष्टि श्रीपर्वतके मन्त्र-तन्त्रका केन्द्र वननेसे होती है।

---

[1] कादम्बरी (निर्णयसागर, सप्तम् संस्करण, पृ० ३९९)

नागार्जुनी-कोंडाकी खुदाईमें मिले लेखोंसे अव तो यह मालूम हो गया है कि, श्रीपर्वत श्रीशैल न होकर नागार्जुनी-कोंडाका 'नहरल्ल-वडु' पहाड़ ही है।

सातवीं शताब्दीमें मन्त्रयानका प्रथम रूप समाप्त होता है; और, उसके वाद, वह वज्रयानके घोर रूपको धारण करता है। १४वीं शताब्दीके सिंहल-भाषाके ग्रन्थ "निकाय-संग्रह"में इसी वज्रयानको वज्रपर्वतवासी-निकाय कहा है। मालूम होता है, श्रीपर्वत ही, वज्रयानका केन्द्र होनेके कारण, वज्रपर्वत कहा जाने लगा। यद्यपि वज्रयानके ग्रन्थोंमें वज्रपर्वत स्थान नहीं आता है; तथापि निकाय-संग्रहने जिन ग्रन्थोंको इस निकायका वताया है, वे वज्रयानके ही हैं। "निकायसंग्रहमें"[1] वज्रपर्वतवासियोंको निम्न ग्रन्थोंका कर्त्ता वताया गया है—

गूढ़ विनय।
मायाजालतंत्र ([2] *Nanjio's 1061*, भोट, कन्जुर ८४।१०)।
समाजतंत्र (गुह्यसमाजतंत्र कन्जुर ८३।२)।[3]
महासमयतत्व।
तत्वसंग्रह (क० २५।८)।
भूत-चामर (भूतडामरतन्त्र, क० ४३।८)।
वज्रामृत (क० ८२।१२)।
चक्र-संवर (क० ८०।१)।
द्वादशचक्र (कालचक्र, क० ७९।३, ४)।
भेरुकाद्वुद (हेरुकाद्भुत, क० ८१।२)।
महामाया (क० ८२।३)।

---

[1] निकायसंग्रह पृष्ठ ८, ९ (सीलोन सरकार द्वारा १९२२ में, मुद्रित

[2] *Bunjio Nanjio* का चीनी त्रिपिटक-सूचीपत्र।

[3] नार्थङके छापेके कन्जुरका लेखक द्वारा लिखित सूचीपत्र।

पदनिःक्षेप।
चतुष्पिष्ट (चतुः पीठतंत्र, क० ८२।६, ८)।
परामर्द (?महासहस्रप्रमर्दनी, क० ९१।१)।
मारीच्युद्भव।
सर्ववुद्ध (सर्ववुद्धसमायोग, क० ८९।६)।
सर्वगुह्य (क्रोध राज सर्वमन्त्र-गुह्य-तन्त्र, क० ८२।११)।
समुच्चय (वज्रयान-समुच्चय, क० ८३।५)।
मायामारीचिकल्प (क० ९१।६?)।
हेरम्वकल्प।
त्रिसमय कल्प (त्रिसमयव्यूह-राजतन्त्र, क० ८८।४)।
राजकल्प (? परमादिकल्पराज, क० ८६।५)।
वज्रगान्धारकल्प। मारीचिकल्प।
गुह्यकल्प (गुह्य-परमरहस्यकल्पराज क० ८९।१)।
शुद्धसमुच्चयकल्प (? सर्वकल्पसमुच्चय, क० ७९।७)।

ये सभी वज्रयानके प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, इसलिये वज्रपर्वतनिकाय और वज्रयान एक ही हैं। तिव्वतीय ग्रन्थोंमें लिखा है कि, वज्रयानका धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन वुद्धने श्रीधान्यकटकमें किया था। इससे वज्रयानकी उत्पत्ति भी, आन्ध्र-देशमें हुई सिद्ध होती है। श्रीपर्वत और धान्यकटक, दोनों ही वर्तमान गुंटूर जिलेमें हैं; इसलिये पीछे श्रीपर्वतके वज्रयानका केन्द्र वन जानेपर वही वज्रपर्वत कहा जाने लगा। मद्य, मन्त्र, हठयोग और स्त्री[1]—ये चार ही चीजें वज्रयानके मुख्य रूप हैं।

---

[1] गायकवाड़-ओरियंटल-सीरीज, वड़ौदासे प्रकाशित "गुह्यसमाज-तंत्र" में लिखा है—

"प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषा वचः
अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषितामपि॥

चौथी बात (स्त्री) में तो उन्होंने जाति, कुल ही नहीं, बल्कि माता, बहन के सम्बन्धतककी अवहेलना करनेकी शिक्षा दी है। यह बुद्धकी मूल शिक्षासे दूर तो थी ही, महायानके लिये भी इसे जल्दी हजम करना मुश्किल था। इसी

अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्त्वान् प्रचोदयेत्।
एषो हि सर्वबुद्धानां समयः परमशाश्वतः॥" (पृ १२०)
"दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिध्यति।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिध्यति॥" (पृ १३६)
"विण्मूत्रशुक्ररक्तानां जुगुप्सां नैव कारयेत्।
भक्षयेत् विधिना नित्यं इदं गुह्यं त्रिवज्रजम्॥" (पृ १३६)
"नीलोत्पलदलाकारं रजकस्य महात्मनः।
कन्यां तु साधयेत् नित्यं वज्रसत्त्व-प्रयोगतः॥" (पृ० ९४)

वज्रयानके आदि आचार्योंमें सिद्ध अनङ्गवज्र भी हैं। यह ८४ सिद्धोंमें से एक हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ "प्रज्ञोपायविनिश्चय-सिद्धि" (गा० ओ० सी० बड़ोदा) में लिखा है—

"प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्ति-काङ्क्षिभि॥२२॥
ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता।॥२३॥
ब्राह्मणादिकुलोत्पन्नां मुद्रां वै अन्त्यजोद्भवाम्॥२४॥
जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्त्वयोगेन लघु सिध्येद्धि साधकः॥२५॥" (पृ० २२-२५)

इनके शिष्य सिद्ध राजा इन्द्रभूतिने अपने ग्रन्थ "ज्ञानसिद्धि" में लिखा है—

"घातयेत् त्रिभवोत्पत्तिं परवित्तानि हारयेत्।
कामयेत् परदारान्वै मृषावादमुदीरयेत्॥१४॥
कर्मणा येन वै सत्त्वाः कल्पकोटिशतान्यपि।
पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते॥१५॥...
भक्ष्याभक्ष्यविनिर्मुक्तो पेयापेयविवर्जितः।
गम्यागम्य-विनिर्मुक्तो भवेद् योगी समाहितः॥१८॥

महायानसे साधारण मन्त्र-यानमें होकर वज्रयान तक पहुँचना पड़ा। साधारण मन्त्रयानसे कब यह ज्वालामुखी फूट पड़ा, इसके बारेमें त्यक्ष प्रमाण तो मिल नहीं सकता; किन्तु ऐसी बातें हैं, जिनके बलपर पका आरम्भ सातवीं शताब्दीके आसपास मान सकते हैं—

(१) सिंहलके "निकाय-संग्रह"में लिखा है—राजा मत-बल-सेन -८६६ ई०)के समय वज्रपर्वतनिकायका एक भिक्षु सिंहलमें आया रांकुर(विहार)में रहने लगा। उसके प्रभावमें आकर राजाने र (वज्रयान) मतको स्वीकार किया। इसीसे लंकामें रत्नकूट (ग्रन्थों)का प्रचार आरम्भ हुआ। इसके बादके राजाने यद्यपि वज्र-नके खिलाफ कुछ कड़ाई [१] दिखायी, तथापि वाजिरिय सिद्धान्त गोप्य थे; इसलिये वह चुपचाप बने रहे। तिब्बतके रंगीन चित्रोंमें जिन्होंने अतिशा (दीपंकर श्रीज्ञान) आदि भारतीय भिक्षुओंकी शकल देखी होगी, उन्हें वहाँ उनके चीवरके भीतर एक नीले रंगकी जाकेट-सी दिखायी पड़ी होगी। "निकायसंग्रह"में इसकी उत्पत्ति विचित्र ढँगसे कही गई है—जिस समय कुमारदास (५१५-५२४ ई०) सिंहलमें राज्य कर रहे थे, उसी समय क्षिण मधुरामें श्रीहर्ष नामक राजा शासन करता था। उस समय सम्मितीय कायका एक दुःशील भिक्षु, नीला कपड़ा पहन, रातको वेश्याके पास गया। दिन उग आनेपर वह विहार लौटा और उसके शिष्योंने वस्त्रके बारेमें छा, तब उसने उसके बहुतसे माहात्म्य वर्णन किये। तबसे उसके अनुयायी

चाण्डालकुलसंम्भूतां डोम्बिकां वा विशेषतः।
जुगुप्सितकुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात्॥८२॥ (१....)
शुक्रं वैरोचनं ख्यातं परं वज्रोदकं तथा।
स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा॥" (२।४२)

[१] 'सद्धम्मपटिरूपानं दिस्वालोके पवत्तानं
गण्हापेसि तथा रक्खं सागरन्ते समन्ततो॥' (निकाय; सं० पृ० १७)

नीला वस्त्र पहनने लगे। उनके "नीलपट-दर्शन"में लिखा है—

"वेश्यारत्नं सुरारत्नं रत्नं देवो मनोभवः।
एतद्रत्नत्रयं वन्दे अन्यत् काचमणित्रयम्॥"

कहते हैं, इसपर श्रीहर्षने उन्हें बहानेसे एक घरमें इकट्ठा कर जलवा दिया।

इस कथामें सभी बातें तो सच नहीं मालूम होतीं; किन्तु छठी शताब्दीमें इस सम्प्रदायकी उत्पत्ति तथा साम्मितीय निकायसे इसका सम्बन्ध कुछ ठीकसा जँचता है। हम दूसरी जगह, अपने "महायानकी उत्पत्ति" नामक लेखमें, लिख चुके हैं कि, महायानकी उत्पत्तिमें साम्मितीयोंका काफी हाथ था। इस तरह हम छठी शताब्दीको वज्रयानकी उत्पत्तिकी ऊपरी सीमा मान सकते हैं। निचली सीमा हमें ८४ सिद्धोंके कालसे मिलती है।

२—चौरासी सिद्ध[1]

---

[1] इस वंशवृक्षको मैंने अधिकांश तिब्बतके स-स्क्य-विहारके पाँच प्रधान गुरुओं (१०९१-१२७९ ई०) की ग्रन्थावली "स-स्क्य-ब्कं-बुम्" के सहारे बनाया है, जो कि, चीनकी सीमाके पास "तेर्-गी" मठमें छपी है। मत्स्येन्द्र जालन्धर पादके शिष्य थे, यह प्रोफेसर पीताम्बरदत्त बड्थ्वालजीके लेखसे लिया है। कहीं-कहीं कुछ दूसरे भोटिया -(तिब्बतीय) ग्रन्थोंसे भी मदद ली गयी है। लेखकके पास जो नार-थङके तन्-जूरकी प्रति है, वह ब्लाकके पुराने होनेसे सुपाठ्य नहीं है; इसी लिये कुछ स्थान पढ़े नहीं जा सकते। पेरिसके महान् पुस्तकालयकी तन्-जूर्की कापी मैंने मिलायी थी; किन्तु उसका नोट पासमें न होनेसे यहाँ उसका उपयोग नहीं किया जा सका।

स-स्क्य-ब्कं-बुम् 'प' में (महन्तराज फग-स्-प १२३३–१२७९ ई० की कृति) के पृष्ठ "६५ क" में सरहपादसे नारोपा तककी परम्परा इस प्रकार दी हुई है—(महाब्राह्मण) सरह, (नागार्जुन), (शबरपा), लूयिपा, दारिकपा, (वज्रघण्टापा), (कूर्मपाद), जालन्धरपा, (कण्हचर्यपा) गुह्यपा, (विजयपा), तेलोपा, नारोपा।

कोष्टकके भीतरके नाम मैंने भोटियासे अनुवाद कर दिये हैं।

सरह आदिम सिद्ध हैं, और, आगे हम वतलायेंगे कि, वह पालवंशीय राजा धर्मपाल (ई० ७६८–८०९)के समकालीन थे; इसलिये उनका समय, आठवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध, मानना चाहिये। प्रथम कहे कारणों-से हम वज्रयानकी उत्पत्तिको, छठी शताब्दीसे पूर्व और सरह आदिके कारण आठवीं शताब्दीसे वाद भी, नहीं मान सकते। सरह उन चौरासी सिद्धोंके आदि-पुरुष हैं, जिन्होंने लोक-भाषाकी अपनी अद्भुत कविताओं तथा विचित्र रहन-सहन और योग-क्रियाओंसे वज्रयानको एक सार्वजनीन धर्म वना दिया। इससे पूर्व वह, महायानकी भाँति, संस्कृतका आश्रय ले, गुप्त रीतिसे फैल रहा था। सरहसे पूर्वकी एक शताब्दीको हम साधारण मन्त्रयान और वज्रयानका सन्धि-काल मान सकते हैं। आठवीं शताब्दीसे जोरोंका प्रचार होने लगा। तवसे मुसलमानोंके आने तक यह वढ़ता ही गया। १२वीं शताब्दीके अन्तमें भारतके तुर्कोंके हाथमें जानेके समयसे पतन आरम्भ हुआ और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों तक यह विलुप्त तथा रूपान्तरित हो गया (वंगाल, उड़ीसा और दक्षिण भारतमें कुछ देर और रहा)। रूपान्तरित इसलिये कि, ऊपरी वंश-वृक्षमें आपको चौरासी सिद्धोंमें गोरक्ष-नाथ, मीननाथ और चौरंगीनाथका नाम मिलेगा। यहाँ हमने इन्हें तिव्वती ग्रन्थके आधारपर दिया है। उधर नाथपंथके ग्रन्थोंमें भी चौरासी सिद्धोंके साथ सम्वन्ध होनेकी वात दिखायी पड़ती है। इसे समझनेमें और आसानी होगी, यदि आप चौरासी सिद्धोंकी निम्न सूचीपर ध्यान देंगे—

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
१ लूइपा	कायस्थ	(मगध)	राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)
२ लीलापा			सरह (६) से तीसरी पीढ़ी
३ विरूपा		मगध (देवपालका देश)	राजा देवपाल (८०९-४९ ई०)
४ डोम्बिपा	क्षत्रिय	(मगध)	लूइपा (१) का शिष्य
५ शबरपा	,,	विक्तमशिला	[सरह (६) का शिष्य, लूइपा-का गुरु]
६ सरहपा	ब्राह्मण	(नालन्दा)	राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)
७ कंकालीपा[1]	शूद्र	मगध[3]	
८ मीनपा	मछुआ	कामरूप....	जालन्धरपाद (४६) का शिष्य गोरक्षपाके गुरु मत्स्येन्द्रका पिता
९ गोरक्षपा			देवपाल[2] (८०९-४९ ई०)
१० चोरंगिपा	राजकुमार	मगध	गोरक्षपा (९) का गुरुभाई

[1] कोंकलिपा, कंकलिपा, कंकरिपा

[2] "चतुराशीति-सिद्ध-प्रवृत्ति" तन्जूर ८६।१ *Cordier* पृ० २४७।

[3] पूर्व में राज्ञी नगर।

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
११ वीणापा	राजकुमार	गौड़ (विहार)	कण्हपा (१९)के शिष्य, भद्रपाका शिष्य
१२ शान्तिपा[1]	ब्राह्मण	मगध	महीपाल ९७४-१०२६
१३ तन्तिपा	तँतवा	सोंधो नगर	जालन्धर (४६)का शिष्य
१४ चमारिपा	चर्मकार	विष्णुनगर (पूर्वदेश)	
१५ खड्गपा	शूद्र	मगध	चर्पटी (५४)का शिष्य
१६ नागार्जुन	ब्राह्मण	काञ्ची	सरह (६)का शिष्य
१७ कण्हपा (चर्यपा)	कायस्थ	सोमपुरी	देवपाल (८०९-४९ ई०)
१८ कर्णरिपा (आर्यदेव)		(नालन्दा)	नागार्जुन (१६)का शिष्य
१९ थगनपा	शूद्र	पूर्व भारत	शान्तिपा (१२)का गुरु
२० नारोपा[2]	ब्राह्मण	मगध........	(महीपाल ९७४-१०२६ ई०)
२१ शलिपा[3] (शीलपा)	शूद्र	विघसुर	
२२ तिलोपा (तिल्लोपा)	ब्राह्मण	भिगुनगर	नारोपा (२०)का गुरु

[1] रत्नाकर शान्ति (विक्रमशिला)

[2] देहान्त १०३९ ई०।

[3] सम्भवतः शृगालीपाद ("बौद्ध गान ओ दोहा") भी यही हैं।

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
२३ छत्रपा	शूद्र	संधोनगर	
२४ भद्रपा	ब्राह्मण	मणिधर[1]	सरहपा(६)से तीसरी पीढ़ी
२५ दोखंधि (द्विखंडि)पा		गंधपुर	
२६ अजोगिपा	गृहपति	सालिपुत्र	
२७ कालपा		राजपुर......	अवधूतिपा (११वीं शताब्दी) की तीसरी पीढ़ी
२८ धोम्भिपा	धोबी	सालिपुत्र	
२९ कंकणपा	राजकुमार	विष्णुनगर	
३० कमरि (कंबल)पा		उड़ीसा	घंटापा (५२)का शिष्य
३१ डेंगिपा	ब्राह्मण	उड़ीसा (सालिपुत्र)	लूइपा (१)का शिष्य
३२ भदेपा		श्रावस्ती	कण्हपा (१७)का शिष्य
३३ तंधे (तंते)पा[2]	शूद्र	कौशाम्बी	
३४ कुकुरिपा	ब्राह्मण	कपिल(वस्तु)	मीनपा(८)का गुरु
३५ कुचि[3] (कुसूलि)पा	शूद्र	करि	

[1] सम्भवतः बघेलखण्डका मैहर।

[2] सम्भवतः टंटन (बौ० गा० दो०)

[3] सम्भवतः गुंजरीपा (,,)।

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
३६ धर्मपा	ब्राह्मण	विक्रम (शिला) देश	कण्हपा (१७) और जालन्धरपाका शिष्य
३७ महीपा (महिलपा)	शूद्र	मगध	कण्हपा (१७) का शिष्य
३८ अचिंतिपा	लकड़हारा	धनिरूप (?)	
३९ भलह (भव) पा	क्षत्रिय	धञ्जुर (देश)	
४० नलिनपा		सालिपुर	
४१ भुसुकुपा	राजकुमार	नालन्दा	देवपाल (८०९-४९ ई०)
४२ इन्द्रभूति	राजा	लङ्कापुर	अनंगवज्र (८१) और कंवलपा (३०) का शिष्य
४३ मेकोपा	वणिक्	[1] भंगलदेश	
४४ कुठालि (कुद्दालि) पा		रामेश्वर	शान्तिपा (१२) का शिष्य
४५ कर्मार (कम्पारि) पा	लोहार	सालिपुत्र	अवधूतिका शिष्य
४६ जालन्धरपा [2]	ब्राह्मण	नगर भो.....	कण्हपा (१७) और मत्स्येंद्रका गुरु

[1] वर्तमान भागलपुर जिला। [2] जालधारक।

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
४७ राहुलपा	शूद्र	कामरूप	सरह (६)से तीसरी पीढ़ी
४८ घर्वरि (घर्भरि)पा		बोधिनगर	विरूपा (३)से चौथी पीढ़ी
४९ धोकरिपा	शूद्र	सालिपुत्र	
५० मेदनीपा[1]		लाखपुय (?)	लीलापा (२)से चौथी पीढ़ी
५१ पंकजपा	ब्राह्मण		नागार्जुन (१६)से शिष्य
५२ (वज्र) घंटापा	क्षत्रिय	वारेन्द्र[2]	देवपाल (८०९-४९ ई०)
५३ जोगीपा (अजोगिपा)	डोम	(उडन्तपुरी)	शवपा (५)का शिष्य
५४ चेलुकपा	शूद्र	भंगलपुर	अवधूति (मैत्री)पाका शिष्य
५५ गुंडरिपा (गोरुर)पा	चिड़ीमार[3]	डिसुनगर	लीलापा (२)का शिष्य
५६ लुचिकपा	ब्राह्मण	भंगलदेश	
५७ निर्गुणपा	शूद्र	पूर्व देश	
५८ जयानन्त	ब्राह्मण	भगलपुर	
५९ चर्पटी (पचरी)पा	कहार[4]	चम्पा	मीनपा (८)का गुरु

[1] सम्भवतः हालीपा भी कहते हैं। [2] चतुरशीतिसिद्धप्रवृत्ति (तन्जूर ८६।१)में नालन्दा लिखा है। [3] व्य-प (भोटियामें)। [4] खुर्-ब छोङ-व=बहँगी बेचनेवाला, भार बेचनेवाला।

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
६० चम्पकपा		राजकुमार (?)	
६१ भिखनपा	शूद्र	सालिपुत्र	
६२ भलिपा	[1]कृष्णघृतवणिक्	सतपुरी	
६३ कुमरिपा		जोमनश्रीदेश (?)	
६४ चवरि (जवरि=अजपालि)पा			कण्हपा (१७)की तीसरी पीढ़ी
६५ मणिभद्रा (योगिनी)	गृहदासी	मगध	कुकुरिपाकी शिष्या
६६ मेखलापा (योगिनी)	गृहपतिकन्या	अगचेनगर	कण्हपा (१७)की शिष्या
६७ कनखलापा (योगिनी)		देवीकोट	कण्हपा (१७)की शिष्या
६८ कलकलपा	शूद्र	भिरलिरनगर (?)	
६९ कंताली (कंथाली)पा	दर्जी	मणिधर (मैहर)	कण्हपा (१७)का शिष्य
७० धहुलि[2] (धहुरि)पा	शूद्र	धेकरदेश (?)	
७१ उधलि (उधरि)पा	वैश्य	देवीकोट	कर्णरिपा (१८)का शिष्य
७२ कपाल (कमल)पा	शूद्र	राजपुरी	
७३ किलपा	राजकुमार	प्रहर (? सहर)	

---

[1] मर्-नग्-छोङ-पा। [2] सम्भवतः ववडीपा (चर्यागीति)।

नाम	जाति	देश	समकालिक राजा या सिद्ध
७४ सागरपा	राजा	कांची	
७५ सर्वभक्षपा	शूद्र	महर (सहर)	शवरी (२, छोटे सरह) और भूसुक (४१)का शिष्य
७६ नागवोधिपा	ब्राह्मण	पश्चिम भारत	नागार्जुन (१६)का शिष्य
७७ दारिकपा	राजा	उड़ीसा (सालिपुत्र)	लूइपा (१)का शिष्य
७८ पुतुलिपा	शूद्र	भंगलदेश	
७९ पनह (उपानह)पा	चमार	सन्धो नगर	
८० कोकालिपा	राजकुमार	चम्पारन	
८१ अनंगपा	शूद्र	गौड़	डोम्बिपा (४) तीसरी पीढ़ी
८२ लक्ष्मीकरा (योगिनी)	राजकुमारी	सम्भलनगर[1]	राजा इन्द्रभूतिकी वहन
८३ समुदपा		सर्वडिदेश[2]	
८४ भलि (व्यालि)पा	ब्राह्मण	अपत्रदेश (?)	

---

[1] सम्भलपुर (विहार)। [2] सर्वार (गोरखपुर, वस्ती जिले)।

चौरासी सिद्धोंकी गणनामें यद्यपि पहला नम्बर लूइपाका है; तथापि वह चौरासी सिद्धोंका आदिम पुरुष नहीं था, वह ऊपर दिये वंश-वृक्षसे मालूम होगा। यद्यपि इस वंश-वृक्षमें सिर्फ ५० से कुछ अधिक सिद्ध आये हैं; तथापि छूटे हुओंमें सरहके वंशसे पृथक्का कोई नहीं मालूम होता; इसलिये सरह ही चौरासी सिद्धोंका प्रथम पुरुष है। चौरासी सिद्धोंमें सरह; शवर, लूइ, दारिक, वज्रघण्टा (या घण्टा) जालंधर, कण्हपा और शान्तिका खास स्थान है। वज्रयानके इतने भारी प्रचार और प्रभाव-का श्रेय अधिकांशमें इन्हींको है। डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्यने[1] सरहका समय ६३३ ई० निश्चित किया है। भोटिया-ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि, (१)[2] बुद्धज्ञान जो सरहके सहपाठी और शिष्य थे, दर्शनमें हरिभद्रके भी शिष्य थे। हरिभद्र शान्तरक्षितके शिष्य थे, जिनका देहान्त ८४० ई० के करीब तिब्बतमें हुआ था। (२) वहींसे यह भी मालूम होता है कि, बुद्धज्ञान और हरिभद्र महाराज धर्मपाल[3] (७६९–९०९) के समकालीन[4] थे। (३) सरहके शिष्य शवरपा लूइपाके गुरु थे। लूइपा महाराज धर्मपालके[5] कायस्थ (=लेखक) थे।

शान्तरक्षितका जन्म ७४० के करीब, विक्रमशिलाके पास, सहोर[6]-राजवंशमें हुआ। फलतः हम सरहपाको महाराज धर्मपाल (७६९–८०९) का समकालीन मान लें, तो सभी बातें ठीक हो जाती हैं। इस प्रकार चौरासी

---

[1] बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीका जर्नल, खण्ड १४, भाग ३, पृष्ठ ३४९।

[2] स-स्क्य वर्क-ऽबुम् फ्, पृष्ठ २१२ ख—२१७ क।

[3] अध्यापक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्यके मतानुसार ७४४-८०० ई०।

[4] स-स्क्य वर्क-ऽबुम् फ्, पृष्ठ २१२ ख।

[5] स-स्क्य-र्क-ऽबुम् फ्- पृष्ठ २४३ क।

[6] वर्तमान सबोर पर्गना (भागलपुर)।

सिद्धोंका आरम्भ हम आठवीं शताब्दीके अन्त (८००ई०) मान सकते हैं। अन्तिम सिद्ध कालपाद (२७), मालूम होता है, चेलूकपा (५४) के शिष्य थे। एक छोटे कालपाद भी हुए हैं, यदि यह वह नहीं हैं, तो इन्हींको चौरासी सिद्धोंमें लिया जा सकता है। चेलुकपा अवधूतिपा या मैत्रीपाके शिष्य थे। यह वही मैत्रीपा हैं, जो दीपंकर श्रीज्ञानके विद्यागुरु थे और ग्यारहवीं शताब्दीके आरम्भमें वर्त्तमान थे। इस प्रकार अन्तिम सिद्धका समय ग्यारहवीं शताब्दीके अन्तसे पूर्व होगा। अतएव चौरासी सिद्धोंका युग—८००–११७५ ई० मानना ठीक जान पड़ता है। इसी समय सिद्धोंकी चौरासी संख्या पूरी हो गयी थी।[1]

---

[1] वज्रयानकी ऐतिहासिक खोज भोटिया-(तिब्बती)साहित्यकी सहायताके बिना बिल्कुल अपूर्ण रहेगी; किन्तु, भोटिया-साहित्यका उपयोग करनेमें कुछ बातोंका ध्यान रखना जरूरी है; नहीं तो, भारी गलती होनेका डर है। पहली बात तो यह है कि, इस प्रकारकी सामग्रीमें पद्मसंभवसे सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ बहुत ही भ्रमपूर्ण हैं। भोटके निग्-मा-पा सम्प्रदायने भोटमें एक अलौकिक बुद्ध खड़ा करनेके खयालसे, इस अद्भुतकर्मा पुरुषकी सृष्टि की! ज्यादासे-ज्यादा इसकी ऐतिहासिकताके, बारेमें इतना ही कह सकते हैं कि, शान्तरक्षितकी मण्डलीके भिक्षुओंमें पद्मसंभव नामका एक साधारण भिक्षु भी था। जैसे महायानने पाली-सूत्रोंके अल्प प्रसिद्ध सुभूतिको सारी प्रज्ञापारमिताओंका उपदेष्टा बनाकर सारिपुत्र और मौद्गल्यायनसे भी अधिक महत्त्वशाली बना डाला, वैसे ही निग्-मा-पाने पद्मसंभवके लिये किया। दूसरी बात ध्यान देनेकी यह है कि, भोट में भारतीय बौद्धधर्मके इतिहासकी सामग्री दो प्रकारकी है। एक तो उस समयकी, जब कि, भारतमें बौद्धधर्म जीवित था और उस समय भारतीय विद्वान् तिब्बतमें धर्म-प्रचारार्थ तथा तिब्बतीय विद्यार्थी भारतमें अध्ययनार्थ आया-जाया करते थे। दूसरी वह, जब कि, भारतसे बौद्धधर्म नष्ट

उक्त समयमें ही चौरासी संख्या पूरी हो जानेका एक और प्रमाण मिलता है। बारहवीं शताब्दीके अन्तमें मित्रयोगी या जगन्मित्रानन्द

हो चुका था और तिब्बतीय ग्रन्थकार नेपाल या भारतमें आकर, अथवा भोटमें यहाँके आदमियोंको पाकर, सुन-सुनाकर लिखते गये। इन दो प्रकारकी सामग्रियोंमें प्रथम प्रकारकी सामग्री ही अधिक प्रामाणिक है। इस सामग्रीके संग्रह करनेके समयको तीन हिस्सोंमें बाँटा जा सकता है—

(१) सम्राट् ठि-स्रोङ-ल्दे-व्चन्से सम्राट् रल्-पा-चन् तक (७१९-९०० ई०)।

(२) अतिशा और उनके अनुयायियोंका समय (१०४२-१११७ ई०)।

(३) स-स्क्य-विहारकी प्रधानता और बु-स्तोन्का समय (११४१-१३६४) ई०।

बु-स्तोन्के बाद भारतसे बौद्धधर्म नष्ट हो जानेके कारण, फिर भोटको सजीव बौद्ध भारतसे सम्बन्ध जोड़नेका अवसर नहीं मिला। प्रथम कालमें ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम मिलती हैं, जो मिलती भी है, उसे निग्-मा-पा (प्राचीनपंथी) सम्प्रदायने इतना गड़बड़ कर दिया है कि, उसका उपयोग बहुत ही सावधानीसे करना पड़ेगा। दूसरे कालमें डोम्-तोन् आदि रचित दीपंकरकी जीवनी एवं कई और ऐतिहासिक ग्रन्थ बड़े कामके हैं। तृतीय कालकी सामग्री बहुत ही प्रामाणिक तथा प्रचुर प्रमाणमें मिलती है। इसके मुख्य ग्रन्थ हैं स-स्क्यविहारके पाँच प्रधान महन्त-राजाओंकी कृतियाँ (स-स्क्य-ब्कं-बुम्) और बु-स्तोन् (१२९०-१३८४ ई०) तथा उनके शिष्योंकी ग्रन्थमाला (बु-स्तोन्-पब-स्रस्-ग्सुं-बुम्)। डुक्-पा-पद्मा-दकर्-पो (जन्म १५२६ ई०), लामा तारनाथ (जन्म १५७४ ई०) तथा वैसे ही दूसरे कितने ही लेखकोंकी कृतियाँ कुछ तो भोटकी पुरानी सामग्रीपर अवलम्बित हैं और कुछ सुनी-सुनाई बातोंपर। इसलिये इनका उपयोग करते वक्त बहुत सावधानीकी आवश्यकता है।

एक बड़े सिद्ध हो गये हैं। इनकी २० के करीब पुस्तकें भोटिया-भाषामें अनूदित हुई हैं, जिसमें "पदरत्नमाला" तथा "योगीस्वचित्त-ग्रंथकोपदेश" हिन्दी कविताएँ मालूम होती हैं। इन्हींके ग्रन्थोंमें "चन्द्रराज-लेख" भी है। इनके दुभाषियोंमें थे ग्नुब्-निवासी छुल्-खिम्स् और ख्रो-फु-निवासी ब्यम्स्-पई-पल्। ख्रो-फू-ब्यम्स्-पई-पल्की प्रार्थनापर यह ११९७ ई०में नेपालसे तिब्बत गये[1] और वहाँ अठारह मास रहे। यह ख्रो-फु-लोचवा (=दुभाषिया) वही है, जो विक्रमशिला-विहारके महम्मद-बिन्-बख्तियार द्वारा नष्ट किये जानेपर वहाँके पीठ-स्थविर शाक्यश्रीभद्रको ११९९ में भोट ले गया। यहाँ हमारा मतलब मित्रयोगीसे है। तिब्बतमें तो यह प्रसिद्ध ही थे। इनके "चन्द्रराज-लेख" से मालूम होता है कि, वह किसी राजाके लिये लिखा गया है; और, यह भी अनुमान हो रहा था कि, वह बारहवीं शताब्दीके अन्तमें युक्तप्रान्त या विहारका कोई राजा रहा होगा। अब अनुमानकी जरूरत ही नहीं है। इसी समयके बोधगयाके एक शिलालेखमें[2] इनका और गहडवार राजा जयचन्द्र (११७१-९४ ई०)का जिक्र इन शब्दोंमें आया है—

"अस्ति त्रिलोकी सुकृतप्रसूतः संत्रातुमामन्त्रितसर्वभूतः।
सम्बुद्धसिद्धान्वयधुर्य्यभूतः श्रीमित्रनामा परमावधूतः॥४॥
हिंस्राः हिंसामशेषाः क्रुधमधिकरु षस्त्रस्नवस्त्रासमाशु
व्याधूयोदस्तहस्तप्रणयपरतया विश्वविश्वासभूमेः।
चेतः संप्रीयमाणं मधुरतरदृशा श्लेषपीयूषपाते-
स्तिर्यञ्चःसूचयन्ति च्युतमलपटलं यस्य मैत्रीषु चित्तम्। ॥५॥
उदितसकल भूमीमण्डलैश्वर्य-सिद्धिः
स्वयमपिकिमपीच्छन्नच्छधैर्यस्य शिष्यः।

---

[1] जर्नल एसियाटिक सोसाइटी (बंगाल) १८८९, जिल्द ५८, पृष्ट १

[2] इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता; मार्च १९२९, पृष्ठ १४-३०)।

अभवदभयभाजः श्रद्धया वन्धुरात्मा
नृपशतकृतसेवः श्रीजयच्चन्द्रदेवः ॥(१०)
श्रीमन्महाबोधिपदस्य शास्त्रग्रामादिकं मग्नमशेषमेव।
काशीशदीक्षागुरुरुद्दधार यः शासनं शासनकर्णधारः ॥(१२)
सत्राणि तिसृणां चासामङ्गणेषु निरङ्कुणः।
सोऽयं श्रीमज्जगन्मित्रः शाश्वतीकृत्य कृत्स्नवित् ॥(१४)
....वेदनयनेन्दु-निष्ठया संख्ययाङ्कपरिपाटिलक्षिते।
विक्रमाङ्कनरनाथवत्सरे ज्येष्ठमासि युगपद् व्यदीधपत् ॥"(१५)

इसमें मित्र और जगन्मित्र, दोनों ही नाम आये हैं। काशीश्वर जयच्चन्द्रदेवका उन्हें दीक्षा-गुरु कहा है और साथ ही बुद्धधर्म (=शासन) का कर्णधार भी। सिद्धोंके सारे गुण इनमें थे; तो भी इनका नाम चौरासी सिद्धोंमें न आना बतलाता है कि, इनके पहले ही चौरासी संख्या पूरी हो चुकी थी।[1]

---

[1] (१) बौद्धधर्ममें अन्त तकका विचार-विकास। (२) बौद्धधर्मके भारतसे लोपका कारण। (३) भारतमें, आम तौरसे, विहारमें विशेष तौरसे तथा गया जिलेमें बहुत ही अधिकतासे जो बौद्ध-मूर्तियाँ मिलती हैं, उनका परिचय तथा बौद्धमूर्ति-विद्या। (४) नाथपंथ, कबीर, नानक आदि संतमतसंबंधी विचारके स्रोतका मूल। (५) कौलधर्म, वाममार्ग, भैरवीचक्र आदिके विकासका इतिहास। (६) भारतमें हठयोग, स्वरोदय, त्राटक (Hypnotism), भूतावेश (Spiritualism) का क्रम-विकास (७) १२ वीं शताब्दीमें भारतीयोंकी राजनीतिक पराजयका कारण। (८) पालवंशका इतिहास (विशेष तौर से) गहडवार आदि कितने ही राजवंशोंका इतिहास (आंशिक तौरसे)। (९) हिन्दी-भाषाके आदि कवि और उनकी कविता।

—यह और कितने ही और भी विषय हैं, जिनके लिये वज्रयानके इतिहासका अध्ययन बहुत ही महत्वपूर्ण है।

(१०)

हिन्दीके प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ

सिद्धयुग (८००—१२०० ई०)

सिद्ध लोगोंने उस समय लोकभाषामें कविता शुरू की, जिस समय शताब्दियोंसे भारतके सभी धर्मवाले किसी-न-किसी मुर्दा भाषा द्वारा अपने धर्मका प्रचार कर रहे थे, और इसी कारण उनके धर्मके जाननेवाले बहुत थोड़े हुआ करते थे। सिद्धोंके ऐसा करनेके कारण थे—वह धर्म, आचार, दर्शन आदि सभी विषयोंमें एक क्रान्तिकारी विचार रखते थे। वह सभी अच्छी-बुरी रूढ़ियोंको उखाड़ फेंकना चाहते थे; यद्यपि जहाँतक मिथ्या-विश्वासका सम्बन्ध था, उसमें वह कई गुनी वृद्धि करनेवाले थे। अपने वज्रयानकी जनतापर विजय पानेके लिये उन्होंने भाषाकी कविताका सहारा लिया। आदिसिद्ध स र ह पा द से ही हम देखते हैं कि, सिद्ध बननेके लिये भाषाका कवि होना, मानों एक आवश्यक बात थी। सिद्धोंने भाषामें कविता करके यद्यपि अपने विचारोंको जनताके समझने लायक बना दिया; तथापि डर था कि, विरोधी उनके आचार-विरोधी कर्म-कलापका खुले-आम विरोध कर कहीं जनतामें घृणाका भाव न पैदा कर दें; इसीलिये वह एक तो विशेष-योग्यता-प्राप्त व्यक्तियोंको ही उन्हें सुननेका अवसर देते थे, दूसरे भाषा भी ऐसी रखते थे, जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार, दोनोंमें लग जाये। इस भाषाको पुराने लोगोंने "सन्ध्याभाषा" कहा है; और, आजकल उसे "निर्गुण," "रहस्यवाद," या "छायावाद" कह सकते हैं। गुप्त रक्खे जानेके ही कारण हमें "प्राकृत-पैङ्गल" जैसे ग्रन्थोंमें इन काव्योंका कोई उद्धरण नहीं मिलता।

अन्यत्र हम लिख चुके हैं कि, चौरासी सिद्धोंका काल ८००-११७५ ई० है; किन्तु सिद्ध उसके बाद भी होते रहे हैं; इसलिये सिद्धकाल उससे बादतक भी रहा है; तोभी भापाके खयालसे हम उसे महाराज जयचन्द्रके गुरु मित्रयोगी (१२००)के साथ समाप्त करते हैं। रामानन्द, कबीर (जन्म १३९९ ई०, मृ० १४४८); नानक (जन्म १४६८ ई०), दादू (जन्म १५४४ ई०) आदिसे राधा-स्वामी दयालतक सभी सन्त इन्हीं चौरासी सिद्धोंकी टकसालके सिक्के थे। रामानन्दकी कविताएँ दुर्लभ हैं। उन्होंने तथा उनके शिष्य कबीरने, चौदहवीं शताब्दीके अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दीके आरम्भमें, अपनी कविताएँ कीं। यदि बारहवीं शताब्दीके अन्तसे चौदहवीं शताब्दीके अन्तका कविता-प्रवाह जोड़ा जा सके, तो सिद्ध और सन्त-कविता-प्रवाहके एक होनेमें आपत्ति नहीं हो सकती। यह जोड़नेवाली शृङ्खला नाथपन्थकी कविताएँ हैं। हम कबीर-सम्बन्धी कहावतोंमें गोरखनाथ और कबीरका विवाद अक्सर सुनते हैं। महाराज देवपाल (८०९-८४९ ई०)के समकालीन सिद्ध गोरखनाथ पन्द्रहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें कबीरसे विवाद करने नहीं आ सकते। वस्तुतः वहाँ हमें गोरखनाथकी जगह उनके नाथपन्थको लेना चाहिये। मुसलमानोंके प्रहार और अपनी भीतरी निर्बलताओंके कारण बौद्धधर्म विलीन होने लगा। उससे शिक्षा ग्रहण कर आत्मरक्षार्थ नाथपन्थ धीरे-धीरे अनीश्वरवादीसे ईश्वरवादी हो गया। कबीरके समय वही एक ऐसा पन्थ था, जिसकी वाणियों और सत्संगोंका प्रचार सर्वसाधारणमें अधिक था। जिस प्रकार बड़ोदा, इन्दौर, कोल्हापुर तथा कुछ पहले झाँसी और तंजोरतक फैले छोटे-छोटे मराठा-राज्य एक भूतपूर्व विशाल मराठा-साम्राज्यका साक्ष्य देते हैं, उसी प्रकार आज भी काबुल, पंजाब, युक्त-प्रान्त, बिहार, बङ्गाल और महाराष्ट्रतक फैली नाथपन्थकी गद्दियाँ नाथ-पन्थके विशाल विस्तारको बतलाती हैं। यह विस्तार वस्तुतः उन्हें अपने चौरासी सिद्धोंसे, पैतृक सम्पत्तिके रूपमें मिला था। नाथपन्थके

परिवर्तनके साथ शेष बौद्ध, ब्राह्मण-धर्ममें लौटे।

"नाथपन्थ" चौरासी सिद्धोंसे ही निकला है। इसके लिये यहाँ कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा—विशेषतः जब कि, बारहवींसे चौदहवीं शताब्दीतककी हिन्दी-कविताओंके लिये हमें अधिकतर नाथ-घरानेकी ओर ही नजर दौड़ानी होगी। "गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह"में[1] "चतुरशीतिसिद्ध" शब्दके साथ निम्न सिद्धोंका नाम मार्ग-प्रवर्तकके तौरपर लिखा गया है—नागार्जुन (१६), गोरक्ष (९), चर्पट (५९), कन्थाधारी (६९), जालन्धर (४६), आदिनाथ (=जालन्धरपा, सि० ४६), चर्या (कण्हपा) (१७)[2]। इससे चौरासी सिद्धों और नाथपन्थके सम्बन्धमें सन्देहकी कोई गुंजायश

---

[1] "गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह", सरस्वतीभवन-टेक्स्ट-सीरीज, बनारस—

"नागार्जुनो जडभरतो हरिश्चन्द्रस्तृतीयकः।
सत्यनाथो भीमनाथो गोरक्षश्चर्पटस्तथा॥
अवद्यश्चैव वैराग्यः कन्थाधारी जलन्धरः।
मार्गप्रवर्त्तका ह्येते तद्वच्च मलयार्जुनः॥" (पृष्ठ १९)।

"एवं श्रीगुरुरादिनाथः। मत्स्येन्द्रनाथः। तत्पुत्र उदयनाथः। दण्डनाथः, सत्यनाथः, सन्तोषनाथः, कूर्मनाथः, भवनाजिः। तस्य श्रीगोरक्षनाथः..........॥" (पृष्ठ ४०)।

"चत्वारो युगनाथास्तु लोकानामभिगुप्तये।
मित्रीशोड्डीश षष्टीशचर्याख्याः कुम्भाख्याः।....." (पृष्ठ ४३)।
"चतुरशीतिसिद्धानां पूर्वादीनां दिशां न्यसेत्।...।
नवनाथस्थितिं चैव सिद्धागमेन कारयेत्।
गोरक्षनाथो वसेत् पूर्वे ..जलन्धरो वसेन्नित्यमुत्तरापथमाश्रितः।...
नागार्जुनो महानाथो....।"(पृष्ठ ४४)।

[2] कण्हपाको भोटियामें स्प्योद्-पा-पा (चों..-पा-पा=चर्यापा) भी कहते हैं। (स-स्क्य-ब्कं-बुम्, ज ३४९ क)।

नहीं रह जाती। विचारोंमें यद्यपि अब नाथपन्थ अनीश्वरवाद छोड़कर ईश्वरवादी हो गया है; तथापि अब भी उसकी वाणियोंमें छान-बीन करने-पर निर्वाण, शून्यवाद और व्रज्रयानका वीज मिलेगा। नाथपन्थी महाराष्ट्रीय ज्ञानेश्वरने अपनी परम्परा इस प्रकार दी है—

आदिनाथ,
मत्स्येन्द्रनाथ,
गोरखनाथ,
गहनीनाथ,
निवृत्तिनाथ,
ज्ञानेश्वर।

इनमें आदिनाथ जालन्धरपा ही हैं, जैसा कि, जालन्धरपादके ग्रन्थ "विमुक्तमञ्जरी"[1] के भोटिया-अनुवादसे मालूम होता है। इस परम्परामें बीचके पुरुषोंको छोड़ दिया गया है; क्योंकि गोरखनाथ (९वीं शताब्दी) और ज्ञानेश्वर (१४वीं शताब्दी)के बीचमें सिर्फ दो ही पीढ़ियाँ नहीं हो सकतीं। मैंने अन्यत्र सरहके वंश-वृक्षमें चर्पटीसे शान्तिगुप्ततकका भाग, १६ वीं शताब्दीके भोटिया-ग्रन्थ "रत्नाकर जोपमकथा"से[2] दिया है (इस ग्रन्थके आरम्भका एक पृष्ठ तथा अन्तके भी कितने ही पृष्ठ गायब हैं)! वज्रयानके सम्बन्धमें भोटिया-भाषामें जो सामग्री उपलभ्य है, वह बहुत ही प्रचुर परिमाणमें है; और, उसका अधिकांश शताब्दियोंके हेर-फेरसे बचा रहनेसे बहुत प्रामाणिक है। इसीलिये गोरखनाथ, मत्स्येंद्रनाथके काल-निर्णयमें उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भोटिया-ग्रन्थोंकी बातोंकी पुष्टि, कभी-कभी बड़े

---

[1] देखिये Cordier का *Catalogue du fonds Tibetain, troisieme partie*, पृष्ठ ११२, *Vol. LXXIII* 49.

[2] रिन्-पो-छेइ-ऽब्युङ खुङस्-ल्त-बु-न्तम्।

विचित्र रूपसे होती देखी जाती है। उक्त "रत्नाकरजोपमकथा" ग्रन्थमें लिखा है—

"मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ, ये दोनों भारतकी पूर्व दिशावाले कामरूप (देश)के मछुवे थे.... (वहाँ) लौहित्य-नदी है, जिसे आजकल भोटमें 'चङ-पो' कहते हैं।.... (मत्स्येन्द्र) मछलीके पेटमें १२ वर्ष रहे। फिर आचार्य चर्पटीके पास गये।.... दोनों ही सिद्ध हो गये।....बाप (हुआ) सिद्ध मीनपा और बेटा सिद्ध मछिन्द्रपा।"

'तन्त्रालोक'की टीकामें इसकी पुष्टि हमें इस श्लोकसे मिलती है—

"भैरव्या भैरवात् प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने।
कामरूपे महापीठे मच्छेन्द्रेण महात्मना।"[1]

'नाथपन्थ'के चौरासी सिद्धोंका उत्तराधिकारी सिद्ध हो जानेपर फिर कबीरसे सम्बन्ध जोड़नेमें दिक्कत नहीं रहती। कबीर स्वयं चौरासी सिद्धोंको भूले न थे, तभी तो उन्होंने कहा है—

"धरती अरु असमान बि, दोई तूँबडा अबध।
षट दर्शन संसे पड़चा, अरु चौरासी सिध॥"[2]

यहाँ चौरासी सिद्धोंसे विरोध प्रकट करनेसे कबीर उनकी टकसालके न थे—ऐसा समझनेकी आवश्यकता नहीं। वस्तुतः रामानन्द, कबीरने सिद्धोंके ही निर्गुण, योग और विचित्र ढंगको अपनाकर नाथवंशके राज्यपर धावा किया[3] और शताब्दियोंके संघर्षके बाद वह विजयी हुए। यदि

---

[1] (त्रिवेण्ड्रम्-संस्कृत-सीरीज, पृष्ठ २४, २५, *Indian Historical Quarterly, March* 1930 में उद्धृत)

[2] कबीरग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ५४

[3] चंदनकी कुटकी भली, नाँ बबूर अमराँऊँ।
बैश्नौंकी छपरी भली, नाँ साषतका बड़गाँव॥"

आप भक्तमालके भक्तोंके व्यवसाय, कुल, रहन-सहनको चौरासी सिद्धोंसे मिलावें, तो यह विचार-सादृश्य भली भाँति प्रकट हो जायगा।

सिद्धोंकी कविताकी भाषा आठवींसे १२वीं शताब्दीकी भाषा है; इसीलिये उसका आपसमें भी भेद होना स्वाभाविक है। फिर नवीं शताब्दीके कण्हपाकी २०वीं शताब्दीकी भाषासे कितना फर्क होगा, इसके लिये तो कहना ही क्या! आखिरी सिद्धके १०० वर्ष बाद, सन् १३०० ई० में, राणा हम्मीर सिंह चित्तौड़की गद्दीपर बैठे। हिन्दुओंकी कुछ परम्परागत कमजोरियोंको छोड़कर वह एक आदर्श क्षत्रिय वीर थे। उनके सम्बन्धकी कुछ कविताएँ "प्राकृत-पैङ्गल" में उद्धृत हैं (इसका कवि सम्भवतः "जज्जल" था, जो कि, हम्मीरका सेनापति भी था)। इस चौदहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धकी भाषाको आजसे मिलानेसे उससे भी पुरानी सिद्धोंकी भाषाके पूर्वका अनुमान किया जा सकता है—

"पअ[1] भरु दर भरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ।
कमठ पिट्ठ टरपरिअ[2] मेरु मंदर सिर-कंपिअ॥
कोह चलिअ हम्मीर वीर गअ-जूह[3] सँजुत्ते।
किअउ कट्ठ आकंद[4] मुच्छि [5]म्लेच्छहके पुत्ते॥९२॥
"पिंधउ[6] दिढ़ सण्णाह[7] वाह- उप्पर पक्खर[8] दइ।
वन्धु समदि[9] रण धसउ सानि हम्मीर वअण[10] लइ।
उड्डुल णह-पह[11] भमउ[12] खग्ग[13] रिउ[14] सीसहि डारउ।
पक्खर[15] पक्खर ठेल्लि पेल्लि पव्वअ[16] उप्फालउ[17]॥

(कबीर ग्रं०, पृ ५२)। यहाँ "सापत" या शाक्तसे मतलब जिस सम्प्रदायसे था, उसमें नाथपन्थ उस समय प्रमुख था।

[1] पद। [2] डगमगाये। [3] गजयूथ। [4] आक्रंदन। [5] म्लेच्छोंके। [6] पेन्ह्यो, पहना। [7] कवच। [8] कवच। [9] समझकर। [10] वचन। [11] नभपथ। [12] भ्रम्यो, घूमा। [13] खड्ग। [14] रिपु। [15] पकड़। [16] पर्वत। [17] उपारा, उखाड़ा।

हम्मीर कज्जु जज्जल भणह कोहाणल[1] मुह मह जलउ
सुलतान सीस करवाल दइ, तेज्जि कलेवर दिअ[2]
चलेउ ॥१०७॥[3]

इसके पहलेकी एक कविता लीजिये, जो सम्भवतः काशिराज जयचन्द या हरिश्चन्द्रके लिये लिखी गई मालूम होती है[4]—

"जे किज्जिअ-धाला[5] जिराणु
णिवाला[6] भोट्टन्ता[7] पिट्टंत[8] चले।
भंजाविअ[9] चीणा दप्पहि[10] हीणा
लोहावल हाकंद[11] पले।
ओड्डा[12] उड्डाविअ[13] कित्ती[14] पाविअ[15]
मोलिअ[16] मालव[17] राअ बले।
तेलंगा भग्गिअ पुणवि ण[18] लग्गिअ,
कासीराआ[19] जखण[20] चले॥" (पृ० १९८)

तेरहवीं शताब्दीके मध्यमें लिखे गये एक भोटियाग्रन्थमें[21] उद्धृत

---

[1] क्रोधानल। [2] दिव, स्वर्ग।

[3] "प्राकृत-पैङ्गल", बंगाल रा० एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित (पृष्ठ १८०)।

[4] "प्राकृत-पैङ्गल", पृष्ठ ३१८

[5] वर्गबद्ध। [6] जीता। [7] नेपालको। [8] तिब्बत। [9] भग्न किया। [10] दर्पमें। [11] आक्रन्दन, रोना-पीटना। [12] उड़ीसावासी। [13] उड़ा दिया, उजाड़ दिया। [14] कीर्त्ति। [15] पाया। [16] परास्त किया। [17] मालव राजकी सेनाको। [18] पुनरपि न, फिर नहीं। [19] काशिराज। [20] जिस समय।

[21] स-स्क्य-ब्कं-ब्रुम्, प, पृष्ठ २८४ ख; फग्स्-पा (१२३३-१२७९ ई०) विरचित।

कुछ हिन्दी-शब्दोंको देखिये—इन्द (इन्द्र), जम (यम), जक्ख (यक्ष), वाउ (वायु), रक्ख (रक्ष), चन्द (चन्द्र), सुज्ज (सूर्य), माद (माता), वप्प (बाप)।

इन उदाहरणोंसे आपकी समझमें आ जायगा कि, हिन्दीकी आदिम कविताकी भाषाका आजकलकी भाषासे काफी भेद होना स्वाभाविक है।

जिन कवियोंकी कविताओंको मैं यहाँ हिन्दीकी प्राचीनतम कविता कहकर उद्धृत करने जा रहा हूँ, उन्हें बँगालके दिग्गज ऐतिहासिक बँगला की कविता कहते हैं। इसके बारेमें इसी पुस्तकमें मुद्रित दूसरे लेख(९)में आ गया है और यहाँ भी जो कवियोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है, वह काफी उत्तर है। सर्व-पुरातन सिद्ध सरहपाद नालन्दासे सम्बन्ध रखते थे; इसलिये उनकी भाषाका मगही होना स्वाभाविक ठहरा। अन्य सिद्धोंने भी इसी भाषाको कविताकी भाषा बनाया। चौरासी सिद्ध नालन्दा और विक्रमशिलासे सम्बन्ध रखते थे। जबतक नालन्दा, विक्रमशिलाको बँगाल[१]में नहीं ले जाया जाता, तबतक सिद्धोंकी भाषा भी बँगला नहीं हो सकती। रही भाषाकी समानताकी बात; वह तो मगही और मैथिलीसे और अधिक है। वस्तुतः अतीत कालके भीतर हम जितना ही अधिक घुसते जायँगे समानता उतनी ही अधिक बढ़ती जायेगी; क्योंकि, मगही, ओड़िया, बँगला, आसामी, मैथिली—सभी मागधीकी सन्तानें हैं।

१. सरहपा (सिद्ध ६)—इनके दूसरे नाम राहुलभद्र और सरोजवज्र भी हैं। पूर्व दिशामें राज्ञी (?) नामक नगरमें एक ब्राह्मण-वंशमें इनका

---

[१] "*Thus the time of the earliest Doha* (दोहा) *in Bengali goes back to the middle of the seventh century, when Saraha flourished and Bengal may be justly proud of the antiquity of her literature.*" Dr. B. Bhattacharya, (*J. B. O. R. S. LXXXLI*, 1, p. 247).

जन्म हुआ था। भिक्षु होकर यह एक अच्छे पण्डित हुए। नालन्दामें कितने ही वर्षोतक इन्होंने वास किया। पीछे इनका ध्यान मन्त्र-तन्त्रकी ओर आकर्षित हुआ और आप एक वाण [शर=सर] वनानेवालेकी कन्याको महामुद्रा[1] वनाकर किसी अरण्य में वास करने लगे। वहाँ यह भी शर (वाण) वनाया करते थे; इसीलिये इनका नाम सरह पड़ गया। श्रीपर्वत-[2] में भी यह वहुधा रहा करते थे। सम्भव है, इनकी मन्त्रोंकी ओर प्रथम प्रवृत्ति वहीं हुई हो। शवरपाद (५) इनके प्रधान शिष्य थे। कोई तान्त्रिक नागार्जुन भी इनके शिष्य थे। भोटिया तन्-जूरमें इनके ३२ ग्रन्थोंका अनुवाद मिलता है, जो सभी वज्रयानपर हैं। इनमें एक "वुद्ध-कपाल-तन्त्र" की पञ्जिका "ज्ञानवती" भी है। इनके निम्न काव्य-ग्रन्थ मगहीसे भोटियामें अनुवादित हुए हैं—

१ क, ख दोहा (त० [3]४७।७)।

२ क-ख दोहा-टिप्पण (त० ४७।८)।

३ कायकोष-अमृतवज्रगीति (त० ४७।९)।

४ चित्तकोष-अजवज्रगीति (त० १७।११)।

५ डाकिनी-वज्र-गुह्यगीति (त० ४८।१०६)।

६ दोहा-कोष-उपदेश-गीति (त० ४७।५)।

७ दोहाकोषगीति (त० ४६।९)

८ दोहाकोषगीति। तत्त्वोपदेशशिखर—, (त० ४७।१७)।

---

[1] वज्रयानीय योगकी सहचरी योगिनी अथवा हेप्नाटिज्मका माध्यम।

[2] नहरल्ल-बड़ु (नागार्जुनीकोंडा, जिला गुंटूर)।

[3] त-से मतलब तन्जूरके तन्त्र-खण्डसे है। विशेषके लिये देखिये Cordier का *Catalogue du fonds Tibetain;* द्वितीय और तृतीय खण्ड।

९ दोहा-कोप-गीतिका। भावनादृष्टि-चर्याफल–, (त० ४८।५)।
१० दोहाकोप। वसन्ततिलक–, (त० ४८।११)।
११ दोहाकोप-चर्यागीति। (त० ४७।४)।
१२ दोहाकोप-महामुद्रोपदेश। (त० ४७।१३)।
१३ द्वादशोपदेश-गाथा (त० ४७।१५)।
१४ महामुद्रोपदेशवज्रगुह्यगीति। (त० ४८।१००)।
१५ वाक्-कोपरुचिरस्वरवज्रगीति। (त० ४७।१०)
१६ सरहगीतिका (त० ४८।१४, १५)।

इनकी कुछ कविताओंका नमूना लीजिए—

[1]"जह मन पवन न सञ्चरइ, रवि शशि नाह पवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥"
"पण्डिअ सअल सत्थ वक्खाणइ
देहहि वुद्ध वसन्त न जाणइ"
"अमणागमण ण तेन विखण्डिअ।
तोवि णिलज्ज भणइ हँउ पण्डिअ"
"जो भवु सो निवा[?व्वाण] खलु,
भेवु न मण्णहु पण्ण।"
"एकसभावे विरहिअ, णिम्मलमइ पड़िवण्ण॥"
"घोरे न्धारें चन्दमणि, जिमि उज्जोअ करेइ।
परममहासुह एखुकणे, दुरिअ अशेष हरेइ॥"
"जीवन्तह जो नउ जरइ, सो अजरामर होइ।
गुरु उपएसें विमलमइ, सो पर धण्णा कोइ॥"

---

[1] "बौद्धगान-ओ-दोहा"—वंगीयसाहित्य-परिषद्, कलकत्ता, "सरोज वज्रेर दोहाकोष।"

इनके कुछ गीति-पद्य—

राग द्वेशाख [३२]

"नाद न विन्दु न रवि न शशि-मण्डल॥
चिअराअ सहावे मूकल॥ध्रु०॥
उजु रे उजु छाड़ि मा लेहु रे वङ्क।
निअहि बोहिमा जाहु रे लाङ्क॥ध्रु०॥
हाथेरे कान्काण मा लोउ दापण।
अपणे अपा बुझतु निअ-मण॥ध्रु०॥
पार उआरे सोइ गजिइ।
दुज्जण साङ्गे अवसरि जाइ॥ध्रु०॥
वाम दाहिण जो खाल विखला।
सरह भणइ वपा उजुवाट भाइला॥ध्रु०॥"[1]

राग भैरवी (३८)

'काअ णावड़ि खण्टि मण केडुआल।
सद्गुरु वअणे धर पतवाल॥ध्रु०॥
चीअ थिर करि धहुरे नाही।
अन उपाये पार ण जाई॥ध्रु०॥
नौवाही नौका टागुअ गुणे।
मेलि मेल सहजें जाउ ण आणें॥ध्रु०॥

---

[1] बौद्धगान-उ-दोहा" "चर्याचर्यविनिश्चय" ("चर्या-गीति" नाम ठीक जँचता है)। पाठ बहुत अशुद्ध हैं। यहाँ कहीं मात्राके ह्रस्व-दीर्घ करनेसे, कहीं संयुक्त वर्णोंके घटाने-बढ़ानेसे तथा कहीं-कहीं एकाध अक्षर छोड़ देनेसे छन्दो-भंग दूर हो जायगा। जैसे पहली पंक्तिमें "रवि न शशि"के स्थानपर रवि-शशि; "चिअ-राअ"के स्थानपर "चीअ-राअ"; "कान्काण"के स्थान-पर कङ्कण; "आपा"के स्थानपर अप्पा।

वाट अभअ खाण्टबि बलआ।
भव उल्लोलें षअवि वोलिआ॥ध्रु०॥
कुल लइ खरे सोन्ते उजाअ।
सरह[1] भणइ गणें पमाएँ॥ध्रु०॥ ॥३८॥

२ शवरपा (सिद्ध ५)—यह सरहपादके शिष्य थे। गौडेश्वर महाराज धर्मपाल (७६९–८०९ ई०)के कायस्थ (लेखक) लूइपा इन्हींके शिष्य थे। नागार्जुनको भी इनका गुरु कहा गया है; किन्तु यह शून्यवादके आचार्य नागार्जुन नहीं हो सकते। यह अक्सर श्रीपर्वतमें भी रहा करते थे। जान पड़ता है, शवरों या कोल-भीलों की भाँति रहन-सहन रखनेके कारण इन्हें शवरपाद कहा जाने लगा। तन्-जूरमें इनके अनुवादित ग्रन्थोंकी संख्या २६ है; (जो सभी छोटे-छोटे हैं); पीछे, दसवीं शताब्दीमें, भी एक शवरपा हुए थे जो मैत्रीपा या अवधूतीपाके गुरु थे। उनकी भी पुस्तकें इन्हींमें शामिल हैं। इनकी हिन्दी-कविताएँ ये हैं—

"चित्तगुह्यगम्भीरार्थ-गीति" (त० ४८।१०८)।
महामुद्रावज्रगीति (त० ४७।२९)।
शून्यतादृष्टि (त० ४८।३६)।
षडङ्गयोग[2] (त० ४।२२)।
सहजशंवरस्वाधिष्ठान[2] (त० १३।५)।
सहजोपदेश स्वाधिष्ठान[2] (त० १३।४)।

---

[1]सरहपाद संस्कृतके भी कवि थे।
"या सा संसारचक्रं विरचयति मनःसन्नियोगात्महेतोः।
सा धीर्यस्य प्रसादाद्दिशति निजभुवं स्वामिनो निष्प्रपञ्च(म्)।
तच्च प्रत्यात्मवेद्यं समुदयति सुखं कल्पनाजालमुक्तम्।
कुर्याल् तस्याङ्घ्रियुग्मं शिरसि सविनयं सद्गुरोः सर्वकाल(म्)॥"
("चर्याचर्यविनिश्चय," पृष्ठ ३)

[2]ये ग्रन्थ संस्कृतमें थे या हिन्दीमें, इसमें सन्देह है।

चर्या-गीतोंमें इनके दो गीत मिलते हैं।

(राग बलाड्डि २८)

"ऊँच ऊँचा पावत तँहिं वसइ सबरी बाली।
मोरङ्गि पीच्छ परहिण सबरी गिवत गुञ्जरी माली ।।ध्रु०।।
उमत सवरो पागल शवरो मा कर गुली गुहाडा,
तोहौरि णिअ घरिणी णामे सहज सुन्दारी।।ध्रु०।।
णाणा तरुवर मोलिल रे गअणत लागेली डाली।
एकेली सबरी ए वण हिण्डइ कर्णकुण्डलवज्रधारी।।ध्रु०।।
तिअ धाउ खाट पडिला सवरो महासुखे सेजि छाइली
सबरो भुजङ्ग णइरामणि दारी पेह्म राति पोहाइली ।।ध्रु०।।
हिअ ताँबोला महासूहे कापूर खाइ।
सून निरामणि कण्ठे लइआ महासूहे राति पोहाइ।।ध्रु०।।
गुरुवाक पुञ्जआ विन्ध णिअ मणे बाणें।
एके शर-सन्धानें बिन्धह-बिन्धह परम णिवाणें ।।ध्रु०।।
उमत सबरो गरुआ रोषे।
गिरिवर-सिहर-संधि पइसन्ते सबरो लोड़िब कइसे ।।२८।।"

राग रामक्री (५०)

"गअणत गअणत तइला वाड्ही हेञ्चे कुराडी।
कण्ठे नैरामणि बालि जागन्ते उपाड़ी।।ध्रु०।।
छाड़ छाड़ माआ मोहा विषमे दुन्दोली।
महासुहे विलसन्ति शबरो लइआ सुणमे हेली ।।ध्रु०।।
हेरि ये मेरि तइला बाडी खसमे समतुला।
षुकड़ए सेरे कपासु फुटिला।।ध्रु०।।
तइला वाड़िर पासेंर जोह्ला वाडी ताएला।
फिटेलि अन्धारि रे अकाश फुलिआ।।ध्रु०।।

कुड़ुरि ना पाकेला रे शबराशबरि मातेला।
अणुदिण शबरो किम्पि न चेवइ महासुहें भेला ॥ध्रु०॥
चारिवासे भाइलारें दिआँ चञ्चाली।
तँहि तोलि शबरो हकएला कान्दश सगुण शिआली ॥ध्रु०॥
मारिल भव-मत्तारे दह-दिहे दिध लिबली।
हे रसे सबरो निरेवण भइला फिटिलि पबराली" ॥ध्रु०॥

३ कर्णरीपा या आर्यदेव (सिद्ध १८)—यह शून्यवादके आचार्य नागार्जुनके शिष्य आर्यदेव न थे। इनके गुरु वज्रयानी सिद्ध नागार्जुन थे, जो कि, सरहपादके शिष्य थे। भिक्षु बनकर नालन्दा-विहार गये। तन्-जूरके दर्शन-विभागमें आर्यदेवके ९ ग्रन्थों और तन्त्र-विभागमें २६ ग्रन्थोंका अनुवाद है, जिनमें दर्शनके नौ ग्रन्थ तो पुराने माध्यमिक आर्य-देवके हैं; किन्तु तन्त्रके प्रायः सभी ग्रन्थ इन्हींके हैं। इनमें हिन्दीमें सिर्फ "निर्विकल्प प्रकरण" (त० ४७।२०) ही मालूम होता है। इनकी एक कविताका नमूना लीजिये—

राग पटमञ्जरी (३१)

"जहि मण इन्दिअ (प) वण हो णठा।
ण जाणमि अपा कँहि गइ पइठा ॥ध्रु०॥
अकट करुणा डमरुलि बाजअ।
आजदेव णिरासे राजइ ॥ध्रु०॥
चान्दरे चान्दकान्ति जिम पतिभासअ।
चिअ विकरणे तहि टलि पइसइ ॥ध्रु०॥
छाड़िअ भय घिण लोआचार।
चाहन्ते चाहन्ते सुण विआर॥
आजदेवें सअल विहरिउ।
भय घिण दुर णिवारिउ ॥ध्रु०॥"

४ लूइपाद (सिद्ध १७)—पहले राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)के लेखक (=कायस्थ) थे। एक समय जब महाराज धर्मपाल अपने राज्यके प्रदेश वारेन्द्रमें थे, तब सिद्ध शबरपाद भी विचरते हुए उधर जा निकले। एक दिन शबरपाद राजाके महलमें भिक्षाके लिये गये। उसी समय लूइ-पासे उनकी भेंट हुई। वह बहुत ही प्रभावित हुए और विरक्त हो शबर-पादके शिष्य बन गये। संख्यामें चौरासी सिद्धोंमें इनका नाम प्रथम होना ही बतलाता है कि, यह कितना प्रभाव रखते थे। इनके प्रधान शिष्योंमें सिद्ध दारिकपा और सिद्ध डेंगीपा थे, जो दोनों ही पूर्वाश्रममें क्रमशः उड़ीसा-के राजा और मन्त्री थे[1]। इन्होंने पुरानी मगही हिन्दीमें [2] बहुत सी कवि-ताएँ की थीं। तन्-जूरमें इनके सात अनुवादित ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न पाँच हिन्दीमें थे—

अभिसमयविभङ्ग (त० १३।१८)।
तत्त्वस्वभावदोहाकोष (त० ४८।२)।
बुद्धोदय (त० ४७।४१; ७३।६२)।
भगवदभिसमय (त० १२।८)।
लूइपाद-गीतिका (त० ४८।२७)।

---

[1] स-स्क्य-ब्कं-बुम्, ज, पृष्ठ २४२ख—२४५ख।

[2] डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य इनकी कविताके विषयमें कहते हैं— *"These songs written by a Bengali in the soil of Bengal, may appropriately be called Bengali"* भोटिया-ग्रन्थोंमें बँगल या भंगल या भगल मिलता है, जिस नामसे कि, भोटिया लोग विक्रम-शिलावाले प्रदेशको पुकारते थे और जिसका चिन्ह भागलपुरके नाममें अब भी मौजूद है।

कविताका नमूना

राग पटमंजरी (१)

"काआ तरुवर पञ्च वि डाल
चञ्चल चीए पइठो काल
दिट करिअ महासुह परिमाण
लुइ भणइ गुरु पूच्छिअ जाण॥ध्रु०॥
सअल स (मा) हिअ काहि करिअइ
सुख दुखेतें निचित मरिआइ॥ध्रु०॥
एड़िएउ छान्दक वान्ध करणक पाटेर आस
सुनु पाख भिति लाहु रे पास ॥ध्रु०॥
भणइ लुइ आम्हे साणे दिठा
घमण चमण वेणि पाण्डि वइण ॥ध्रु०॥"

राग पटमंजरी (२९)

भाव न होइ अभाव ण जाइ,
आइस संबोहें को पतिआइ ॥ध्रु०॥
लूइ भणइ वट दुलक्ख विणाणा,
तिअ धाए विलसइ उह लागे णा॥ध्रु०॥
जाहेर वान-चिह्न, रुव ण जाणी,
सो कइसे आगम वेएँ वखाणी॥ध्रु०॥
काहेरे किपभणि मइ दिवि पिरिच्छा,
उदक चान्द जिमि साच न मिच्छा॥ध्रु०॥
लुइ भणइ भाइव कीस्,
जालइ अच्छमता हेर उह ण दिस् ॥ध्रु०॥"

५ भूसुकु (सिद्ध ४१)—नालन्दाके पासके प्रदेशमें, एक क्षत्रिय-वंशमें, पैदा हुए थे। भिक्षु बनकर नालन्दामें रहने लगे। उस समय नालन्दाके

राजा (गौड़ेश्वर) देवपाल (ई० ८०९-८४९) थे। कहते हैं, भूसुकुका नाम शान्तिदेव भी था। इनकी विचित्र रहन-सहनको देखकर राजा देवपालने एक बार 'भूसुकु' कह दिया और तभीसे इनका नाम भूसुकु पड़ गया! शान्तिदेवके दर्शन-सम्बन्धी छः ग्रन्थ तन्-जूरमें मिलते हैं और तंत्र-पर तीन। भूसुकुके नामसे दो ग्रन्थ हैं, जिनमें एक "चक्रसंवरतन्त्र"की टीका है। मागधी हिन्दीमें लिखी इनकी "सहजगीति" (त० ४८।१) भोटिया-भाषामें मिलती है।

कविताका नमूना।

राग कामोद (२७)

"अधराति भर कमल विकसउ,
बतिस जोइणी तसु अङ्ग उह् णसिउ ॥ध्रु०॥
चालिउअ षषहर मागे अवधूइ,
रअणहु षहजे कहेइ ॥ध्रु०॥
चालिअ षषहर गउ णिवाणें,
कमलिनि कमल बहइ पणालें, ॥ध्रु०॥
विरमानन्द बिलक्षण सुध॥
जो एथु बूझइ सो एथु बुध ॥ध्रु०॥
भूसुकु भणइ मइ बूझिअ मेलें,
सहजानन्द महासुह लोलें ॥ध्रु०॥

राग मल्लारी (४९)

"बाज णाव पाड़ी पँउआ खालें वाहिउ,
अदअबङ्गाले[१] क्लेश लुड़िउ ॥ध्रु०॥

---

[१] डाक्टर भट्टाचार्यने लिखाहै—"*The Pag--Sam-Jon-Zan it is said that Santideva was a native of Saurashtra,*

आजि भूसु वङ्गाली[1] भइली,
णिअ घरिणीं चण्डाली लेली ॥ध्रु०॥
डहि जो पञ्चघाट णइ दिवि संज्ञा णठा,
ण जानमि चिअ मोर कहिँ गइ पइठा ॥ध्रु०॥
सोण तरुअ मोर किम्पि ण थाकिउ,
निअ परिवारे महासुहे थाकिउ ॥ध्रु०॥
चउकोड़ि भण्डार मोर लइआ सेस,
जीवन्ते मइलें नाहि विशेप ॥ध्रु०॥"

६ वीणापा (सिद्ध १२)—गौड़देशमें[1] क्षत्रियवंगमें इनका जन्म हुआ था। इनके गुरुका नाम भद्रपा (सि० २४) था। वीणा बजाकर यह अपने पदोंको गाया करते थे; इसीलिये इनका नाम वीणापा पड़ गया।

---

but I am inclined to think that he belonged to Bengal. It is evident from his song." "आज भुसु वङ्गाली" (*ibid.*) गीतमें वंगाली शब्द खास तान्त्रिक परिभाषाके अर्थमें व्यवहृत हुआ है; जैसा कि, डाक्टर भट्टाचार्यके पिता प्रातःस्मरणीय महामहोपाध्याय हर-प्रसाद शास्त्रीने अपने इसी ग्रन्थकी भूमिका (पृष्ठ १२) में लिखा है—"सहज-मते तीनटि पथ आछे, अवधूती, चाण्डाली, डोम्बी वा वँगाली। अवधूती ते द्वैतज्ञान थाके, चाण्डालीते द्वैतज्ञान आछे....वलिलेउ हय, किन्तु डोम्बीले केवल अद्वैत....एइ वार तुमि सत्य सत्यइ वंगाली हइले अर्थात् पूर्ण अद्वैत हइले।" और, यदि शब्दपर दौड़ना है, तब तो भूसुकु आज वंगाली हुए, मानो पहले न थे। फिर "भइली" शब्द बँगलामें कहाँ व्यवहृत होता है? किन्तु वह काशीसे मगह तक आज भी बहुत प्रचलित है।

[1] पालवंशीय राजा गौड़ेश्वर कहे जाते थे। उनकी राजधानी पटना जिलेका विहारशरीफ स्थान थी। नालन्दाके पास होनेके कारण भोटिया-ग्रन्थोंमें अक्सर उन्हें नालन्दाका राजा भी कहा गया है।

तन्-जूरमें इनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं—१ गुह्याभिषेक-प्रक्रिया (त० २१। ५०)। २ महाभिषेकत्रिक्रम (त० २१।५१)। ३ वज्रडाकिनीनिष्पन्न-क्रम (त० ४८।५३)।

इसमें तीसरा ग्रन्थ उसी वेठनमें है, जिसमें हिन्दी कविताओंके दूसरे अनुवाद हैं; इसलिये मालूम पड़ता है, यह भी हिन्दीमें रहा है। "चर्यागीति"[1] में इनका एक गीत इस प्रकार है—

राग पटमञ्जरी (१७)

"सुज लाउ ससि लागेलि तान्ती,
अणहा दाण्डी वाकि किअत अवधूती॥ध्रु०॥
वाजइ अलो सहि हेरुअवीणा,
सुन तान्ति धनि विलसइ रुणा॥ध्रु०॥
आलि कालि वेणि सारि सुणेआ,
गअवर समरस सान्धि गुणिआ॥ध्रु०॥
जवे करहा करहक लेपि चिउ,
वतिश तान्ति धनि सएल विआपिउ॥ध्रु०॥
नाचन्ति वाजिल गान्ति देवी,
बुद्ध नाटक विसमा होइ॥ध्रु०॥"

७ विरूपा (सिद्ध ३)—महाराज देवपाल (८०९–४९ ई०)के देश "त्रिउर" (?)में इनका जन्म हुआ था। भिक्षु वनकर नालन्दा-विहारमें पढ़ने लगे और वहाँके अच्छे पण्डितोंमें हो गये। इन्होंने देवीकोट और श्रीपर्वत आदि सिद्ध स्थानोंकी यात्रा की। श्रीपर्वतमें इन्हें सिद्ध नाग-वोधि मिले। यह उनके शिष्य हो गये। पीछे नालन्दामें आकर जब इन्होंने देखा कि, विहारमें मद्य, स्त्री आदि, सहजचर्याके लिये अत्यावश्यक वस्तु-

---

[1] "बौद्धगान ओ दोहा", पृष्ठ ३०

ओंका व्यवहार नहीं किया जा सकता, तब वहाँसे गङ्गाके घाटपर चले गये। वहाँसे फिर उड़ीसा गये। इनके शिष्योंमें डोम्बिपा (सि० ४) और कण्हपा थे। यमारितन्त्रके यह ऋषि थे। तन्-जूरमें इनके तन्त्र-सम्बन्धी अठारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न मगही हिन्दीमें थे—अमृतसिद्धि (त० ४७।२७)। दोहाकोष (त० ४७।२४)। दोहाकोषगीति-कर्म-चण्डालिका (त० ४८।४)। मार्गफलान्विताववादक (त० ४७।२५)। विरूपगीतिका (त० ४८।२९)। विरूपवज्रगीतिका (त० ४८।१६)। विरूपपदचतुरशीति (त० ४७।२३)। सुनिष्प्रपञ्चतत्त्वोपदेश (त० ४३।१००)।

कविताका नमूना

राग गवड़ा (३)

"एक से शुण्डिनि दुइ घरे सान्धअ,
चीअण वाकलअ वारुणी वान्धअ ॥ध्रु०॥
सहजे थिर करी वारुणी सान्धे,
जें अजरामर होइ दिट कान्ध ॥ध्रु०॥
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ,
आइल गराहक अपणे वहिआ ॥ध्रु०॥
चउशठी घड़िये देट पसारा,
पइठेल गराहक नाहि निसारा ॥ध्रु०॥
एक स डुली सरुइ नाल,
भणन्ति विरुआ थिर करि चाल" ॥ध्रु०॥

८ दारिकपा (सि० ७७)—यह "ओड़िसा"के[1] राजा थे। जब सिद्ध

---

[1] स-स्क्य-ब्कं-बुम्, ज, पृष्ठ २४४ ख से २४५ ख०। डा० विनयतोष भट्टाचार्यने लिखा है—"*Luipa...belonged to an earlier*

लूइपा उड़ीसा गये, तब यह और इनके ब्राह्मण मन्त्री, जिनका नाम पीछे डेंगीपा (डेंकीपा) पड़ा, राज्य छोड़कर उनके शिष्य बन गये। गुरुने आज्ञा दी कि, सिद्धि-प्राप्तिके लिये तुम कांचीपुरीमें जाकर गणिका-दारिका (=वेश्याकी कन्या)की सेवा करो। कई वर्षो तक यह उसकी सेवा करते रहे; इसीसे सिद्ध होनेपर इनका नाम दारिकपा पड़ गया ? सहज-योगिनी चिन्ता इनकी शिष्या थीं; और, प्रसिद्ध सिद्ध वज्रघण्टापाद (५२) या घंटापा इनके प्रधान शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमेंसे निम्न प्राचीन ओड़िया या मगही हिन्दीके मालूम होते हैं—१ओड्डियान-विनिर्गत-महागुह्यतत्त्वोपदेश (त० ४६।६)। २ तथतादृष्टि (त० ४८।४८)। ३ सप्तमसिद्धान्त (त० ४६।४६)।

कविताका नमूना

राग बराड़ा (३४)

"सुनकरुणरि अभिन वारें काअ-वाक्-चिअ,
विलसइ दारिक गअणत पारिमकुलें ॥ध्रु०॥
अलक्ष-लख-चित्ता महासुहे,
विलसइ दारिक० ॥ध्रु०॥
किन्तो मन्ते किन्तो तन्ते किन्तो रे झाण बखाने,
अपइठानमहासुहलीणे दुलख परमनिवाणें ॥ध्रु०॥

---

age and as such any close connection between the two is hardly admissible. Lui was reputed to be the first Siddhacharya, and that may be the reason why Darikapa reverentially mentions his name." लेकिन तिब्बतके सभी ग्रन्थ एक मतसे दारिकपाको लइपाका शिष्य कहते हैं। चौरासी सिद्धोंकी सूचीमें संख्याक्रम काल-क्रमसे नहीं है, यह अलग दिये वंश-वृक्ष और नाम-सूचीसे स्पष्ट हो जायगा।

दुःखें सुखें एकु करिआ भुञ्जइ इन्दीजानी,
स्वपरापर न चेवइ दारिक सअलानुत्तरमाणी ॥ध्रु०॥
राआ राआ राआरे अवर राअ मोहेरा वाधा,
लुइ-पाअ-पए दारिक द्वादशभुअणें लधा" ॥ध्रु०॥

९ डोम्भिपा (सिद्ध ४)—मगधदेशमें क्षत्रिय-वंशमें पैदा हुए। वीणापा और विरूपा, दोनों ही इनके गुरु थे। लामा तारानाथने लिखा है कि, यह विरूपाके दस वर्ष बाद तथा वज्रघंटापाके दस वर्ष पूर्व सिद्ध हुए। यह हेवज्र-तन्त्रके अनुयायी थे। सिद्ध कण्हपा (१७) इनके भी शिष्य थे। तन्-जूरमें २१ ग्रन्थ डोम्भिपादके नामसे मिलते हैं; किन्तु पीछे भी एक डोम्भिपा हुए हैं; इसलिये कौन ग्रन्थ किसका है, यह कहना कठिन है। इनके निम्न ग्रन्थ मगही हिन्दीमें थे—अक्षरद्विकोपदेश (त० ४८।६४)। डोम्बि-गीतिका (त० ४८।२८)। नाडीविंदुद्वारे योगचर्या (त० ४८।६३)।

कविताका नमूना

राग देशाख (१०)

"नगर बारिहिरें डोम्बि तोहोरि कुड़िया,
छइछोइ याइ सो वाह्म नाड़िआ ॥ध्रु०॥
आलो डोम्बि तोए सम करिबे म साङ्ग,
निधिण काह्न कापालि जोइ लाग ॥ध्रु०॥
एकसो पदमा चौषट्ठी पाखुड़ी,
तहिं चड़ि नाचअ डोम्बी बापुड़ी ॥ध्रु०॥
हालो डोम्बि तो पुछमि सदभावे,
अइससि जासि डोम्बि काहरि नावें ॥ध्रु०॥
तान्ति विकणअ डोम्बी अवर ना चङ्गता,
तोहोर अन्तरे छाड़िनड़ एट्टा ॥ध्रु०॥
तु लो डोम्बी हाउं कपाली,
तोहोर अन्तरे मोए घलिलि होड़ेरि माली ॥ध्रु०॥

सरवर भाञ्जीअ डोम्बी खाअ मोलाण,
मारमि डोम्बी लेमि पराण" ॥ध्रु०॥

राग धनसी (१४)

"गंगा जउना माझें रे वहइ नाई,
तहिँ वुड़िली मातङ्गि पोइआ लीले पार करेइ ॥ध्रु०॥
वाहतु डोम्बी वाहलो डोम्बी वाटत भइल उछारा,
सद्गुरु पाअ-पए जाइब पुणु जिणउरा ॥ध्रु०॥
पाञ्च केडुआल पड़न्ते माङ्गें पिटत काच्छी बान्धी,
गअणदुखोलें सिञ्चहु पाणी न पइसइ सान्धि ॥ध्रु०॥
चन्द सूज्ज दुइ चका सिठिसंहार पुलिन्दा,
वाम दहिण दुइ माग न रेवइ बाहतु छन्दा ॥ध्रु०॥
कवडी न लेइ वोडी न लेइ सुच्छडे पार करेइ,
जो रथे चड़िला वाहवाण जाइ कुलें कुल वुड़इ" ॥ध्रु०॥

भिक्षावृत्ति[1] में इनका यह दोहा मिलता है—

"भुञ्जइ मअण सहावर कम्मइ सो सइअल।
मोअ ओ धर्म करण्डिया, मारउ काम सहाउ।
अच्छउ अक्ख जे पुनइ, सो संसार-विमुक्क।
ब्रह्म महेसर णारायणा, सक्ख असुद्ध सहाव॥"

१० कम्बलपाद (सिद्ध ३०)—ओडिविश (उड़ीसा) में, राजवंशमें, इनका जन्म हुआ। भिक्षु होकर त्रिपिटकके पण्डित बने। पीछे सिद्ध वज्र घंटापा (५२) के सत्संगमें पड़ उनके शिष्य हो गये। इनके गुरु सिद्धाचार्य वज्रघंटापाद या घंटापाद उड़ीसामें कई वर्ष रहे और उनके ही कारण उड़ीसा-

---

[1] तन्-जूर (त० २१।१६)। ल्हासाके मुरु-विहारकी हस्त-लिखित प्रतिका पाठ।

में वज्रयानका वहुत प्रचार हुआ। सिद्ध राजा इन्द्रभूति इनके शिष्य थे। कम्वलपाद वौद्ध दर्शनके भी पण्डित थे। प्रज्ञापारमिता-दर्शनपर इनके चार ग्रन्थ, भोटियामें, मिलते हैं। इनके तन्त्र-ग्रन्थोंकी संख्या ग्यारह है, जिनमें निम्न प्राचीन उड़िया या मगहीमें थे—असम्वन्ध-दृष्टि (त० ४८।३८)। असम्वन्ध-सर्गदृष्टि (त० ४८।३९)। कम्वलगीतिका (त० ४८।३०)।

कविताका नमूना

राग देवक्री (८)

"सोने भरिती करुणा नावी,
रूपा थोइ महिके ठावी ॥ध्रु०॥
वाहतु कामलि गअण उवेसें,
गैली जाम वहु उइ काइसें ॥ध्रु०॥
खुन्टि उपाड़ी मेलिलि काच्छि,
वाहतु कामलि सद्गुरु पुच्छि ॥ध्रु०॥
माङ्गत चन्हिले चउदिस चाहअ,
केड़ आल नहि कें कि वाहवके पारअ ॥ध्रु०॥
वामदाहिण चापो मिलि मिलि मागा,
वाटत मिलिल महासुह सङ्गा ॥ध्रु०॥"

११ जालन्धरपाद (सिद्ध ४६)—नगर-भोग (?) देशमें, ब्राह्मण-कुलमें, इनका जन्म हुआ था। पीछे एक अच्छे पण्डित भिक्षु वने। किन्तु घंटापादके शिष्य, सिद्ध कूर्मपादकी संगतिमें आकर यह उनके शिष्य हो गये। मत्स्येन्द्रनाथ, कण्हपा और तंतिपा इनके शिष्योंमें थे। भोटिया-ग्रन्थोंमें इन्हें आदिनाथ भी कहा गया है। नाथपन्थकी परम्परामें भी आदिनाथसे इन्हींसे मतलव है। इस प्रकार चौरासी सिद्धोंमें जालन्धरपादकी परम्परा अव भी भारतमें कायम है। गोरक्षनाथ इनके शिष्य मत्स्येन्द्रके शिष्य

थे। तन्-जूरमें इनके सात ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न प्राचीन मगहीके हैं—विमुक्तमंजरी-गीत (त० ७३।४९)। हूँकार-चित्त-बिंदु-भावनाक्रम (त० ४८।७२)।

कविताका नमूना

राग निवेद, ताल माठ, (७६)[1]

"अखय निरंजन अर्द्धय अनु
पद्म गगन कमरंजे साधना,
शून्यता विरासित राय श्री चिय,
देव पान-बिन्दु समय जो दिता॥ध्रु०॥
नमामि निरालम्ब निरक्षर,
स्वभाव हेतु स्फुरन संप्रापिता,
सरद-चन्द्रसमय तेज प्रकासित
जरज-चन्द्र समय व्यापिता॥ध्रु०॥
खडग योगाम्बर सादिरे चक्रवर्ति
मेरुमंडल भमलिता,
निर्म्मल हृदयारे चक्रवर्ति ध्याविते
अहितिसिक्षंजत्र मय साधना॥ध्रु०॥
आनंद परमानंद बिरमा
चतुरानंद जे संभवा,
परमा बिरमा माँझे रे न छादिरे
महासुख सुगत संप्रद प्रापिता॥ध्रु०॥
हे वज्रकार चक्र श्रीचक्रसंवर,
अनन्त कोटि सिद्ध पारंगता,

[1] मैंने यह पाठ नेपालके बौद्धोमें आज भी प्रचलित चर्यागीति (चचो) पुस्तकसे लिया है। भाषा बिल्कुल ही बिगड़ी हुई है।

श्री हलवदियाने पूर्ण गिरि,
जालन्धरि प्रभु महा सुख-जातहुँ ॥ध्रु०॥

१२ कुकुरिपा (सिद्ध ३४)—कपिल (वस्तु) वाले देशमें, एक ब्राह्मणकुलमें, इनका जन्म हुआ था। मीनपा (८) के गुरु चर्पटीपा इनके भी गुरु थे। इनकी शिष्या मणिभद्रा चौरासी सिद्धोंमेंसे एक (६५) है। पद्मवज्र भी इनके ही शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके १६ ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न लिखित हिन्दीके मालूम होते हैं—तत्त्व-सुख-भावनानुसारियोगभावनोपदेश (त० ४८।६५)। स्रवपरिच्छेदन (त० ४८।६६)।

कविताका नमूना

राग गवड़ा (२)

"दुलि दुहि पिटा धरण न जाइ,
रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ॥
आङ्गन घरपण सुन भो विआती,
कानेट चौरि निल अधराती॥ध्रु०॥
सुसुरा निद गेल बहुडी जागअ,
कानेट चोरे निल का गइ मागअ॥ध्रु०॥
दिवसइ बहुड़ी काड़इ डरे भाअ,
राति भइले कामरु जाअ॥ध्रु०॥
अइसन चर्या कुक्करी-पाएँ गाइड़,
कोड़ि मज्झें एकुड़ि अहिँ सनाइड़ ॥ध्रु०॥

राग पटमञ्जरी (२०)

"हाँउ निवासी खमण भतारे,
मोहोर विगोआ कहण न जाइ॥ध्रु०॥
फ़ेटलिउ गो माए अन्त उड़ि चाहि,
जा एथु बाहाम सो एथु नाहि॥ध्रु०॥

पहिल विआण मोर वासन पूड़,
नाड़ि विआरन्ते सेव वापूड़ा ।।ध्रु०।।
जाण जौबण मोर भइलेसि पूरा,
मूल नखलि वाप संघारा ।।ध्रु०।।
भणथि कुक्कुरीपाए भव थिरा,
जो एथु वुझए सो एथु वीरा ।।ध्रु०।।"
"हले सहि विअ सिअ कमल पवाहिउ वज्जें।
अलललल हो महासुहेण आरोहिउ नृत्ये।
रविकिरणेण पफुल्लिअ कमलु महासुहेण ।
(अल) आरोहिउ नृत्यें।।"[१]

१३ गुण्डरीपाद (सिद्ध ५५)—डिसुनगर देशमें कर्मकारोंके कुलमें पैदा हुए थे। पीछे सिद्ध लीलापा (२) के शिष्य हो गये। इनके शिष्य धर्मपादके शिष्य सिद्ध हालिपाद (५०) थे। तन्-जूरमें इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। चर्यागीतोमें इनकी यह गीति मिलती है—

राग अरु (४)

"तिअड्डा चापी जोइनि दे अङ्कवाली,
कमलकुलिशघाण्ट करहुँ विआली ।।ध्रु०।।
जोइनि तँइ विनु खनहिँ न जीवमि,
तो मुह चुम्बी कमल-रस पीवमि ।।ध्रु०।।
खेँपहु जोइनि लेप न जाय,
मणिकुले वहिआ ओड़िआणे सगाअ ।।ध्रु०।।
सासु घरेँ घालि कोञ्चा ताल,
चान्द-सुजवेणि पखा फाल ।।ध्रु०।।

---

[१] साधनमाला, (गायकवाड़-ओरियंटल सीरीज, बड़ोदा) पृष्ठ ४६६, ४६७।

भणइ गुडरी अह्मे कुन्दुरे वीरा,
नरअ नारी मझें उभिल चीरा॥ध्रु०॥"

१४ मीनपा (सिद्ध ८)—कामरूप (आसाम) देशमें एक मछवेके कुलमें इनका जन्म हुआ था। इन्हींके पुत्र मत्स्येन्द्र थे, जिनके शिष्य गोरखनाथ हुए। पहले लौहित्य (ब्रह्मपुत्र)-नदीमें मछली मारते और ध्यानमार्गपर चलते थे। पीछे चर्पटीपाद (५९)के शिष्य हो गये। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "वाह्यान्तरवोधिचित्तवन्धोपदेश") (त० ४८।५०) मिलता है, जो कि, पुरानी आसामी या मगहीमें था। चर्यागीति (पृष्ठ ३८)की टीकामें परदर्शन कहकर इनका एक पद उद्धृत किया गया है—

"कहन्ति गुरु परमार्थेर वाट,
कर्मकुरङ्ग समाधिक पाट ।
कमल विकसिल कहिह ण जमरा,
कमलमधु पिविवि धोके न भमरा॥"

१५ कण्हपा (सिद्ध १७)—कर्णाटक-देशमें[1] व्राह्मणकुलमें इनका जन्म हुआ था; इसीलिये इनको कर्णपा भी कहते हैं। शरीरका रंग काला होनेसे कृष्णपा या कण्हपा कहते हैं। महाराज देवपाल (८०९–८४९ ई०) के समयमें यह एक पण्डित भिक्षु थे और कितने ही दिनों तक सोमपुरी-विहार (पहाड़पुर, जि० राजशाही)में रहते थे। पीछे यह सिद्ध जालन्धर-पादके शिष्य हो गये। चौरासी सिद्धोंमें कवित्व और विद्या, दोनोंकी

---

[1] स-स्क्य-व्कं-बुम्, ज, २६५ क—"युल्-ग्यं-गार् कर्ण-र स्क्येस्-पस्-न्स्, कर्ण-ब्शेस् क्यङ व्य। ... र्ग्नान्-रिङ-पस् (लम्बे कानवाले होनेसे) क्यङ कर्ण-प-सेर्। ख-दोग् नग्-पस् कृष्ण-प शेस्-व्य व।" डाक्टर भट्टाचार्यने लिखा है—"*Written in his own vernacular which was probably Uria, and showed great affinity towards the old Bengali language.*"

दृष्टिसे यह सबसे बड़े सिद्धोंमेंसे हैं। इनके अपने सातसे अधिक शिष्य, चौरासी सिद्धोंमें, गिने गये हैं, जिनमें कनखला (६७) और मेखला (३६); दो योगिनियाँ भी हैं। धर्मपा (३६) कन्तलिपा (६९), महीपा (३७), उधलिपा (७१), भदेपा (३२) शिष्य और जवरिपा (६४) या अज-पालिपा प्रशिष्य थे। उस समय सिद्धोंका गढ़ विहार-प्रदेश था। इन्होंने अपनी भाषा-कविताएँ तत्कालीन मगहीमें की हैं। तन्-जूरमें दर्शनपर छः और तन्त्रपर इनके ७४ ग्रन्थ मिलते हैं। पीछे भी एक कृष्णपाद हुए थे; इसलिये इस सूचीमें कुछ उनके ग्रन्थोंका भी होना सम्भव है। दर्शन-ग्रन्थोंमें इन्होंने शान्तिदेवके "बोधिचर्यावतार"पर "बोधिचर्यावतार-दुरवबोधपद-निर्णय"नामक टीका लिखी है। इनके निम्न कविता-ग्रन्थ मगहीमें थे, जिनके भोटिया-अनुवाद तन्-जूरमें मिलते हैं—

१ कान्हपाद-गीतिका (त० ४८।१७)।
२ महाढुण्ढन-मूल (त० ८५ ।३०)।
३ वसन्ततिलक (त० १२।३०)।
४ असम्बन्ध-दृष्टि (त० ४८।४७)।
५ वज्रगीति (त० ४७।३३)।
६ दोहाकोष [१] (त० ४७। ४४)।

"बौद्धगान ओ दोहा"में इनका दोहाकोष संस्कृतटीका-सहित छपा है, जिसमें बत्तीस दोहे हैं। इनके दोहोंका नमूना देखिये—

"आगम-बेअ-पुराणे, पण्डित्त मान वहंति।
पक्क सिरिफल अलिअ जिम, बाहेरित भ्रमयन्ति ॥२॥"

"अह ण गमइ उह ण जाइ,
वेणि-रहिअ तसु निच्चल पाइ।

[१] तन्-जूर (त० २०।१०); स-स्क्यं ब्कं-बुम्, प ३६८ ख; फ १२८ क।

भणइ कट्टण मन कहवि न फुट्टइ,
निच्चल पवन धरिणि घर वत्तइ" ॥१३॥
"एक्क ण किज्जइ मन्त ण तन्त,
णिअ घरणि लइ केलि करन्त।
णिअधर घरिणी जाव ण मज्जइ,
ताव कि पंचवर्ण विहरिज्जइ ॥२८॥"
"जिमि लोण विलिज्जई पाणिएहि,
तिम घरणी लइ चित्त।
सम-रस जइ तक्खणे,
जइ पुणु ते सम णित्त ॥३२॥"

इनकी वज्रगीतिकाका नमूना देखिये—

"कोल्लअ[1] रे ठिअ बोल्ल, मुम्मुणि रे कक्कोल ॥
घन किपीटह् वज्जइ, करुणे किअइ णरोला।

---

[1] आजकल नेपालमें व्यवहृत चर्यागीत (च-चो)का पाठ इस प्रकार है—

"कोलायि रे थिय बोला, मुमुनिरे कंकोला।
घनकिया थीं होयि वज्रायि, करुणेकियायि न लोरा ॥ध्रु०॥
मलयजकुंदुरु वजायिले डिंडिम तहि ना वाजयि।
तहि भरु खाज गाध्या मय ना पीवयियियि ॥
हले कालिंजर पंनग्रयि दुंदुरु वजरयायि।
चवु सम कस्तुरि सिल्हा, कर्पुर लावनयायि ॥
गल या जइ धनसोलिजरे, तहि भरु खाज न यायी।
प्रेषु ह क्षेत्र करते सोधा सुद्ध न मूनयि।
निलसुह अंग चवावयि, तरि जस रा पनयायी" ॥१६॥

तहि पल खज्जइ, गाढ़ें मअ णा पिज्जइ।
हले कलिञ्जर पणिअइ, डुन्डुर वज्जिअइ।
चउसम कत्थुरि सिल्हा, कप्पुर लाइअइ।
मालइ घाण-सालि अइ, तहिं भलु खाइअइ।
पेंखण खेट करन्त, शुद्धाशुद्ध ण मणिअइ।
निरंशु अंग चडावि अइ, तहिं जस राव पणिअइ।"
मलअजे कुन्डुरु वापइ, डिण्डिम तहिन्न वञ्जि अइ॥

कण्हपाके कुछ गीत देखिये

राग पट मञ्जरी (११)

"नाड़ि शक्ति दिट धरिअ खट्टे,
अनहा डमरु वाजए वीरनादे॥
काह्णु कापाली योगी पइठ अचारे,,
देह नअरी विहरए एकारें॥ध्रु०॥
आलि कालि घण्टा नेउर चरणे,
रवि-शशी-कुण्डल किउ आभरणे॥ध्रु०॥
राग-देश-मोह लाइअ छार,
परम मोख लवए मुत्तिहार ॥ध्रु०॥
मारिअ शासु नणन्द घरे शाली,
माअ मारिआ काह्णु भइअ कवाली॥ध्रु०॥

राग पटमञ्जरी (३६)

"सुण वाह तथता पहारी,
मोहभण्डार लुइ सअला अहारी॥ध्रु०॥
घुमइ ण चेवइ सपरविभागा,
सहज निदालु काह्लिला लाङ्गा॥ध्रु०॥

चेअण ण वेअन भर निद गेला,
सअल सुफल करि सुहे सुतेला ॥ध्रु०॥
स्वपणे मइ देखिल तिभुवण सुण,
घोरिअ अवणा गमण विहुल ॥ध्रु०॥
शाथि करिव जालन्धरि पात्र,
पाखि ण राहअ मोरि पाण्डिआ चादे ॥ध्रु०॥"

१६ तन्तिपा (सिद्ध १३)—मालव-देशके अवन्तिनगर (उज्जैन)में कोरी (तन्तुवाय, तँतवा)के घर इनका जन्म हुआ था। घरमें रहते ही इनका मन सिद्धचर्याकी ओर लगा। जालन्धरपादका दर्शन कर उनके शिष्य हो गये। पीछे कण्हपासे भी उपदेश लिया। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "चतुर्योगभावना" (त० ४८।५४) मिलता है, जो पुरानी मालवी या मगहीमें लिखा गया था। इनकी कोई कविता मूल भाषामें नहीं मिलती; किन्तु यदि "चर्यागीति"के "ढेण्ढनपाद"को तन्तिपाद मान लिया जाय; क्योंकि इस नामका कोई सिद्धाचार्य नहीं है, तो यह गीत उनका हो सकता है।

राग पटमञ्जरी (३३)

"टालत मोर घर नाहि पड़वेषी।
हाड़ीत भात नाँहि निति आवेशी ॥ध्रु०॥
वेङ्गसंसार वड्हिल जाअ,
दुहिल दुधु कि वेण्टे यामाय॥
वलद विआएल गविआ बाँझे।
पिटा दुहिए ए तिना साँझे॥
जों सो वुधी सो धनि वुधी।
जो षो चोर सोइ सांधी॥
निते निते षिआला षिहे षम जुझअ,
ढेण्ढण पाएर गीत विरले वूझ अ॥"

१७ मही (महिल)पा(सिद्ध ३७)—मगध-देशमें शूद्रकुलमें, इनका जन्म हुआ था। गृहस्थ होते भी इन्हें सत्संगकी बड़ी चाह थी। पीछे कण्हपाके शिष्य हो गये। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "वायुतत्त्वदोहा-गीतिका" (त० ८४।१०) मिलता है, जो पुरानी मगहीमें था। "चर्यागीति" में महीधरपादका एक गीत मिलता है, (यह महीपा और महीधरपाद एक ही मालूम होते हैं)।

राग भैरवी (१६)

"तिनि एँ पाटें लागेलि रे अणह कसण घण गाजइ,
ता सुनि मार भयङ्कर रे सअ मण्डल सएल भाजइ।।ध्रु०।।
मातेल चीअ-गअन्दा धावइ।
निरन्तर गअणन्त तुसें घोलइ।।ध्रु०।।
पाप पुण्य वेणि तिड़िअ सिकल मोड़िअ खम्भाठाणा,
गअण टाकलि लागिरे चित्ता पइठ णिवाना।।ध्रु०।।
महारस पाने मातेल रे तिहुअन सएल उएखी,
पञ्च विषय रे नायकरे विपख को वी न देखी।।ध्रु०।।
खररविकिरणसन्तापेरे गअणाङ्गण गइ पइठा,
भणन्ति महित्ता मइ एथु बुड़न्ते किम्पि न दिठा।।ध्रु०।।"

१८ भादेपा (सिद्ध ३२)—श्रावस्ती[1] में चित्रकार (ल्ह-व्रिस्=देव-लेखक)-कुलमें इनका जन्म हुआ था। पीछे सिद्ध कण्हपाके शिष्य हुए। तन्-जूरमें इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता; किन्तु "चर्यागीति"में इनकी यह गीति मिलती है।

राग मल्लारी (३५)

"एतकाल हाँउ अच्छिले स्वमोहें।
एवें मइ बुझिल सद्गुरुबोहें।।ध्रु०।।

---

[1] सहेट-महेट (जि० गोंडा, युक्तप्रान्त)।

एवें चिअराअ मकुं ण ठा ।
गण समुदे टलिआ पइठा ॥ध्रु०॥
पेखमि दहदिह सर्व्वइ शून।
चिअ विहुन्ने पाप न पुण्ण ॥ध्रु०॥
वाजुले दिल मोहक्खु भणिआ,
मइ अहारिल गअणत पणियाँ ॥ध्रु०॥
भादे भणइ अभागे लइआ।
चिअराअ मइ अहार कएला" ॥ध्रु०॥

१९ कङ्कणपाद (सिद्ध ८९)—विष्णुनगर (?विहार) राजवंशमें इनका जन्म हुआ था। कंवलपाके परिवारके सिद्ध थे। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "चर्यादोहाकोषगीतिका" (त० ४८।७) मिलता है। "चर्यागीति" में इनकी यह गीति मिलती है।

राग मल्लारी (४४)

"सुने सुन मिलिआ जवें,
सअलधाम उइआ तवे ॥ध्रु०॥
आच्छु हुँ चउखण संबोही,
माझ निरोह अणुअर वोही ॥ध्रु०॥
विदु-णाद णहिँ ए पइठा,
अण चाहन्ते आण विणठा ॥ध्रु०॥
जथाँ आइलें सि तथा जान,
मासं, थाकी सअल विहाण॥ध्रु०॥
भणई कङ्कण कलएल सादें,
सर्व्व विच्छरिल तथतानादें ॥ध्रु०॥

२० जयानन्त(जयनन्दी)पाद (सिद्ध ५८)—भंगल(भागलपुर) देशके राजाके मन्त्री थे। जन्म ब्राह्मण-वंशमें हुआ था। तन्-जूरमें जया-

नन्तके "तर्कमुद्गर-कारिका" (ल० २४।६) और "मध्यमकावतारटीका" (ल० २५), दो ग्रन्थ मिलते हैं; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि, यह कौन जयानन्त थे। इनके-गुरु-शिष्यके सम्बन्धमें भी नहीं मालूम हुआ है। "चर्यागीति"में इनकी यह गीति मिलती है—

राग शवरी (४६)

"पेखु सुअणे अदश जइसा,
अन्तराले मोह तइसा ॥ध्रु०॥
मोह-विमुक्का जइ माणा,
तवें तूटइ अवणा गमणा ॥ध्रु०॥
नौ दाटइ नौ तिमइ न च्छिजइ,
पेख मोअ मोहे बलि बलि बाझइ ॥ध्रु०॥
छाअ माआ काअ समाणा,
वेणि पाखें सोइ विणा ॥ध्रु०॥
चिअ तथतास्वभावे षोहिअ,
भणइ जअनन्दि फुडअण ण होइ ॥ध्रु०॥"

२१ तिलोपा (सिद्ध २२)—भगुनगर(? बिहार) में इनका जन्म हुआ था। "स-स्क्य-ब्कं-बुम्" (ज, २४५ क) में इनको राजवंशिक कहा गया है। भिक्षु-नाम प्रज्ञाभद्र था; किन्तु सिद्धचर्यामें यह तिल कूटा करते थे; इसी लिये नाम तिलोपा पड़ गया। गुह्यपाके शिष्य और कण्हपाके प्रशिष्य विजयपाद (या अन्तरपाद) इनके गुरु थे। विक्रमशिलाके महापण्डित और सिद्धाचार्य नारोपा इनके प्रमुख शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न मगही-हिन्दीमें थे—१ अन्तर्वाह्यविषय-निवृत्तिभावनाक्रम (त० ४८।८८)। २ करुणाभावनाधिष्ठान (त० ४८।५९) ३ दोहाकोष (त० ४७।२२)। ४ महामुद्रोपदेश (त० ४७।२६)। "चर्यागीति" (पृष्ठ ६२)की टीका में इनका निम्नलिखित दोहा उद्धृत हुआ है, जो सम्भवतः इनके दोहाकोषका है—

"ससंवेअन तत्तफल, तिलोपाए भणन्ति।
जो मण गोअर गोइया, सो परमथे न होन्ति॥"

२२ नाड(नारो)पा (सिद्ध २०)—इनके पिता कश्मीरी ब्राह्मण थे और किसी कामसे मगधमें प्रवास करते थे। वहीं नाडपादका जन्म हुआ। भिक्षु होकर नालन्दा में पढ़ने लगे। असाधारण मेधावी होनेसे, सभी विद्याओंमें पराङ्गत हो, महाविद्वान् हो गये। पीछे विक्रमशिला-विहारमें पूर्व-द्वारके महापण्डित बनाये गये। इतना होनेपर भी यह पण्डिताईसे सन्तुष्ट न थे। अन्तमें सिद्ध तिलोपाके विष्णुनगरमें आनेकी खबर पाकर वहाँ गये और उनसे दीक्षा ली। शान्तिपाद (सि० १२), दीपङ्कर श्रीज्ञान आदिके यह गुरु थे। भोटका मर-वा[1]लोचवा भी इन्हींका शिष्य था। नारोपाका देहान्त १०३९ ई० में हुआ था। तन्-जूरमें इनके तेईस ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न मगही हिन्दीमें थे—१ नाडपण्डितगीतिका (त० ४८।२६)। २ वज्रगीति (त० ४७।३०, ३१)। नाडपादके नामकी कोई मूल गीति नहीं मिलती, तो भी "चर्यागीति"में ताडकपादकी एक गीति मिलती है। यह ताडकपाद नाड़कपाद ही मालूम होते हैं। नामका सादृश्य भी है और ताडक नामका कोई सिद्धाचार्य भी नहीं देखा जाता। गीतिका नमूना देखिये।

राग कामोद (३७)

"अपणे नाँहि सो काहेरि शङ्का,
ता महामुदेरी टूटि गेलि कंथा॥ध्रु०॥
अनुभव सहज मा भोलरे जोई,
चोकोट्टि विमुका जइसो तइसो होइ॥ध्रु०॥

---

[1] तिब्बतके सर्वोत्तम कवि और सिद्ध जे-चुन् मि-ला रे-पा (दीक्षा १०७६ ई०; सिद्धिप्राप्ति १०९२ ई०; मृत्यु ११२२;)के यह गुरु थे, जिनको आज भी तिब्बतका बच्चा-बच्चा जानता और पूजता है।

जइसने अछिले स तइछन अच्छ।
सहज पिथक जोइ भान्ति माहो वास॥ध्रु०॥
वाण्डकुरु सन्तारे जाणी।
वाक्पथातीत काँहि वखाणी॥ध्रु०॥
भणइ ताड़क एथु नाहिँ अवकाश।
जो वुझइ ता गलेँ गलपास॥ध्रु०॥"

२३ शान्तिपा (रत्नाकरशान्ति) (सिद्ध १२)—मगधके एक शहर में, ब्राह्मणकुलमें, इनका जन्म हुआ था। पीछे उडन्तपुरी (विहार-शरीफ) के विहारमें सर्वास्तिवाद-सम्प्रदायमें प्रव्रजित हुए। श्रावक (हीनयान) त्रिपिटक तथा अन्यान्य ग्रन्थोंको समाप्त कर विक्रम-शिलामें महापण्डित जितारिके पास चले गये। वही सिद्ध नाडपादके भी सत्संगमें आये। विद्या समाप्त कर कुछ दिन सोमपुरी-विहारके स्थविर (महन्त) रहे। फिर मालवा चले गये और उधर ही सात वर्षोंतक योगाभ्यासमें रहे। जिस वक्त यह लौटकर भंगल देशमें, विक्रम-शिला पहुँचे, उस समय सिंहलके राजदूतने अपने राजाका आग्रह-पूर्वक निमन्त्रण इनके सामने रखा। स्वीकृति देकर यह सिंहलकी ओर चल पड़े। रामेश्वरके पास इन्हें एक साथी मिला, जो पीछे सिद्ध होकर कुठालिपा (सि० ४४) के नामसे प्रसिद्ध हुआ। सिंहलमें जाकर इन्होंने ६ वर्ष धर्म-प्रचार किया। लौटकर घूमते-घामते जब विक्रम-शिला पहुँचे, तब महाराज महीपाल (९७४—१०२६) की प्रार्थना स्वीकार कर पूर्वद्वारके पण्डित बने। सिद्धोंमें ऐसा जबरदस्त पण्डित कोई नहीं हुआ। इन्हें "कलिकाल-सर्वज्ञ" भी कहा गया है। १०० वर्षसे अधिककी आयुमें इन्होंने शरीर छोड़ा। तन्-जूरमें दर्शन-विषयपर इनके नौसे अधिक ग्रन्थ हैं। इन्होंने छन्दःशास्त्र पर "छन्दोरत्नाकर" ग्रन्थ लिखा। तन्त्रपर इनके २३ ग्रन्थ मिलते हैं। जिनमें सुख-दुःखद्वयपरित्यागदृष्टि (४८।३७) मगहीमें था। "चर्यागीति"में इनके निम्न दो गीत मिलते हैं

राग रामक्री (१५)

"लअ सब्वेअण सरुअ विआरें,
ते अलक्खलक्खण न जाइ।
जे जे उजूवाटे गेला अनावाटा भइला सोई॥ध्रु०॥
कुलें कुल मा होइरे मूढ़ा उजूवाटे संसारा,
बाल भिण एकु वाकु ण भूलह राजपथ कण्टारा॥ध्रु०॥
माआमोहासमुदारे अन्त न बुझसि थाहा,
अगे नाव न भेला दीसअ भन्ति न पुच्छसि नाहा॥ध्रु०॥
सुनापान्तर उह न दिसइ भान्ति न वाससि जान्ते।
एषा अटमहासिद्धि सिज्झए उजूवाट जाअन्ते॥ध्रु०॥
वाम दाहिण दो वाटा च्छाडी,
शान्ति वुलथेउ संकेलिउ।
घाटनगुमाखड़तड़ि नो होइ,
आखि बुजिअ वाट जाइउ॥ध्रु०॥"

राग शीवरी (२६)

"तुला धुणि धुणि आँसुरे आँसु,
आँसु धुणि धुणि णिरवर सेसु॥ध्रु०॥
तउषे हेरुअ ण पाविअइ,
सान्ति भणइ किण सभावि अइ॥ध्रु०॥
तुला धुणि धुणि सुने अहारिउ,
पुन लइआँ अपना चटारिउ॥ध्रु०॥
बहल वट दुइ मार न दिशअ,
शान्ति भणइ वालाग न पइसअ॥ध्रु०॥
काज न कारण जएहु जअत्ति,
सँएँ संवेअण वोलथि सान्ति॥ध्रु०॥"

अन्य सिद्धोंकी कुछ कविताएँ भी दी जा सकती थीं; किन्तु विस्तार-भयसे उन्हें यहाँ नहीं दिया जा रहा है। भोटिया-ग्रन्थ-संग्रह तन्-जूरमें और भी बहुतसे भाषाकाव्यग्रन्थ अनुवादित हैं, जिनमें कुछको छोड़कर सभी मगही हिन्दीके हैं। इनमें कुछ ग्रन्थोंके अब भी दो देशोंसे मिलनेकी आशा है। एक तो नेपालसे, जहाँसे कि, महामहोपाध्याय स्व० पं० हरप्रसाद शास्त्रीको बौद्ध-गान और दोहे मिले थे; और, दूसरे भोट (तिब्बत)से। सिद्धोंकी कितनी ही कविताएँ भोटके स-स्क्य-मठमें। अनुवादित हुई थीं। यह मठ अबतक सुरक्षित है और आज भी इसके पुस्तकागारमें सैकड़ों तालपत्रकी पुस्तकें राजकीय मुहरके अन्दर बन्द हैं। हो सकता है कि, किसी समय इस कोषके खुलनेपर कुछ ग्रन्थ मिल सकें। भोटमें और भी जहाँ-तहाँ कभी-कभी कोई-कोई पुराने भारतीय ग्रन्थ मिल जाते हैं। लेखक जिस समय तिब्बतमें था, उस समय टशील्हुन्पोमें एक दूरके लामाने भारतीय लामा जान कर एक ताल-पोथी प्रदान की थी। पुस्तकका नाम "वज्रडाकतन्त्र" है और इसका अनुवाद भोटिया-कंजूरमें वैशाली (बसाढ़, जि० मुजफ़्फरपुर)के कायस्थ पण्डित गयाधरने, ग्यारहवीं शताब्दीके मध्यमें, किया था। कई कारणोंसे मालूम होता है कि, यह अनुवादकी मूल प्रति है।

यहाँ तन्-जूरमें अनुवादित कुछ भाषा-काव्यों और उनके कर्ताओंकी सूची दी जाती है, जिससे हिन्दी-भाषा-भाषी समझेंगे कि, सिद्धोंने हिन्दीकी कितनी सेवा की है—

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें[1]
२४ अचिन्त	तीर्थिक चण्डालिका	त० ४८।६७
२५ अज्ञात कवि	गीतिका	त० ४८।२०,२३,२४

[1] यह पता Cordier के सूचीपत्रकी दूसरी-तीसरी जिल्दोंके टीका-विभागका है।

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें
	डाकिनीतनुगीति	त० ४८।१११
	योगिनीप्रसरगीतिका	त० ४८।३२
	वज्रगीति	त० ४७।३२
	,,	त० ८५-२०
	,, सिद्धयोगि-	त० ४८।१०९
२६ [1]अद्वयवज्र (मैत्रीपा)	अबोध-बोधक	त० ४७।३९
	गुरुमैत्रीगीतिका	त० ४८।१३
	चतुर्मुद्रोपदेश	त० ४७।३७
	चित्तमात्रदृष्टि	त० ४८।४५
	दोहानिधितत्त्वोपोदेश	त० ४६।३३
	वज्रगीतिका। चतुर्-	त० ४८।१२
२७ अयो(अजो)गिपा (सिद्ध २६)[2]	चित्तसम्प्रदायव्यवस्थान	त० ४८।६१
	वायुस्थान-रोग-परीक्षण	त० ४८।८१
	विपनिर्वहण-भावनाक्रम	त० ४८।९५
२८ इन्द्रभूतिपा (सि० ४२)	तत्त्वाष्टक-दृष्टि	त० ४८।४२

---

[1] इनका नाम अवधूतीपा भी है; यह दीपंकर श्रीज्ञान (जन्म ई० ९८२-१०५४ मृ०) के गुरु थे।

[2] तिब्बती ग्रन्थोंमें अनुवाद-ग्रन्थकी मूल भाषाके लिये सिर्फ भारतीय भाषा लिखा रहता है, संस्कृत और भाषाका फर्क नहीं दिया जाता। दोहा, गीति, दृष्टिशब्दोंवाले नाम तो भाषा-ग्रन्थोंके हैं; किन्तु यहाँ उन ग्रन्थोंको भी भाषामें गिना गया है, जो कि, भाषा-ग्रन्थोंके वेष्टन (४८, ४७)में हैं या सिद्धोंसे सम्बन्ध रखते हैं।

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें
२९ कङ्कालमेखला (सि० ६६।६७)	सनातना-वर्तत्रयमुखागम	त० ४८।८९
३० कङ्कालिपाद (सि० ७)	सहजानन्तस्वभाव	त० ४८।९०
३१ कमरिपा (सि० ४५)	सोमसूर्यवन्धनोपाय	त० ४८।७१
३२ किलपाद (सि० ७३)	दोहाचर्यागीतिकादृष्टि	त० ४८।३५
३३ कुद्दालिपाद (सि० ४४)	अचिन्त्यक्रमोपदेश	त० ४६।१३
	चित्ततत्त्वोपदेश	त० ४८।८२
	सर्वदेवतानिष्पन्न-क्रममार्ग	त० ४८।७०
३४ कुरुकुल्ला (?)	महामुद्राभिगीति	त० ४८।९९
३५ केरलिपा	तत्त्वसिद्धि	त० ४७।३; ८५।१५
३६ कोकलिपा (सि० ८०)	आयुः परीक्षा	त० ४८।९४
३७ गयाधर (कायस्थ पण्डित)	ज्ञानोदयोपदेश	त० १३।६५
३८ गोरक्षपा (सि० ९)	वायुतत्त्वभावनोपदेश	त० ४८।५१
३९ घंटापा (सि० ५२)	आलिकालिमन्त्रज्ञान	त० ४८।७८
४० चमरिपा (सि० १४)	प्रज्ञोपायविनिश्चय-समुदय	त० ४८।५५
४१ चम्पकपा (सि० ६०)	आत्मपरिज्ञानदृष्ट्-युपदेश	त० ४८।८६
४२ चर्पटीपा (सि० ५९)	चतुर्भूतभवाभि-वासनक्रम	त० ४८।८५
४३ चेलुकपाद (सि० ५४)	षडङ्गयोगोपदेश	त० ४।२१
४ चोरंगीपा (सि० १०)	वायुतत्त्वभाव-नोपदेश	त० ४८।५२

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें
४५ छत्रपा (सि० २३)	शून्यताकरुणादृष्टि	त० ४८।४०
४६ जगन्मित्रानन्द (मित्रयोगी)[1]	पदरत्नमाला	त० ८४।१
	वन्धविमुक्त्युपदेश	त० ४८।१२६
	योगिस्वचित्तग्रन्थि	त० ४८।१२८
	विमोचकोपदेश	
४७ थगनपा (सि० १९)	दोहाकोपतत्त्व-गीतिका	त० ४८।६
४८ दीपङ्कर श्रीज्ञान[2]	चर्यागिति	त० १३।४४
	धर्मगीतिका	त० ४८।३४
	धर्मधातुदर्शनगीति	त० ४७।४७
	वज्रासनवज्रगीति	त० १३।४२
४९ दृष्टिज्ञान (?)	गीतिका	त० ४८।१९
	वज्रगीतिका	त० ४८।१८
५० दोखंधिपा (सि० २५)	चतुरक्षरोपदेश	त० ८२।१७
	महायानावतार	त० ४८।६०
५१ धर्मपा (सि० ३६)	कालिभावनामार्ग	त० ४८।७९
	सुगतदृष्टिगीतिका	त० ४८।९
	हुंकारचित्तविन्दु-भावनाक्रम	त० ४८।७४

[1] गहड़वार महाराज जयचन्द्रके गुरु थे। देखिये अन्यत्र "मन्त्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध"।

[2] वैशाली (वसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर)के रहनेवाले तथा अवधूतिपाके शिष्य थे। दीपङ्करके कालमें यह भी भोट गये और वहाँ वहुतसे ग्रन्थोंका भोटिया-भाषामें अनुवाद कर कई वर्षो वाद तीन सौ तोला सोनेकी विदाईके साथ भारत लौटे थे!

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें
५२ धहुलि(=दउड़ि)पा [सि० ४०]	शोकदृष्टि	त० ४८।४४
५३ धेतन	चित्तरत्नदृष्टि।	त० ४८।४१
५४ धोकरिपा (सि० ४१)	प्रकृति-सिद्धि	त० ४८।७५
५५ नलिनपाद (सि० ४०)	धातुवाद	त० ४८।६८
५६ नागवोधि (सि० ७६)	आदियोगभावना	त० ४८।९१
५७ नागार्जुन (सि० १६)	नागार्जुनगीतिका	त० ४८।३३
	स्वसिध्युपदेश	त० ४८।५६
५८ निर्गुणपा (सि० ५७)	शरीरनाडिका-विन्दुसमता	त० ४८।४
५९ निष्कलंकवज्र	वन्धविमुक्तिशास्त्र[1]	त० ४८।१२३
६० नीलकण्ठ	अद्वयनाडिकाभावनाक्रम	त० ४८।९६
६१ पङ्कज (सि० ५१)	अनुत्तरसर्वशुद्धिक्रम	त० ४८।७७
	स्थानमार्गफलमहामुद्राभावना	त० ४८।६९
६२ पनहपा (सि० ७९)	चर्यादृष्टअनुत्पन्नतत्त्वभावना	त० ४८।९६
६३ परमस्वामी (नृसिंह)[2]	दोहाचित्तगुह्य	त० ४८।७३
	महामुद्रारत्नाभिगीत्युपदेश	त० ४८।१०५
	वज्रडाकिनीगीति	त० ४८।१०
	सकलसिद्धवज्रगीति	त० ४८।११३
६४ पुतलीपा (सि० ७८)	वोधिचित्तवायुच-रणभावनोपाय	त० ४८।९२

---

[1] भारतीय ग्रन्थोंका भोटिया-अनुवाद पण्डित और लोचवा (= भोटिया दुभाषिया) मिलकर किया करते थे। इस ग्रन्थके अनुवादमें पण्डित जगन्मित्रानन्द थे।

[2] यह भारतीय सिद्ध पण्डित थे। १०९१ ई० में भोट, ११०० ई० में चीन, १११२ ई० में अन्तिम बार भोटमें गये। भोटियामें इन्हें फा-दम्-पा (=सत्पिता) भी कहते हैं। इनका देहान्त १११७ ई० में हुआ।

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें
६५ महासुखतावज्र (शान्तिगुप्त)	महासुखतागीतिका[1]	त० ४८।३१
	योगगीता	त० ८६।८९
६६ मेकोपा (सि० ४३)	चित्तचैतन्यशमनोपाय	त० ४८।६९
६७ मेदिनीपा (सि० ५०)	सहजाम्नाय	त० ४८।७६
६८ राहुलभद्र (सि० ४७)	अचिन्त्यपरिभावना	त० ४८।७३
६९ ललित (वज्र)	महामुद्रारत्नगीति	त० ४८।११२
७० लीलावज्र (सि० २)	विकल्पपरिहारगीति	त० ४८।३
७१ लुचिकपा (सि० ५६)	चण्डालिकाविन्दुप्रस्फुरण	त० ४८।८३
७२ वज्रपाणि[2]	वज्रपद	त० ४६।४१
७३ वैरोचनवज्र	वीरवैरोचनगीतिका	त० ४८।२५
७४ शाक्यश्रीभद्र[3]	चित्तरत्न-विशोधन-मार्गफल	त० ४८।१२५

---

[1] इसका अनुवाद गुजरातके पण्डित पूर्णवज्र और लामा तारानाथने मिलकर किया। ग्रन्थकर्ता शान्तिगुप्त हुमायूँ और अकबरके समकालीन थे। इनका जन्म दक्षिण-देशके जलमण्डल (?) देशमें हुआ था।—"रत्नाकरजोपमकथा"।

[2] दीपङ्कर श्रीज्ञानके पीछे (१०६५ ई० में) यह तिब्बत गये और वहाँ बहुतसे ग्रन्थोंका अनुवाद किया।

[3] शाक्यश्रीभद्र (जन्म ११२६ ई०) विक्रम-शिलाके अन्तिम प्रधान स्थविर थे। महम्मद-बिन्-बख्तियार द्वारा विक्रमशिलाके नष्ट किये जानेपर यह जगत्तला चले गये और वहीं तीन वर्ष रहे। वहाँसे विचरते नेपाल गये। वहींसे ख्रो-लोचवा (१२०३ ई० में) इन्हें तिब्बत ले गया। स-स्क्य-विहारका लामा इनका भिक्षु-शिष्य बना। बहुतसे ग्रन्थोंका अनुवाद एवं धर्म-प्रचार कर सन् १२१२ ई० में यह अपनी जन्मभूमि कश्मीर लौट गये। वहीं १२२४ ई० में इनका देहान्त हुआ।

	कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें
		वज्रपदगर्भसंग्रह	त० ५।३
		विशुद्धदर्शनचर्योपदेश	त०४८।१२४
७५	शृगालपाद (सि०२७ ?)	रत्नमाला	त० ४८।५८
७६	सर्वभक्ष (सि० ७५)	करुणाचर्याकपालदृष्टि	त० ४८।४६
७७	संवरभद्र	वज्रगीतावबाद	त० ४४।२१
७८	सहजयोगिनीचिन्ता	व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि	त० ४६।७
७९	सागर (सि० ७४)	आलिकालिमहायोगभावना	त० ४८।८०
८०	समुद्र (सि० ८३)	सूक्ष्मयोग	त० ४८।९७
८१	सुखवज्र	मूलप्रकृतिस्थभावना	त० ४७।३६

(११)

बौद्ध नैयायिक

(१) मैथिल नैयायिक

न्याय-शास्त्र और वाद-विवादसे बहुत सम्बन्ध है। यदि बौद्ध, ब्राह्मण तथा दूसरे सम्प्रदायोंका पूर्वकालमें आपसका वह विचार-संघर्ष और शास्त्रार्थ न होता रहता, तो भारतीय न्यायशास्त्रमें इतनी उन्नति न हुई होती। वाद या विचारोंके शाब्दिक संघर्षकी प्रथाके आरम्भ होते ही वादी-प्रतिवादीके भाषण आदिके नियम बनने लगते हैं। भारत में ऐसे शास्त्रोंका उल्लेख हम सर्वप्रथम ब्राह्मण-ग्रन्थोंके उपनिषद्-भागमें पाते हैं।

वेदका संहिताभाग मंत्र और ऋचाओंके रूपमें होनेसे, वहाँ भिन्न-भिन्न ऋषियोंके विवादोंका वैसा उल्लेख नहीं हो सकता, तोभी वशिष्ठ और विश्वामित्रका आरम्भिक विवाद ही इसका कारण हो सकता है, जो कि वशिष्ठके वंशज, विश्वामित्र और उनकी संतानके बनाए ऋग्वेद के भागको पढ़ना निषिद्ध समझते थे और वही बात विश्वामित्रके वंशज वशिष्ठसे सम्बन्ध रखने वाले मंत्र-भागके साथ करते थे। ये बतलाते हैं कि, मंत्र-काल और उसकी क्रीडा-भूमि सप्त-सिन्धु (पंजाब) में भी किसी प्रकारके वाद हुआ करते होंगे। उन वादोंमें भी कुछ नियम बर्ते जाते होंगे और उन्हीं नियमोंको भारतीय न्याय या तर्क शास्त्रका बीज कह सकते हैं।

तब कितनी ही शताब्दियों तक आर्य लोगोंमें यज्ञ और कर्मकाण्डोंकी प्रधानता रही, युक्ति और तर्ककी श्रुतिके सामने उतनी चलती न थी। उस समय भी कुछ लोग स्वतन्त्र विचार रखते थे और उनका कर्मकाण्डियों-

के साथ विचार-संघर्ष होता था, इसी विचार-संघर्षका मुख्य फल हम उपनिषद्के रूपमें पाते हैं। उपनिषद्-कालमें तो नियमानुसार परिषदें थीं, जहाँ बड़े बड़े विद्वान् विवाद करते थे। इन परिषदोंके स्थापक राजा होते थे, और वादमें विजय पानेवालेको उनकी ओरसे उपहार भी मिलता था। विदेहों (तिर्हुत)की परिषद्में इसी प्रकार याज्ञवल्क्यको हम विजयी होते हुए पाते हैं और जनक उन्हें हजार गौवें प्रदान करते हैं।

सप्तसिन्धुसे इस वादप्रथाको तिर्हुत तक पहुँचनेमें उसे पंचाल (अन्तर्वेद और रुहेलखंड)और फिर काशी देश(बनारस, जौनपुर, मिर्जापुर, आजमगढ़के जिले)से होकर आना पड़ा था। इस प्रकार प्राचीन ढँगकी तर्क-प्रणाली सबसे पीछे तिर्हुतमें पहुँचती है। (यद्यपि आज कल मिथिला को तिर्हुतका पर्यायवाची शब्द मानते हैं, जैसे कि काशीका बनारसको, किन्तु प्राचीन समयमें 'मिथिला' एक नगरी थी, जो विदेह देशकी राजधानी थी। उसी तरह काशी देशका नाम था, नगरका नहीं; नगर तो वाराणसी थी, जिसका ही बिगड़ा रूप बनारस है।)

यद्यपि तिर्हुतमें वादप्रथा वैदिक युगके अन्तमें (६०० ईसा पूर्वके आसपास) पहुँची, किन्तु आगे कुछ परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हुईं कि भारतीय न्यायशास्त्रके निर्माणमें तिर्हुतने प्रधान भाग लिया। वस्तुतः, बौद्ध न्यायशास्त्रके जन्म एवं विकासकी भूमि यदि मगध है, तो ब्राह्मण-न्यायके बारेमें वही श्रेय तिर्हुतको प्राप्त है।

अक्षपाद, वात्स्यायन, और उद्योतकरकी जन्म-भूमि और कार्यभूमि तिर्हुत थी, यद्यपि इसका कोई इतना पुष्ट-प्रमाण नहीं मिलता। वेद तथा उसकी मान्यताओं पर प्रचण्ड प्रहार करनेमें मगध प्रधान केन्द्र था; साथ ही जब उपनिषद्के तत्त्वज्ञानकी अन्तिम निर्माणभूमि विदेहके होने पर भी ख्याल करते हैं; तो यह बात स्पष्ट सी जान पड़ने लगती है कि ब्राह्मण न्याय-शास्त्रकी जन्मभूमि गंगाके उत्तर तरफ तिर्हुत ही होना चाहिये।

"वादन्याय"की टीकामें आचार्य शान्तरक्षित (७४०–८४० ई०)ने अविद्धकर्ण, प्रीतिचंद दो नैयायिकोंके नाम उद्धृत किए हैं। जिनमें प्रथमने वात्स्यायनभाष्य पर टीका लिखी थी। ये दोनों ही ग्रंथकार वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०)से पहलेके हैं किन्तु उद्योतकर भारद्वाजसे पहलेके नहीं जान पड़ते। इनकी जन्म-भूमि के बारेमें भी हम निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कह सकते, किन्तु प्रतिद्वंदिता-केन्द्र नालंदा होनेसे बहुत कुछ सम्भावना उनके तिर्हुतके ही होनेकी होती है।

त्रिलोचन और वाचस्पति मिश्रके बाद तो ब्राह्मण-न्यायशास्त्र पर तिर्हुतका एकछंत्र राज्य हो जाता है। वह उदयन और बर्द्धमान जैसे प्राचीन न्यायके आचार्यों को पैदा करता है, और गङ्गेश उपाध्यायके रूपमें तो उस नव्य-न्यायकी सृष्टि करता है, जो आगे चल कर इतना विद्वत्प्रिय हो जाता है कि प्राचीन न्याय शास्त्रकी पठन-पाठन-प्रणालीको ही एक तरहसे उठा देता है। यद्यपि नव्य-न्यायके विकासमें नवद्वीप (बंगाल)का भी हाथ है, तोभी हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०)के बादसे मिथिला (देशके अर्थमें) न्याय-शास्त्र (प्राचीन और नव्य दोनों ही)का केन्द्र बन जाती है, और हर एक कालमें भारतके श्रेष्ठ नैयायिक बननेका सौभाग्य किसी मैथिल हीको मिलता है।

(२) बौद्ध नैयायिक

ब्राह्मण न्याय-शास्त्रके बारेमें इतने संक्षिप्त कथनके बाद हम अब अपने मुख्य विषय "बौद्ध-नैयायिक" पर आते हैं। बौद्ध धर्मके संस्थापक गौतम बुद्धका जन्म ईसापूर्व ५६३ सन्में, और निर्वाण ४८३में हुआ था। बुद्धके उपदेशोंके संग्रहको 'त्रिपिटक' कहा जाता है। यह पाली भाषामें अब भी मिलते हैं। यह विशाल साहित्य अप्रत्यक्षरूपेण ईसा पूर्व पाँचवीं छठी (कुछ स्थानों पर तीसरी तक) शताब्दीके उत्तर भारतके परिचय में अनमोल सहायता प्रदान करता है।

इनके देखनेसे मालूम होता है, कि उस समय 'तक्की' (तार्किक) "वीमंसी" (मीमांसक) लोगोंका बड़ा ज़ोर था। विचार-स्वातंत्र्य उस काल की एक बड़ी विशेषता थी। हर एक पुरुष अपने विचारोंको खुलेतौरसे प्रचार कर सकता था। न उसमें राज्यकी ओरसे कोई बाधा थी और न समाज कोई रुकावट डालता था। परलोक मानने वाले ईश्वर-अनीश्वर-वादी ही नहीं, जड़वादी (उच्छेदवादी, देहके अंतके साथ जीवनका अन्त मानने वाले) तक भी अपने मतका प्रचार करते, राजा-प्रजामें खूब सम्मानित होते थे। यही नहीं पायासी[1] जैसे कोसलके सामन्त राजाको तो अपने जड़वादको छोड़नेमें लोक-लज्जाका भय खाते भी पाते हैं। बुद्धके समकालीन ६ आचार्योंमें मक्खली गोसाल इसी मतके मानने वाले थे। शास्त्रार्थकी प्रथा तो उस समय इतनी जबर्दस्त थी कि पुरुषोंकी तो बात ही क्या, स्त्रियाँ तक जम्बूद्वीपमें अपनी प्रतिभाकी विजय-ध्वजा फहरातीसी जम्बू-वृक्षकी शाखा लिये शास्त्रार्थ करनेके वास्ते देशमें विचरण किया करती थीं। 'त्रिपिटक"में कितने ही ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें बुद्धसे वाद करनेकी घटनाओंका उल्लेख है।

कितने ही सिंहनाद सूत्र तो इन्हीं वादोंसे सम्बन्ध रखते हैं। वहीं पहले-पहल हमें निग्रह-स्थानकी झलक मिलती है और यद्यपि पीछे बौद्ध नैयायिक (दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि) पंचावयव वाक्यको न मान प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण-तीन ही अवयवोंको मानते हैं, किन्तु सूत्रपिटक (त्रिपिटकका एक भाग)में हम कमसे कम उपनयका साफ प्रयोग देखते हैं। इस प्रकार ईसापूर्व छठी शताब्दीमें चतुरवयव और निग्रहस्थानसे हम बौद्धन्यायका आरम्भ होते देखते हैं। ईसापूर्व तीसरी शताब्दीका ग्रन्थ 'कथावत्थु' (अभिधर्मपिटक) उसी प्राचीन शैलीका एक वाद ग्रन्थ है। उसके बाद "मिलिन्द-प्रश्न"मेंभी न्यायके कुछ पारिभाषिक शब्दोंका उल्लेख आता है और नीतिके

---

[1] दीघनिकाय, पायासिसुत्त।

नामसे न्यायका भी नाम आता है। 'मिलिन्दप्रश्न'का मूल रूप चाहे सागल (स्यालकोट)के यवन राजा मिनान्दरके समय (ई० पू० दूसरी शताब्दी)में आरम्भ हुआ हो, किन्तु जिस रूपमें वह हमें मिलता है, उससे वह ईस्वी पहिली दूसरी शताब्दीमें परिवर्द्धित हुआ मालूम होता है। ईस्वी चौथी शताब्दीमें चीन-भाषामें उसका अनुवाद होनेसे वह उससे पीछे नहीं लाया जा सकता।

ईसाकी पहली शताब्दीमें हम कनिष्कके समकालीन साकेतक(अयोध्या-जन्मा)आर्य सुवर्णाक्षीपुत्र भदन्त अश्वघोषके रूपमें एक अद्भुत प्रतिभाशाली बौद्ध विद्वान्को पाते हैं। अश्वघोषके बुद्धचरित और कुछ टीकाओंमें तथा कुछ छोटे-छोटे अन्य ग्रन्थ तिब्बती और चीनी भाषामें अनुवादित हुए मिलते हैं। किन्तु उनके सारे ग्रन्थोंको अनुवाद होनेकी बात तो अलग, हमें उनके बहुतसे ग्रन्थोंका नाम भी नहीं मालूम है। मध्यएसियाकी बालुका भूमिसे ईस्वी दूसरी शताब्दीका लिखा अश्वघोषका 'सारिपुत्रप्रकरण' नाटक मिला है। 'सौन्दरानन्द' काव्यका चीनी या तिब्बती भाषामें अनुवाद नहीं हुआ था, किन्तु सौभाग्यसे वह हमें संस्कृतमें मिल गया। वाद-न्यायकी टीकामें आचार्य शांतरक्षितने अश्वघोषकी एक दूसरी कृति 'राष्ट्रपाल नाटक'का जिक्र किया था। अश्वघोष महान् कविही न थे, बल्कि बौद्ध-दर्शनकी अपूर्वताने उन्हें ब्राह्मणधर्मसे बौद्धधर्मकी ओर खींचा था। उनके ग्रन्थोंमें यद्यपि न्यायपर कोई नहीं मिला है, किन्तु उनमें अन्य सांख्य आदि दर्शनोंका नाम ही नहीं, बल्कि विवाद रोपा गया है और उससे अनुमान होता है, कि अश्वघोषने कोई खंडनात्मक दर्शन-ग्रंथ जरूर लिखा होगा। ईसाकी दूसरी शताब्दीके अक्षपादके न्याय सूत्रोंमें हम आत्मा, शब्द प्रमाण, सामान्य, अवयवी आदि पर बौद्धोंकी ओरसे किये आक्षेपोंका उत्तर दिया जाते देखते हैं, उससे भी उसके पहले किसी ऐसे बौद्ध आचार्यका होना जरूरी मालूम होता है।

नागार्जुन

बौद्ध न्यायपर सबसे पुराने जो ग्रन्थ मिलते हैं, नागार्जुनके ही है। नागार्जुनका जन्म बरार (विदर्भ)में हुआ था, किन्तु वह अधिकतर आन्ध्र-देशके धान्यकटक और श्रीपर्वत स्थानोंमें रहते थे। वह बौद्धोंके माध्यमिक दर्शन (शून्यता या सापेक्षतावाद)के आचार्य थे। उनके तीन छोटे-छोटे न्याय निबन्ध अब चीनी भाषाहीमें मिलते हैं, जिनमेंसे एक विग्रहव्यावर्त्तनी तिब्बत से मुझे मिला। वात्स्यायन-भाष्यमें कितनी ही जगहोंपर हम स्पष्ट बौद्धोंके आक्षेपोंके खंडन पाते हैं। वात्स्यायनके पूर्व किस बौद्धने ये आक्षेप किये होंगे? नागार्जुनके उक्त ग्रन्थके देखने से स्पष्ट मालूम होता, कि प्रमाण स्थापना प्रकरणमें वात्स्यायनने जिस ग्रन्थ का खंडन किया है, वह नागार्जुन ही हैं। सिर्फ न्याय या प्रमाण शास्त्र पर विस्तृत ग्रन्थ लिखने वाले आचार्य दिङ्नाग हैं इसीलिये उन्हें मध्यकालीन भारतीय तर्कशास्त्रका पिता कहा जाता है। जैसे, गंगेशोपाध्यायकी तत्त्वचिन्तामणि न्यायशास्त्रमें एक नये युगका आरंभ करती है, जो कि अब तक चला जा रहा है, उसी प्रकार दिङ्नागका "प्रमाणसमुच्चय" एक नया युग आरंभ करता है, जो कि गंगेशके काल (१२०० ई०) तक रहता है।

वसुबन्धु

नागार्जुनके बादकी डेढ़ शताब्दियोंमें भी बौद्ध नैयायिक हुये होंगे, किन्तु उनकी कृतियोंका हमें कोई पता नहीं। अन्तमें हम वसुबन्धु (४०० ई०)को "वादविधि" या "वादविधान" लिखते पाते हैं। यह ग्रंथ अब तक न संस्कृतहीमें मिला है, और न इसका चीनी या तिब्बती भाषाओंमें ही अनुवाद हुआ था। किन्तु इस ग्रंथका नाम धर्मकीर्ति (६०० ई०)के 'वादन्याय' ग्रन्थ में मिलता है। "वादन्यायः परहितरतैरेप सद्भिः प्रणीतः" पर व्याख्या करते शान्तरक्षित (७४०-८४० ई०)ने लिखा है—"अयं वादन्यायमार्गः सकललोकानिबन्धनबन्धुना **वादविधानादौ** आर्यवसुबन्धुना

महाराजपथीकृतः। क्षुण्णश्च तदनुमहत्यां **न्यायपरीक्षायां** कुमतिमतमत्त मातङ्ग-शिरःपीठपाटनपटुभिराचार्यदिङ्नागपादैः।" इस वाक्यसे मालूम होता है, कि वसुवन्धुने न्यायशास्त्र पर वादविधान नामक ग्रंथ लिखा था। न्यायवार्तिककार[1] उद्योतकर भारद्वाजने भी कितनी ही जगहोंपर इस ग्रन्थ-का नामोल्लेख किया है, और कितनी ही जगहों पर विना नाम दिये भी खण्डन किया है, किन्तु वहाँ व्याख्या करते वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०)ने नाम दिया है—

"यद्यपि वादविधौ साध्याभिधानं प्रतिज्ञेति प्रतिज्ञालक्षणमुक्तं, तद-प्युभयथा दोषान्न युक्तम्।"

"यद्यपि वादविधानटीकायां साधयतीति शब्दस्य स्वयंपरेण च तुल्य-त्वात् स्वयमिति विशेषणम्।"

(न्या० वा० पृ० ११७)

पिछले उदाहरणमें 'वादविधान' नाम समानार्थक होनेसे वह 'वाद विधि'के लिये ही प्रयुक्त हुआ मालूम होता है। वाद विधानकी जिस टीका-का यहाँ जिक्र आया है, उसके रचयिता शायद दिङ्नाग थे। क्योंकि दिङ्नाग वसुवन्धुके शिष्य थे। और हो सकता है, जिसे शान्तरक्षितने, ऊपरके जिस उद्धरणमें "तदनु महत्यां न्यायपरीक्षायां" लिखा है, वह न्याय-परीक्षा वसुवन्धुके वादविधानकी टीका हो अथवा उसीका कोई पोषक ग्रन्थ हो।

न्यायवार्तिकके निम्न उद्धरणोंमें यद्यपि वादविधिका नाम नहीं आया है, किन्तु वे वसुवन्धुके इसी प्रसिद्ध ग्रन्थके मालूम होते हैं।

"अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति।"

(पृ० ४०)

इस पर टीका करते हुए वाचस्पति मिश्रने लिखा है—

---

[1] चौखम्भासंस्कृतसीरीज, बनारस १९१६ ई०।

"तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्य वासुबन्धवं तत्प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितु-मुपन्यस्यति। अपरे पुनरिति।"

"एतेन साध्यत्वेनेप्सितः पक्ष इति प्रत्युक्तम्।"

(न्याय वा० ११६)

इस पर वाचस्पति कहते हैं।

"अत्रापि च वसुबन्धुलक्षणे विरुद्धार्थनिराकृतग्रहणं न कर्त्तव्यम्।"

(ता० टी० पृ० २७३)

एक जगह उद्योतकरने वसुबन्धुके वादलक्षणको इस प्रकार उद्धृत किया है—

"अपरे तु स्वपरपक्षयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं वचनं वाद इति वादलक्षणं वर्णयन्ति।"

(न्या० वा० १५०)

यहां पर टीका[1] करते वाचस्पतिने पूर्वपक्षीका नाम वसुबन्धु दिया है—

"तदेवं स्वाभिमतवादलक्षणं व्याख्याय वासुबन्धवं लक्षणं दूषयितुमु-पन्यस्यति। अपरे त्विति।"

(ता० टी० ३१७)

इन उद्धरणोंसे यह भी मालूम होता है कि वसुबन्धुने अपने ग्रन्थमें प्रत्यक्ष आदिके लक्षण भी लिखे थे और वह धर्मकीर्तिके वादन्यायकी भाँति सिर्फ निग्रहस्थान ही पर नहीं था।

वसुबन्धुके एक ग्रन्थ तर्कशास्त्रको चीनी भाषामें परमार्थ (५५० ई०)ने अनुवाद किया था। तर्कशास्त्र ग्रन्थका नाम न हो, कर विषय मालूम होता है।

---

[1] न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका, "चौखम्भासंस्कृत सीरीज", बनारस (१९२५ ई०)।

वसुबन्धुके समयके बारेमें बहुत मतभेद हैं, कितने ही पंडित उन्हें तीसरी शताब्दीमें ले जाना चाहते हैं और जापानके विद्वान् डा० तकाकुसू ५०० ई०में लाना चाहते हैं। डा० तकाकुसूने वसुबन्धुका समय निर्धारण करनेमें बहुत परिश्रम किया है, किन्तु उनके समयके माननेमें बहुतसी कठिनाइयाँ दीख पड़ती हैं। (१) वसुबन्धुके ज्येष्ठ सहोदर असंगके ग्रन्थोंका धर्मरक्षाने चीनी भाषामें अनुवाद किया था। धर्मरक्षा ४०० ई०में चीनमें थे। (२) वसुबन्धुके शिष्य दिङ्नागका नाम कालिदास ने "मेघदूत"के प्रसिद्ध श्लोक 'दिङ्नागानां पथि परिहरन्'में किया है। वहाँ 'दिङ्नागानां'से बौद्ध विद्वान् दिङ्नागसे ही अभिप्राय है, इसकी पुष्टि मल्लिनायकी टीका ही नहीं करती; बल्कि प्राचीन टीकाकार दक्षिणावर्त्तनाथ भी करते हैं। कुमारगुप्त (४१५-५५ ई०) और स्कन्दगुप्त (४५५-६७ ई०)के समकालीन कालिदाससे पूर्व दिङ् नागका होना माननेपर वसुबन्धुका समय ४०० ई० के पास हो सकता है।

(३) चीनी भाषामें अनुवादित परमार्थ-कृत वसुबन्धुकी जीवनीमें वसुबन्धुको अयोध्याके राजाका गुरु कहा है। उधर वसुबन्धुके नामसे उद्धृत एक श्लोक "सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयः चन्द्रप्रकाशो युवा" को मिलानेपर जान पड़ता है कि वसुबन्धु चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०-४१२) के समकालीन थे।

(४) ३१९ ई० से ४९५ ई० तकका गुप्त काल उत्तरी भारतमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण समय है। इस समयकी पत्थर की मूर्तियाँ भारतीय मूर्ति-कालके अत्यन्त सुन्दर नमूने समझी जाती हैं। अजन्ता और बाग् के कितने ही इस कालके चित्र उस समयकी चित्रकलाकी उन्नतिके शिखर पर पहुँचा प्रदर्शित करते हैं। समुद्रगुप्त (३४०-३७५ ई०)के प्रयाग वाले अशोक स्तम्भपर खुदे श्लोक संगीत और काव्यके कौशलकी सूचना ही नहीं देते हैं, बल्कि कविकुलगुरु कालिदासकी कविताएँ बतलाती हैं कि वह संस्कृत-कविताका मध्याह्न काल था। समुद्रगुप्त (३४०-७५ ई०)

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३८०-४१५ ई०) कुमार गुप्त (४१५-५५ ई०) और स्कन्दगुप्त (४५५-६७ ई०) जैसे पराक्रमी शासकोंको लगातार चार पीढ़ियों तक पैदा करते रहना भी उस कालकी खास महत्ताहीको प्रदर्शित नहीं करता, वल्कि यह भी वतलाता है, कि उस कालमें राष्ट्रीय प्रगति सर्वतो-मुखीन थी। ऐसे समयमें दर्शन क्षेत्रमें भी कितनी ही नई विभूतियाँ जरूर हुई होंगी और वसुवन्धु और दिङ्नागको हम इन्हीं विभूतियोंमें समझते हैं। इस तरहसे भी वसुवन्धुका समय ४०० ई० ठीक जँचता है।

दिङ्नाग

दिङ्नाग (४२५ ई०) वसुवन्धुके शिष्य थे, यह तिव्वतकी परम्परासे मालूम होता है। और तिव्वतमें इस सम्वन्धकी यह परम्परायें आठवीं शताब्दीमें भारतसे गई थीं, इसलिये इन्हें भारतीय परम्परा ही कहना चाहिए। यद्यपि चीनकी परम्परामें दिङ्नागको वसुवन्धुका शिष्य होना नहीं लिखा है, तोभी वहाँ इसके विरुद्ध भी कुछ नहीं पाया जाता। दिङ्-नागका काल वसुवन्धु और कालिदासके वीचमें हो सकता है, और इस प्रकार उन्हें ४२५ ई० के आस पास माना जा सकता है। दिङ्नागका मुख्य ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय है, जो सिर्फ तिव्वती भाषाहीमें मिलता है। उसी भाषामें प्रमाणसमुच्चयपर महावैयाकरणकाशिकाविवरणपञ्जिका (न्यास) के कर्त्ता जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०)की टीका भी अनूदित मिलती है। दिङ्नाग भारतके अद्भुत प्रतिभाशाली नैयायिकोंमें थे, इसमें तो सन्देह ही नहीं।

चीनी परम्परासे मालूम होता है, कि शङ्कर स्वामी दिङ्नागके शिष्य थे। इसकी पुष्टि मनोरथनन्दीकी प्रमाणवार्त्तिकवृत्तिकी टिप्पणीसे होती है। तिव्वती परम्परा हमें वतलाती है कि दिङ्नागके एक शिष्य ईश्वर-सेन थे, जो धर्मकीर्तिके गुरु थे किन्तु यहाँ तिव्वती परम्परामें कुछ भूल मालूम होती है, जैसा कि हम आगे वतलायेंगे। शङ्कर स्वामीका

न्यायपर एक ग्रन्थ 'न्यायप्रवेश' मिलता है, तिब्बती परम्पराने ईश्वर-सेनको धर्मकीर्ति (६०० ई०) का न्यायमें गुरु माना है, और इसमें सन्देहका कोई कारण नहीं मालूम होता किन्तु वहीं ईश्वरसेनको दिङ्नागका शिष्य कहा गया है। आगे हम बतलायेंगे कि धर्मकीर्ति ६२५ ई०के आस पास थे। ऐसी हालतमें धर्मकीर्ति और दिङ्नागके बीचके दो सौ वर्षोंमें सिर्फ एक व्यक्ति नहीं हो सकता। अक्सर पर-म्परामें अप्रधान व्यक्ति छोड़ दिये जाते हैं। मालूम होता है यहाँ भी दिङ्-नाग और ईश्वरसेनके बीचकी परम्परा छूट गयी है। ईश्वरसेनका कोई ग्रन्थ किसी भाषामें नहीं मिलता; किन्तु उनकी कुछ बातोंका खण्डन धर्मकीर्तिने प्रमाण वार्तिकके प्रथम परिच्छेदमें किया है। दुर्वेकमिश्र (११०० ई०)ने भी अपने हेतु विन्दुकी धर्माकरदत्तीय टीकापर व्याख्या करते हुए ईश्वरसेनके मतको उद्धृत किया है, इससे मालूम होता है कि ईश्वरसेनने कोई ग्रन्थ लिखा था।

तिब्बती परम्परा बतलाती है, कि धर्मकीर्तिने जब ईश्वरसेनके पास दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चयको पढ़ा तब कितने ही स्थल उनके गुरुको भी स्पष्ट न लगते थे। इसके बाद धर्मकीर्तिने स्वयं दूसरी बार उसे अपने आप पढ़ा। जब उन्होंने अपने अर्थको अपने गुरुको सुनाया तो उन्होंने शाबाशी दी, और प्रमाणसमुच्चयके अर्थ समझनेमें धर्मकीर्तिको उन्होंने दिङ्नागके बराबर बतलाया। फिर धर्मकीर्तिने तीसरी बार पढ़ा और उन्हें उस में त्रुटियाँ मालूम हुईं। इसीलिये धर्मकीर्तिने दिङ्नागके 'प्रमाणसमुच्चय' पर टीका लिखनेकी अपेक्षा वार्त्तिक (प्रमाणवार्त्तिक) लिखा जिसमें खंडन करनेमें स्वतंत्रता रहे।

धर्मकीर्ति

धर्मकीर्तिका काल (६०० ई०)—चीनी पर्यटक इचिङ्ने धर्मकीर्ति-का वर्णन अपने ग्रन्थमें किया है। इसलिये धर्मकीर्ति ६७९ ई० से पहले हुए।

किन्तु, युन्-च्वेङ्गने धर्मकीर्तिका नाम नहीं लिया है, इसलिये ऐतिहासिकों-का अनुमान है कि ६३५ ई०में जब युन्-च्वेङ्ग नालंदा पहुँचे, धर्मकीर्तिकी आयु कम रही होगी, इसलिये धर्मकीर्तिका काल ३३५-५० ई० माना है। लेकिन युन्-च्वेङ्गके मतसे धर्मकीर्तिको पीछे लाना ठीक नहीं जँचता। हमारी समझमें धर्मकीर्ति युन्-च्वेङ्गसे पहले ही नालंदामें थे, क्योंकि--(१) धर्मकीर्ति नालंदाके प्रधान आचार्य धर्मपालके शिष्य थे। युन्-च्वेङ्गके समय (६३३ ई०) धर्मपालके शिष्य शीलभद्र नालंदाके प्रधान आचार्य थे जिनकी आयु उस समय १०६ वर्ष की थी। ऐसी अवस्थामें धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति ६३५ ई० में बच्चे नहीं हो सकते थे। धर्मकीर्ति सुदूर-दक्षिण तिरुमलय (द्रविड़ देश)के प्रतिभाशाली ब्राह्मण थे। ब्राह्मण शास्त्रों-को उन्होंने खूब पढ़ा था, और पीछे बौद्ध सिद्धान्तोंको अपनी स्वतन्त्र बुद्धिके अधिक अनुकूल पा वह बौद्ध हुए थे।

इस प्रकार नालंदाके प्रधान आचार्यके शिष्य होते समय वह बच्चे नहीं हो सकते थे। नालंदाके विश्वविद्यालयमें प्रवेश पानेके लिये द्वार-पण्डितोंकी कितनी कठिन परीक्षासे विद्यार्थियोंको गुजरना पड़ता था, यह हमें मालूम है; इससे भी धर्मकीर्ति काफी पढ़े लिखे होनेपर ही प्रवेशके अधिकारी हो सकते थे। शीलभद्रके प्रधान आचार्य होनेसे पूर्व ही धर्मकीर्ति विद्या समाप्त कर चुके थे, अन्यथा छोटे होनेपर उन्हें शीलभद्रके पास भी पढ़ना पड़ता। और वैसा कोई उल्लेख नहीं है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे धर्मकीर्तिकी आयु कितनी भी कम मानते युन्-च्वेङ्गके समय हम उसे ३०, ३५ वर्षसे कम नहीं मान सकते? फिर धर्मकीर्तिकी प्रतिभा बौद्ध दार्शनिकोंमें अद्वितीय मानी जाती है, बल्कि उनके प्रतिद्वंद्वी ब्राह्मण नैयायिक भी उनकी प्रतिभाकी दाद देते हैं। ऐसा अद्भुत् प्रतिभा-शाली पुरुष २५ वर्षकी उम्रमें भी नालंदामें बिना ख्याति पाये नहीं रह सकता। युन्-च्वेङ्गकी चुप्पीका कारण हो सकता है (१) युन्-च्वेङ्गके नालंदा निवासके समयसे पूर्व ही धर्मकीर्तिका देहान्त हो चुका था और

न्यायपर अधिक अनुराग न होनेके कारण धर्मकीर्तिकी कृतियों और व्यक्तित्वके प्रति उतना सम्मान भाव न होनेसे उन्होंने उनका जिक्र नहीं किया। युन्-च्वेङ न्यायके पण्डित न थे; यह तो इसीसे मालूम होता है कि उन्होंने दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चय जैसे प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका चीनी अनुवाद न कर असंग, वसुबंधु और शंकरस्वामीके तीन छोटे छोटे न्याय निबन्धोंका ही अनुवाद कर संतोष कर लिया।

(२) यह कहा जा सकता है कि युन्-च्वेङकी जीवनीके सम्पादक उनके शिष्योंने जान-बूझकर धर्मकीर्तिका जिक्र नहीं आने दिया है। युन्-च्वेङ विद्वान् थे, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु कितनी ही जगहों पर जीवनी-लेखकोंने बहुत अतिशयोक्तिकी है। उदाहरणार्थ, यदि उड़ीसामें कोई अबौद्ध पण्डित बौद्धोंको शास्त्रार्थ करनेके लिये ललकारता है, और उसका सन्देश नालंदा आता है, तो नालंदा युन्-च्वेङको अपना प्रतिनिधि चुनकर भेजता है। आजकलके पण्डितोंके शास्त्रार्थकी भाँति सातवीं सदीमें भी शास्त्रार्थ संस्कृतमें हुआ करते थे। और आजकलकी भाँति उस समय भी वादी प्रतिवादी खूब कठिन दार्शनिक संस्कृतका प्रयोग करते थे। संस्कृत भाषाका व्याकरण ऐसे भी जटिल है और फिर उक्त प्रकारकी संस्कृतमें शास्त्रार्थ करना आसान काम न था। युन्-च्वेङ प्रौढ़ अवस्थामें भारत आये थे। पढ़ते पढ़ते दार्शनिक संस्कृतका समझना इनके लिये आसान हो सकता था किन्तु इतनी दक्षता प्राप्त करना संभव न था। इस जगहपर जरूर अत्युक्तिसे काम लिया गया है। ऐसी हालतमें यदि धर्मकीर्ति युन्-च्वेङके समय मौजूद थे तो उन्हें चित्रपर चित्रित करना हानिकारक समझा गया।-और इसलिये उन्हें जान बूझकर वहाँ आने नहीं दिया गया। हमारी समझमें तो धर्मकीर्ति युन्-च्वेङके नालन्दा पहुँचनेसे पूर्व ही गुजर चुके थे।

धर्मकीर्तिकी शिष्य-परम्परा तिब्बती ग्रन्थोंमें इस प्रकार मिलती है—

धर्मकीर्तिकी शिष्य-परम्परा

१ धर्मकीर्ति (६०० ई०), २ देवेन्द्रमति (६५० ई०), ३ शाक्यमति (६७५ ई०), ४ प्रज्ञाकरगुप्त (७०० ई०), ५ धर्मोत्तर (७२५ ई०), ६ यमारि (७५० ई०), ७ विनीतदेव (७७५ ई०), ८ शंकरानन्द (८०० ई०), ९ वंकुपण्डित (११५० ई०), १० शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०)। शाक्य श्रीभद्र विक्रमशिला विहार (भागलपुर)के अन्तिम प्रधान आचार्य थे। विक्रम-शिलाके तुर्कों द्वारा जलाये जानेपर १२०३ ई० में वह विभूतिचन्द्र (जगत्तला बंगाल) दानशील, संघश्री (नेपाल) आदि बौद्ध पंडितोंके साथ तिब्बत गये। शाक्यश्रीभद्रके भोटवासी शिष्य स-स्क्य-पण्-छेन् आनन्दध्वज अपने ग्रन्थमें अपने गुरुकी परम्परा देते हैं, जिसमें वंकु पण्डितको शंकरानन्दका शिष्य बतलाया गया है। यहाँ भी जान पड़ता है, बीचके कितने ही अप्रधान व्यक्तियोंको छोड़ दिया गया है। शाक्य श्रीभद्रका काल (जन्म ११२७ ई०, मृत्यु १२२५ ई०) हमें निश्चित है।

इनके अतिरिक्त जिनेन्द्रबुद्धि, (७०० ई०) धर्माकरदत्त (७०० ई०) कल्याणरक्षित (७०० ई०), रविगुप्त (७२५ ई०), अर्चट (८२५ ई०) शान्तरक्षित (७४०–८४० ई०), कमलशील (८५० ई०), जिनमित्र (८५० ई०), जयानन्त (९५० ई०) कर्णकगोमी, मनोरथनन्दी, जितारि (१००० ई०), रत्नकीर्ति (१००० ई०) आदि कितने ही और विद्वानोंने न्यायपर अपने ग्रन्थ लिखे हैं। जिनेन्द्रबुद्धि वही हैं, जिन्होंने काशिकाविवरणपंजिका या न्यासको लिखा है। शान्तरक्षितके तत्वसंग्रह (संस्कृत-मूल)के प्रकाशित हो जानेसे वह और उनके शिष्य कमलशील (तत्व संग्रह-पंजिकाकार) विद्वानोंके सामने आ चुके हैं।

---

(१२)

मागधी हिन्दीका विकास

भाषा भावका शरीर है। जिस समय एक ही देशमें अनेक भाषाओंका राज्य स्थापित नहीं था, लोग अपनी उसी एक भाषामें अपने हृदयके साधारण या कोमल भावों (काव्य)को प्रकट किया करते थे। चार सहस्र वर्ष पूर्वके हमारे कितने ही पूर्वजोंके भाव हमें उन्हींकी भाषामें, वेदके रूपमें मिलते हैं। "छान्दस्" या वेदकी भाषा उनकी भाषा थी।

नदीके प्रवाहकी तरह भाषाका प्रवाह गतिशील है। जितनी ही भाषा बदलती गयी, उतनी ही हमारे परवर्ती पूर्वजोंको, अपने पूर्वजोंकी भाषा और कृतियोंमें अधिक लोकोत्तर श्रद्धा बढ़ती गयी (और आज भी वह अपने विराट् आकार में हमारे संस्कृत-प्रेमके रूपमें मौजूद है)। समय बीतनेके साथ वह इस फिक्रमें पड़े कि, कैसे हम उसको सुरक्षित और सजीव रखें। इसके लिये उन्होंने (वेद) मन्त्रोंको जहाँ संहिता, पद, जटा, घन आदि नाना क्रमसे, उच्चारण और कण्ठस्थ करके, सुरक्षित किया; वहाँ उस भाषाकी भीतरी बनावटके लिये अपनी-अपनी शाखाके "प्रातिशाख्य" (व्याकरण) बनाये। जब बोल-चालकी भाषामें बहुत अन्तर हो चुका था, तब ईसा पूर्व छठी शताब्दीमें, गौतम बुद्ध उत्पन्न हुए। कोई "भाषा"पर विशेष दया करके नहीं—बल्कि वही प्रचलित और उपयुक्त होनेसे उन्होंने लोक-भाषामें लोगोंको धर्मोपदेश किया। हाँ, जब मगध, कोसल, कुरु, अवन्ती, गन्धारके शिष्य, बुद्धके दिये उपदेशों (सूक्तों=सुत्तों) का अपनी-अपनी भाषा (=निरुक्ति) में पाठ करने लगे, तो कुछ शिष्योंको सूक्तोंकी भाषाका फेर-बदल खटकने लगा और उन्होंने

चाहा कि, उसे हजार वर्षकी पुरानी भाषामें करके सुरक्षित कर दिया जाय। बुद्धने उसे मना ही नहीं किया; बल्कि ऐसा करनेको हल्के दण्डसे दण्डनीय एक अपराध करार दिया। जिस प्रकार नित्य बदलता सिक्का और तोलमान आदमीको खटकता तथा व्यवहारमें परेशानीका कारण होता है, वैसे ही बुद्धके निर्वाणकी तीनचार शताब्दियों बाद, यह आये दिनकी अदल-बदल धर्मधरोंको अरुचिकर मालूम होने लगी। तब उनमेंसे कुछने तो लकीरका फकीर बन, पुरानी भाषाको (जिसे वह समझते थे कि, वह उसी रूपमें बुद्धके मुखसे निकली थी) ही अपनाये रखा और आगेसे अपनी शक्तिभर फेरबदल न होने देनेके लिये बाँध बाँधा। दूसरोंने उसे मृत—किन्तु अधिक स्थायी संस्कृतमें—कर दिया। तथापि इस भाषामें पहली भाषाकी कितनी ही बातें रख छोड़ीं। तीसरे, कुछ लोग और कितनी ही शताब्दियोंतक धक्के खाकर, कुछ और फेर-बदल हो जाने-पर परवर्त्ती किसी भाषामें उसे सुरक्षित करनेपर मजबूर हुए। पहले वाले धर्मधर सिंहलके स्थविरवादी हैं, जो मागधीकी सबसे बड़ी विशेषताएँ—"स" की जगह "श', "न" की जगह "ण" और "र"की जगह "ल" को सहस्राब्दियों पहले छोड़ चुके हैं; तो भी कहते हैं, "हमारे धर्म-ग्रन्थ मूल मागधी भाषामें हैं।" हाँ, यदि उच्चारणकी विशेषताको कोई नगण्य समझे, तो उनका कथन बहुत कुछ सच निकलेगा। सर्वास्तिवाद, महासांघिक आदिने अपने धर्म-ग्रन्थ संस्कृतमें कर दिये तथा महीशासक आदि कुछ निकायोंने प्राकृतमें।

शताब्दियोंसे ब्राह्मण, कोसीकी भाँति, मर्यादा तोड़ भागनेवाली संस्कृत-भाषाको, व्याकरणके नियमोंसे बाँध-बाँधकर स्थायी करते रहे; परन्तु उन्हें पूरी सफलता न मिली। अन्तमें जनपदोंकी सीमाएँ तोड़कर साम्राज्य स्थापित करनेवाले युगके प्रतापी शासक नन्दोंके कालमें पाणिनि[1] वह बाँध-

---

[1] मंजुश्रीमूलकल्पने पाणिनिको नन्दके समयमें माना है।

बांधनेमें सफल हुए, जिसे तोड़नेकी शक्ति संस्कृतमें नहीं रही। तो भी इस बाँधसे संस्कृतके प्रचारमें अधिक फल तबतक नहीं हुआ, जबतक कि, ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यमें शुंगोंके गुरु गोनर्दीय[1] पतञ्जलि अपनी कलम, ज्ञान और जबानको शुंगोंके[2] प्रभुत्वके साथ मिलाकर इसकी वकालतमें न खड़े हो गये। शुंगोंके बाद गति कभी कुछ मन्द और कभी कुछ तेज होती रही; किन्तु गुप्तोंके समयसे पाणिनिकी संस्कृतको वह स्थान प्राप्त हो गया, जो उसे कभी न मिला था (वह स्थान, ईसाकी बारहवीं शताब्दीतक वैसे ही रहकर, आज भी हमारे सामने कुछ कम विशाल रूपमें नहीं दिखायी पड़ता है)।

यद्यपि शुंगकालमें संस्कृतके प्रबल पक्षपाती उठे। और उन्होंने तथा उनके परवर्ती लोगोंने संस्कृतके पक्षमें ऐसा वायुमण्डल तैयार कर दिया कि, कीर्त्ति, मान तथा शिक्षित जनतातक पहुँचनेकी इच्छा रखनेवाले विद्वान् साहित्यमें संस्कृतको ही व्यवहृत करनेपर मजबूर हो गये; तथापि बोलचाल-की भाषाओंने[3] चुपचाप अपने अधिकारको अपहृत नहीं होने दिया। किन्तु जहाँ संस्कृतने एक स्थायी—अचल—रूप पा लिया था, वहाँ यह बेचारी

देखिये ५३ पटल, पृष्ठ ६१२—

"नन्दोऽपि नृपतिः श्रीमान् पूर्वकर्मापराधतः।
विरागयामास स्त्रीणां नगरे पाटलाह्वये॥
.....आयुस्तस्य च वै राज्ञः षट् षष्टीवर्षांतथाः।
.....तस्याप्यन्यतमः सख्यः पाणिनिर्नाम माणवः॥'

[1] मालवामें, विदिशा और उज्जैनके बीच, भोपालके पासमें गोनर्द कोई स्थान था।

[2] सबसे पुराने संस्कृत शिलालेख शुंगोंके समयमें मिलते हैं।

[3] गुणाढ्यकी बृहत्कथा, हालकी गाथासप्तशती आदि इसके उदाहरण हैं।

प्राकृतें जबतक लड़-भिड़कर अपने लिये कुछ स्थान बनाती थीं, तबतक वह स्वयं मृत्युका ग्रास हो, मृतभाषा बन, अपने सबसे प्रबल शस्त्र—बोल-चालकी भाषा होनेको—खो बैठतीं। उन्हें इस जद्दो-जिहदका पुरस्कार यही मिलता था कि, कभी-कभी, लोग उनमें भी कुछ लिख दिया करते थे।

पाणिनिके समयमें संस्कृत स्वाभाविक रूपसे बोल-चालकी भाषा न थी; तोभी उस समयकी बोल-चालकी भाषा, उससे इतनी समीप थी कि, *कुछ दर्जन नियमोंके साथ उसे पाणिनीय संस्कृतमें बदला जा सकता था।* पाणिनिके "भाषा" शब्दसे मतलब है इसी उच्चारणादिके परिवर्तनसे बनी कृत्रिम या "संस्कृत" भाषासे। उदीची (पंजाब), प्राची (युक्त-प्रान्त, बिहार) तथा व्यास-नदीके उत्तर-दक्षिण किनारोंतकके रूप और स्वरतकके भेदोंको दिखलानेसे लोग सिर्फ यही नहीं कह उठते हैं—"महतीयं सूक्ष्मैक्षिकाचार्यस्य" (काशिका ४।२।७४); बल्कि साथ ही यह भी कहते हैं कि, पाणिनिके समय वह (पाणिनीय) संस्कृत बोली जाती थी; और, इसी लिये वह उनके कालको, नन्दोंके समयमें न रखकर, बहुत पूर्व खींचना चाहते हैं। पाणिनिने, अपने व्याकरणके लिये, दो स्रोतोंसे मसाला जमा किया। (क) मन्त्र, ब्राह्मण आदि छान्दस् वाङ्मय, (ख) कल्प, शिशुक्रन्द, यमसभ, अग्निकाश्यप आदिके वृत्तोंको लेकर बने ग्रन्थ आदि से। इनमें भी शिशुक्रन्दीय आदि ग्रन्थ संस्कृतमें थे या प्राकृतमें, इसमें सन्देह ही समझना चाहिये। दूसरा स्रोत था, उदीची और प्राचीकी उस समयकी बोल-चालकी "भाषा"का। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि, उन्होंने अपने समयतकके इस विषयमें हुए प्रयत्नों (अपिशलि, शाकटायन आदिके व्याकरणों) से भी फायदा उठाया।

पाणिनीय संस्कृतका प्रादुर्भाव यद्यपि ईसा पूर्व चौथी शताब्दीमें हुआ; तथापि पतञ्जलिके समय अर्थात् ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यतक उसका बहुत कम प्रचार रहा। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीसे ईसाकी तीसरी

शताब्दीतक वह क्रमशः अपने क्षेत्र और प्रभावको बढ़ाती गयी; और, चौथी शताब्दीसे उसका एकछत्र राज्य स्थापित हुआ। प्राकृत और अपभ्रंशके समयतक—जबतक कि, संस्कृत और भाषाके क्रियापद और प्रत्यय भी बहुत थोड़े ही फर्कसे संस्कृत किये जा सकते थे, संस्कृतभाषामें, बहुत ही प्राञ्जल, सर्वभावसम्पन्न, प्रसादयुक्त ग्रन्थ लिखे जाते थे। जब "देशीय" (आधुनिक भाषाओंका प्राचीनतम रूप)का प्रादुर्भाव हुआ और संस्कृतसे अधिक फर्क पड़ गया, तब जीवित स्रोतसे वञ्चित हो, संस्कृत-ग्रन्थ, भाषाकी दृष्टिसे, बिलकुल ही कृत्रिम तथा शब्द-दारिद्र्यसे पूर्ण बनने लगे।

यह तो हुआ देश-कालके भेदसे न प्रभावित होनेवाली कृत्रिम या "संस्कृत" भाषाके बारेमें। अब जीवित भाषाओंके स्रोतको लें। शताब्दियोंके परिवर्तनकी छाप रखते हुए भी वेद, ब्राह्मण आदि वैदिक साहित्यकी भाषाको पाणिनिने "छान्दस्" कहा है। वह अपने समयमें एक जीवित-भाषा थी। उस समय उसका क्षेत्र अधिकतर गङ्गा और सिन्धुकी उपत्यकाओंतक संकुचित तथा बोलनेवालोंकी संख्या कम होनेके कारण देश-भेदसे भी भाषाभेद कम हुआ था। पाणिनिके समयमें, और छोड़, सिर्फ प्राची (युक्तप्रान्त, बिहार) ही, पांचाली, कोसली और मागधीके तीन क्षेत्रोंमें विभक्त मालूम होती है। विन्ध्य-हिमालयको सबकी सामान्य सीमा मानकर, उनमेंसे, पाञ्चाली, घग्घर (शरावती=सरस्वती)से रामगङ्गातक, कोसली रामगङ्गासे मही (गण्डक)तक एवं मागधी गण्डकसे कोसी तथा कर्मनाशासे कलिंगतक फैली हुई थी। इनमें पांचाली तथा उदीची (पंजाब)की भाषाओंमें अधिक समानता थी; इसलिये शक्तिशाली राज्योंका केन्द्र उदीची (सिन्धु-तट)से उठकर प्राचीमें पञ्चाल तथा कोसलमें चला आया; तोभी पाञ्चालीने स्थानीय भाषाओंमें विशेष भेद न होनेके कारण' कोई विशेष स्थान न प्राप्त किया। उस समयतक तक्षशिलाका विद्या-केन्द्र बना रहना भी इसीका साधक और द्योतक है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दीमें जब मगधका विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ और लक्ष्मीके साथ सरस्वतीने

भी मगधमें पधारकर उसे शक्ति और सभ्यताका केन्द्र वना दिया, तव अवस्था विलकुल वदल गयी। इसमें मगधमें उत्पन्न वौद्ध, जैन जैसे महान् दार्शनिक सम्प्रदाय (जो कि, सिन्धुकी ओरतक फैलते जा रहे थे) और भी सहायक हुए। फलतः मगध, सभ्यताका केन्द्र वननेके साथ, अपनी भाषाको सारे भारतमें सम्मानित करानेमें सफल हुआ। उपयुक्त प्रकारसे सम्राटोंकी भाषा होनेसे मागधीने सारे भारतमें यहाँतक सम्मान पाया कि, पीछे नाटककारोंको, राजपुत्रों तथा दूसरे कितने ही उच्च पात्रोंकी भाषा मागधी रखनेका निर्देश करना पड़ा। मागधीका प्राचीनतम उपलब्ध रूप उड़ीसा, विहार और युक्तप्रान्तमें मिलने वाले सम्राट् अशोकके शिलालेख हैं। पाली (दक्षिणी वौद्ध-त्रिपिटककी भाषा)ने यदि "श"का वाय-काट तथा "र"के स्थानपर भरसक "ल" नहीं आने देनेकी कसम न खायी होती, तो शायद उसे ही मागधीका प्राचीनतम रूप होनेका सौभाग्य प्राप्त होता; किन्तु सिंहलके पुराने गुजराती (सौरसेनी-महाराष्ट्री भाषी) शताब्दियोंतक मागधीके उच्चारणको कैसे वनाये रखते? तोभी हम पालीके पुरातन सुत्तोंमें "ल", "श"की भरमार कर उसे मागधीके पासतक पहुँचा सकते हैं। उसके वाद दूसरी मागधी नाटकोंकी मागधी है। हाँ, जैनमूल-ग्रन्थोंकी भाषा भी मागधी है। किन्तु शुंगोंके समयसे ही जैन-धर्मका केन्द्र पूर्वसे पश्चिमकी ओर हटने लगा; और उज्जैन आदिकी सैर करते ईसाकी चौथी—पाँचवीं शताब्दियोंमें गुजरात पहुँच गया था, जहाँ पाँचवीं शताब्दीमें (पाली-त्रिपिटकके लेख-वद्ध होनेसे पाँच सौ वर्ष वाद) जैन-ग्रन्थ लेखबद्ध हुए। जैन मागधीमें सौरसेनी, महा-राष्ट्रीकी पुट पड़ जानेसे वह आधी ही मागधी रह गयी थी; इसीलिये अर्द्धमागधी भी उसे कहा गया। लेकिन अशोकके वाद (ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीसे) ईसाकी पहली शताब्दीतककी मागधी भाषाका रूप, रामगढ़ पहाड़की गुहाएँ (सरगुजा-राज्य) और वोधगया आदिके कुछ थोड़ेसे और अधिकांश आधे दर्जन शब्दोंवाले लेखोंको छोड़कर और नहीं मिलता।

ईसाकी दूसरी शताब्दीसे पाँचवीं शताब्दी तककी मागधी हमें नाटकोंमें मिलती है। पाँचवींसे अपभ्रंश मागधीका जमाना शुरू होता है। लेकिन महाराष्ट्री-अपभ्रंशकी[1] भाँति मागधी-अपभ्रंशमें कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। संस्कृतका बोलवाला होनेसे शिलालेखों-ताम्रलेखोंसे तो आशा ही नहीं। अपभ्रंशका समय पाँचवींसे सातवीं सदीतक था। आठवीं शताब्दीमें "देशीय" या हिन्दीका समय शुरू होता है। यहाँ स्मरण रहे कि, प्राकृत, अपभ्रंश, देशीय, सभीका एक एक सन्धि-काल है, जिसमें पूर्व और परकी भाषाओंका सम्मिश्रण रहा है। प्राचीन देशीय-मागधी या "मगही" आठवीं शताब्दीसे बारहवीं शताब्दीतक रही। उसके बाद सोलहवीं शताब्दीतक मध्यकालीन मगही और तबसे आधुनिक मगही हुई। इस प्रकार मागधीके निम्न रूप होते हैं—

१ अशोकसे पूर्वकी मागधी ई० पू० ६००–३०० अनुपलभ्य
२ अशोककी मागधी ई० पू० ३००–२०० सुलभ
३ अशोकसे पीछेकी मागधी ई० पू० २००–२०० ई० दुर्लभ
४ प्राकृत मागधी ई० २००–५०० ई० सुलभ
५ अपभ्रंश मागधी ई० ५००–७०० ई० अनुपलभ्य
६ मगही प्राचीन ई० ८००–१२०० ई० सुलभ
७ मगही मध्यकालीन ई० १२००–१६०० ई० दुर्लभ
८ मगही आधुनिक ई० १६००से, जीवित

पहले बतलाया जा चुका है कि, चौथी शताब्दीमें ही मगहीका अपना क्षेत्र गण्डकसे कोसी तथा कर्मनाशासे कलिंगतक था। समय पाकर फिर भाषामें परिवर्तन होता गया। मागधीभाषा-भाषी आस-पासके प्रदेशोंमें

---

[1] अपभ्रंश प्राकृत और प्राचीन "देशीय" भाषाके बीचकी भाषाके लिये यहाँ प्रयोग किया गया है। पतञ्जलिने तो आजकल "प्राकृत" कही जानेवाली भाषाओंसे भी पूर्वकी भाषाके लिये अपभ्रंशका प्रयोग किया है।

जाकर बस गये। इस प्रकार आधुनिक उड़िया, बँगला, आसामी, मैथिली और मगही, प्राचीन मागधीके ही कालान्तरमें विकृत रूप हैं। बनारसी भाषाको भोजपुरी और कोसली या अवधीकी सीमान्त भाषा समझना चाहिये; तथापि प्राकृत और अपभ्रंशके समय इनका भेद बहुत कम था। प्राचीन मगहीकालमें वह बढ़ने लगा। अपभ्रंशतककी मगहीको पूरी तरहसे, तथा प्राचीन मगहीको किसी अंशमें, उक्त सभी भाषा-भाषी अपना कहनेके अधिकारी होते हैं; तो भी मागधी न कह, उसे आसामी, बंगाली[1] या उड़ियाका नाम देना उतना ही अक्षम्य होगा, जितना चासर, शेक्सपियर, मिल्टन तथा उनकी भाषाको अमेरिकन या आस्ट्रेलियन कहना।

ऊपर जिस मागधीको हमने "मगही प्राचीन" कहकर उसका काल

---

[1] प्रादेशिक पक्षपातका उदाहरण कितने ही बँगाली इतिहास-अन्वेषकोंके लेखोंमें भी मिलता है। सौ वर्ष पहले प्रिन्सेप्‌ने सिंहल-वासियोंको बँगालसे आया कहा। उसके लिये आधार यही था कि, सिंहल उपनिवेश-स्थापक विजयकी दादी वंगराजकी लड़की थी और उनका पिता "लाल" देशका शासक था। "लाल" "राढ़" (पच्छिमी बँगाल)का अपभ्रंश रूप मान लिया गया। "महावंस" और "दीपवंस" में स्पष्ट लिखा है कि विजय अपनी राजधानीसे नावपर चढ़कर पहले भरुकच्छ (भड़ौच) फिर सुप्पारक (सोपारा, जि० ठाणा) गया; वहाँसे चलकर ताम्रपर्णीद्वीप। राढ़से सीलोन जानेका यह रास्ता (भूल जानेपर, तो ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दीके लिये और भी) कठिन है। तोभी वह बातें अब भी बहुतसे बँगाली ऐतिहासिकोंके ग्रन्थोंमें लिखी मिलेंगी। मैथिल-कोकिल विद्यापति बहुत दिनोंतक बंग-भाषाके ही आदिकवि रहे हैं; और, यही बात हम बिहारके दो बड़े धर्म-प्रचारकों (शान्तरक्षित और दीपंकरश्रीज्ञान—जिन्होंने आठवीं और ग्यारहवीं शताब्दियोंमें, तिब्बतमें, धर्म-प्रचार किया था) के बारेमें देखते हैं।

आठवींसे वारहवीं शताव्दी वतलाया है, उसीमें हिन्दीकी सवसे प्राचीन कविता है। लेकिन, चूँकि उसे वंगाली विद्वानोंने वँगला सावित किया है और अभीतक हिन्दीवाले उसपर चुप थे; इसलिये उसके हिन्दी होनेके वारेमें कुछ कहना आवश्यक है। पहले तो यह सवाल होता है कि, हिन्दी वालोंने इस मागधीको वँगला वनाये जाते वक्त क्यों नहीं आपत्ति की? यदि इसमें उपेक्षा मात्र ही होती, तो और वात थी; लेकिन यहाँ हिन्दीवालोंकी यह उपेक्षा एक वड़े कारणपर निर्भर है। वह कारण हमें विद्यापतिकी वातसे भी मालूम होता है। वात यह है कि, हिन्दी-भाषासे लोग सिर्फ गद्यकी भाषा खड़ीवोली और पद्यकी भाषा व्रजभाषा लेते हैं। तुलसीकी भाषाका अवधी (कोसली) होना भी कितनोंको पहले नया ही मालूम होगा। खड़ीवोली उत्तर पांचाल (या वदायूँ, मुरादावाद और विजनौरके जिलों) की वोल-चालकी भाषाका साहित्यिक रूप है। वदायूँ आदिके लोग, मालूम होता है, दिल्लीमें मुसलमानी शासन स्थापित होनेके आरम्भिक समयमें ही किसी प्रकार पहुँच गये। धर्म-परिवर्तन तथा अपने बुद्धि-विद्या-वलसे वह वहाँ अधिक प्रभावशाली वन गये। उनके सम्वन्धसे वहुतसे और भी वदायूनी, विजनोरी दिल्ली पहुँचे। उनका और उनकी दास-दासियोंका दिल्लीमें एक अच्छा खासा उपनिवेश वस गया। इस उपनिवेशके सभी लोगोंका, यूरेशियनोंकी भाँति, अपनी भाषा भूलकर फारसी ही वोलने लगना उस समय सम्भव नहीं था—विशेषतः जव कि, राज-काज चलानेके लिये और लोगोंसे काम पड़ता था। (इस उत्तर-पाञ्चाली जमायतको, एक तरहसे, कम्पनीके आरम्भिक दिनोंके वँगालीकी रानियोंसे उपमा दे सकते हैं। फर्क इतना ही था कि, अंग्रेजोंका वर्णभेद रंगपर था, जिसका वदलना असम्भव था; और, उत्तर पाञ्चालियों तथा उनके शासकोंका फर्क धर्मपर था, जो धर्मपरिवर्तनसे वहुत-कुछ हट-सा जाता था)। मातृभाषाका प्रेम भी एक वड़ी चीज़ है; इसको वही अच्छी तरह जानेंगे, जो गुजरातके करोड़-पति मेमनों, वोरों साहुकारोंको, केपटाउन, कोलम्वो और नैरोवीतकमें

अपनी गुजराती भाषामें; एवम्, कोंकणी मुसलमान साहुकारोंको तामिल, मालाबार, कुर्गके प्रदेशोंमें रहते हुए भी कोंकणीमें अपना निजी काम चलाते देखेंगे। अवधकी तरफसे बिहारमें जानेवाले कायस्थ, मुसलमान जैसे अपने साथ अपनी अवधी भाषा लेते गये (उनके प्रभावके साथ उनकी भाषा-का प्रभाव इतना बढ़ा कि, आज भी बिहारकी कचहरियोंके शिक्षित लोगोंको, आप इसी अवधीको, कुछ मगही, मैथिली तथा भोजपुरीके पुटके साथ बोलते पायँगे)—ठीक इसी प्रकार उत्तर पाञ्चालियोंकी अपनी भाषा दिल्लीमें अपना प्रभाव बढ़ाती रही। यह लोग आरम्भिक मुसलमान हुए लोगों (या हिन्दी मुसलमानों)में अधिक प्रभावशाली थे; इसलिये पीछेके मुसलमानों-के लिये यह सभी बातोंमें उनके आदर्श बने। इस प्रकार भाषाके खयालसे दिल्लीके शासन-सूत्रधार दो भागोंमें विभक्त थे; एक फारसीख्वाँ अहिन्दी मुसलमान शासक थे और दूसरे हिन्दी वज़ीर, अमीर तथा फकीर (धर्म-प्रचारक), जो राज-काजके लिये फारसी सीखते-पढ़ते थे; तोभी अपनी मातृ-भाषाके हामी थे। अन्तर्जातीय विवाहोंसे (जोकि आजकी तरह उस समय भी मुसलमानोंमें अधिक होते थे) जैसे ही जैसे हिन्दी-रुधिर शासकोंमें अधिक प्रवेश करता जाता था और इस्लामके प्रचारसे जैसे ही जैसे हिन्दी मुसलमानों की जमायत बढ़ती जाती थी, वैसे ही वैसे उत्तर पाञ्चाली भाषा उन्नतिके पथपर अधिक अग्रसर होती गयी—प्रादेशिकसे सार्वत्रिक भाषा बनती गयी। रक्त-सम्मिश्रणके साथ भाषाका सम्मिश्रण सभी जगह देखा जाता है। इसी प्रकार उत्तरपांचालीमें भी फारसी-अरबीके बहुतसे शब्द मिल गये। शाहजहाँसे बहुत दिनों पहले ही यह भाषा बहमनियोंके साथ दक्खिनमें पहुँच गयी थी; और, क्रमशः हिन्दीसे जिन देशोंकी भाषाओंका जितना ही अधिक फर्क था, उनमें यह उतनी ही अधिक साधारण लोगोंके लिये माध्यम और मुसलमानोंके लिये मातृभाषा बनी। उत्तरमें अकबरके हिन्दू-मुसलमान-विवाहोंने इस भाषाको अधिक भीतर तक घुसने दिया और सभी शाहजादे जन्मसे ही दोभाषिये होने लगे। यद्यपि अंग्रेज़ोंके आनेतक फारसी ही कच-

हरियों की भाषा थी; तोभी वह वैसे ही, जैसे बारहवीं शताब्दीके गहड़वार राजाओंके शिलालेखोंमें आप संस्कृतको देखते हैं। बात-चीततक सभी काम बादशाही कचहरियोंतकमें भी हिन्दीमें ही होते थे; सिर्फ कागज लिखते वक्त फारसी आ जाती थी।

उक्त हिन्दी यद्यपि उत्तर पाञ्चालकी भाषा थी और उसमें अरबी-फारसीके शब्द उधार मात्र ले लिये गये थे; तोभी चौदहवींसे अठारहवीं शताब्दीतक मुसलमानोंका ही इससे घनिष्ट सम्बन्ध था। इसीलिये लोग इसमें मुसलमानियतकी बू पाते थे। फलतः साहित्यकी भाषाका जब प्रश्न-उठा, तब हिन्दुओंने रेख़ता (उर्दू-अरबी-फारसी-मिश्रित खड़ीबोली) को न ले, ब्रजभाषा, अवधी आदिको अपनाया। रेख़तामें उनका कभीकभी कविता करना, फारसीकी ही तरह था। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दीमें सारे हिन्दुस्तान-प्रदेशमें सिवा रेख़ताके कोई दूसरी सर्वत्र प्रचलित भाषा नहीं थी। यद्यपि इसमें अरबी-फारसीके शब्द अधिक थे; तो भी खत्री आदि कितने ही नागरिक कुलोंमें यह मातृ-भाषा थी; और, उनमें अरबी-फारसीके शब्द नाम मात्र थे (उतने संस्कृत-शब्द भी न थे)। तो भी कृष्णके नामसे और दिल्लीके पास होनेसे जैसे ब्रजभाषा अनायास हिन्दीकी काव्य-भाषा बन गयी, उतनी आसानीसे खड़ीबोलीको सफलता नहीं मिली। उसे चौदहवीं शताब्दीसे अठारहवीं शताब्दीतक जगह-जगह-की खाक छाननी पड़ी, अपमान सहना पड़ा; और, इतनी तपस्याके बाद इस एक कोनेकी उत्तर पाञ्चाली भाषाको सारे हिन्दकी हिन्दीभाषा बनने-का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इस प्रकार सूर, विहारी आदिकी धार्मिक, शृङ्गारिक कविताओंके कारण लोग ब्रजभाषाको कविताकी भाषा समझते हैं; और, उपर्युक्त क्रमसे सर्वत्र प्रचलित खड़ीबोलीको आधुनिक व्यवहारकी भाषा। सहस्राब्दि-योंसे हिन्दुस्तान-प्रदेशमें जो भाषाएँ विकसित होती रही हैं, वह भी कभी अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगी, इसका लोगोंको कुछ खयाल

भी न था। यही कारण है, जो भोजपुरी, मगही, मैथिली आदिकी ओर ध्यान नहीं गया। इस प्रकार मैथिलीके विद्यापति कितने ही वर्षोतक बँगाली ही बने रहे! जिस समय खड़ीबोलीने पटरानी होकर कविताके सिंहासनपर भी पैर बढ़ाना चाहा, उस समय व्रजभाषाने लांग बाँध और डंडे मारकर व्रजकी होली शुरू कर दी। यह होली बहुत दिनोंतक गम्भीरताके साथ होती रही; किन्तु जब कविताके दरबारमें खड़ीबोलीकी तूती बोलने लगी, तब बेचारी व्रजभाषाको यही कहकर सन्तोष करना पड़ा—"असली पेठा तो मेरी ही दूकानपर बनता है"। लेकिन बेचारी मगही, मैथिली तथा भोजपुरी आदि भाषाएँ, सती-साध्वी कुलाङ्गनाओंकी भाँति, चुपचाप ही बैठी रहीं। फिर आजकल तो जद्दो-जहदके बिना किसीको कुछ मिलता नहीं। इसीलिये इनकी ओर किसीने ध्यान न दिया। इन मूक भाषाओंका भी अस्तित्व है; इस विषयमें डा० ग्रियर्सन और दूसरे सज्जनोंने जो किया, उसके लिये यह अवश्य उनकी आभारी हैं। इधर ग्रामीण गीतोंके प्रकाशनने यह भी बतला दिया कि, यह स्वभावसुन्दरी भी हैं।

अब सवाल यह है कि, इन भाषाओंके लिये भी कोई स्थान मिलना चाहिये या नहीं? यह न समझें कि, खड़ीबोलीको अपना राजपाट बाँटकर गद्दीसे दस्त-बरदार हो जाना चाहिये। खड़ीबोलीके कारण आज भारतका दो तिहाई भाग एकताके घनिष्ट सूत्रमें बँध गया है। इस बीसवीं शताब्दीमें उस एकताको तोड़नेकी बात वही करेगा, जिसका समूह-शक्तिपर विश्वास नहीं है। तो फिर इनके लिये क्या होना चाहिये? बस, वही, जो व्रजभाषाके लिये इस वक्त और भविष्यमें रहेगा। व्रजभाषाको तो कोई गुजराती बनानेका साहस नहीं रखता, फिर मैथिली और मगहीके बारेमें ऐसा क्यों? यदि व्रजभाषाकी नवीं दसवीं शताब्दियोंकी कविता मिलती, तो उसके सादृश्यको देखकर गुजराती भी वही कहते, जो उस समयकी मगहीको देखकर आज बँगाली कहते हैं। कहा जा सकता है कि, खड़ी-

वोली तो मागधीकी उत्तराधिकारिणी नहीं है, साहित्यिक क्षेत्रमें उसकी उत्तराधिकारिणी तो बँगला ही है। लेकिन यहाँ पूछना है, अधिकार भी तो सापेक्ष शब्द है? मगही, मैथिली, उड़िया, आसामी—इन चारोंको खड़ी करनेपर सर्वप्रथम किसको हक मिलना चाहिये? मगहीको ही न? और बात भी है। यदि बँगला कहे कि, मैं पुरानी मगहीकी पुत्री हूँ, सो ठीक है; लेकिन यदि बँगला पुरानी मगहीका नाम मिटाकर उसे पुरानी बँगला कहने लगे, तो उसे मगहीसे ही लोहा नहीं लेना पड़ेगा; वल्कि उड़िया आदिको भी अपनी ज्येष्ठ भगिनीकी सहायता करनेपर वाध्य होना पड़ेगा। यद्यपि मगहीमें आज अखवार नहीं निकलते, लेख नहीं लिखे जाते, लेकिन तीस लाख वोलने वाले उसके घरमें ही जिन्दा हैं! यदि कहें, उसमें हमें उज्र नहीं; लेकिन मगहीको हिन्दी कैसे कहेंगे? हिन्दी तो पच्छाहीं भापा है, उसका मगहीसे क्या सम्वन्ध? उत्तर यह है कि, हिन्दी शब्द सिर्फ खड़ी-वोलीके ही लिये कोई व्यवहार नहीं करता। व्रजभापा और अवधीके हिन्दी न होनेका किसीने आग्रह नहीं किया। व्रजभाषा और अवधी भी तो खड़ी-वोलीसे, मगहीकी तरह, भिन्न हैं? हम पुरानी मगहीको खड़ीवोली नहीं कहते, हम उसे प्राचीन हिन्दी कहते हैं; जैसे व्रजभापा और अवधीको।

हिन्दी क्या है, पहले इसे आपको समझना चाहिये। सूवा हिन्दुस्तान (हिमालय पहाड़ तथा पंजावी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, तेलगू, ओड़िया, बँगला भापाओंके प्रदेशोंसे घिरे प्रदेश)की आठवीं शताब्दीके वादकी भापा-ओंको हिन्दी कहते हैं। इसके पुराने रूपको प्राचीन मगही, मैथिली, व्रज-भापा आदि कहते हैं; और, आजकलके रूप (आधुनिक हिन्दी)को सार्व-देशिक और स्थानीय, दो भागोंमें विभक्त कर आधुनिक सार्वदेशिक हिन्दी-को खड़ीवोली (जिसे ही फारसी-लिपि तथा अरवी-फारसी शब्दोंकी भर-मारपर उर्दू कहते हैं) तथा आजकल भिन्न-भिन्न स्थानोंमें वोली जानेवाली मगही, मैथिली, भोजपुरी, वनारसी, अवधी, कन्नौजी, व्रजमण्डली आदिको आधुनिक स्थानीय हिन्दी-भापाएँ कहते हैं।

यदि आप कहें कि, दोहाकोष आदिकी भाषाको मगही कौन मानता है, वह तो ठेठ बँगला है। इसका उत्तर तो उन कवियोंके निवास-देश देंगे, जिन्हें मैंने उनके नाम आदिके साथ अपने दूसरे लेख (हिन्दीके प्राचीनतम कवि और उनकी कविता) में दिया है। यहाँ सिर्फ इतना कह देना है कि, यदि (१) उन कवियोंका सम्बन्ध नालन्दा और विक्रमशिलासे रहा है, यदि (२) यह दोनों विद्यापीठ मगही-मैथिली-क्षेत्रोंसे बाहर नहीं रहे हैं, यदि (३) उन सभी कवियोंकी भाषा एक समान रही है; और, यदि (४) उनमें प्रयुक्त हुए शब्द मगही-मैथिली-भाषाओंमें, काल-सम्बन्धी आवश्यक परिवर्तनके साथ अब भी सबसे अधिक मिलते हैं, तो उन्हें हिन्दीसे बाहर नहीं ले जाया जा सकता।

---

(१२)

हिन्दी-स्थानीय भाषाओंके वृहत् संग्रहकी आवश्यकता

परिवर्तनका अटल नियम जैसे संसारकी सभी वस्तुओंपर अधिकार रखता है, वैसे ही भाषापर भी। लेकिन यह परिवर्तन हमेशा कार्य-कारण सम्बन्ध लिये हुए काम करता है, जिससे अपरवर्ती वस्तु (कार्य) पूर्ववर्ती वस्तु (कारण)से बहुत सादृश्य रखती है। यही कारण है कि, बाज वक्त हम वस्तुओंकी परिवर्तनशीलताके विषयमें सन्देहयुक्त हो जाते हैं। इस कार्य-कारण-सहित परिवर्तनका अच्छा उदाहरण हमारा अपना शरीर है। एक ही आदमीके १,२०,४०,५० और ६० वर्षकी अवस्थाओंके चित्र आप उठा लीजिये; सादृश्य और परिवर्तन आपको स्पष्ट मालूम होंगे। मनुष्यके भीतरी (आत्मिक) परिवर्तनको देखना हो, तो किसी चिन्तन-शील पुरुषकी चौदहसे पचास वर्षकी उम्रतककी डायरियाँ पढ़ डालिये। मनुष्यके इस आत्मिक और बाह्य परिवर्तनकी भाँति ही मनुष्यकी भाषाओंमें परिवर्तन होता जा रहा है। किसी जीवित भाषाके कितने ही छोटे-छोटे परिवर्तन तो कोई भी पचास वर्षका समझदार पुरुष आसानीसे बता सकता है। लेकिन सहस्राब्दियोंके परिवर्तनोंके सामने यह परिवर्तन नगण्य है। उस समय तो इतना परिवर्तन हो गया रहता है कि, पहचानना भी असम्भवसा हो जाता है। उदाहरणार्थ आधुनिक मगही (मागधी)को ले लीजिये। इसके आजकलके तथा अठारह सौ वर्ष पूर्व और बाईस सौ वर्ष पूर्वके रूपको ले लीजिये। कितना आमूल परिवर्तन मालूम होगा! चाहे वह परिवर्तन कितना ही आमूल हो, तोभी इसपर सादृश्यका नियम

लागू रहता है। यदि हमें हर शताब्दीकी भाषाओंका नमूना मिल जाय तो इनकी परस्पर समीपता हमें वैसे ही मालूम होगी, जैसे सौ मील जानेवाले यात्रीके लिये पहले कदमसे दूसरे कदमका फासला। दर-असल भाषा-प्रवाहको भी तो एक यात्रीकी ही भाँति सहस्राब्दियोंका सफर करना पड़ा है। इन्हीं परिवर्तनके नियमोंको भाषातत्व कहा जाता है।

भाषा मनुष्यके अन्दर और बाहरके भावोंके प्रकाशन करनेका प्रधान साधन है। इसीलिये इसमें मनुष्यकी अपनी आकृति झलकती है। ऋग्वेदके शब्दोंको सामयिक पेशों तथा गार्हस्थ, धार्मिक, सामरिक, खान-पान आदि विभागोंमें संग्रह कर डालिये; आपको मालूम हो जायगा कि, ऋग्वेदीय मनुष्य समाजका क्या रूप था। यद्यपि इस प्रकारके साहित्यमें समाजके सारे अङ्गोंका रूप चित्रित नहीं होता, इसलिये इसमें शक नहीं कि, यह चित्र पूर्ण न होगा।

भाषा मनुष्यके समझनेका साधन है, इसमें तो किसीको विवाद नहीं हो सकता। मानव-तत्त्व (*Anthropology*) भी मनुष्यके समझनेका साधन है। आजकल तो इन दोनों साधनोंका परस्पर अविरोधी परिणाम देखकर और भी विद्वानोंका विश्वास इनपर बढ़ चला है। भारतकी आर्य तथा द्रविड़-जातियोंकी भाषाओंमें जैसी अपनी विशेषताएँ हैं, वैसे ही इनकी नासामितियोंमें भी। जहाँ दोनों जातियोंका सम्मिश्रण हुआ है, वहाँ हम भाषा और नासामितियोंका भी वैसा ही सम्मिश्रण देखते हैं। उदाहरणार्थ कन्नड और तेलगू—दो द्रविड़-जातियोंको ले लीजिये। इनकी भाषाओंमें आपको संस्कृतके शब्दोंकी बहुलता मिलेगी; और, नासामिति भी आपको उसी परिमाणमें इनमें आर्य और द्रविड़-नासाओंका मिश्रण बतलायेगी। आर्य-भारतसे मालाबारका सीधा सम्बन्ध नहीं है, बीचमें कन्नड तथा दूसरी जातियाँ आ जाती हैं, तोभी मलयालम् भाषामें आपको कन्नड और तेलगूकी अपेक्षा भी अधिक संस्कृत-शब्द मिलेंगे। मलाबारियोंकी नासामितिमें आर्य-नासाओंका बहुत अधिक प्रभाव देखकर पहले-पहल मानव-तत्त्वशास्त्रियोंको

भी वड़ा आश्चर्य हुआ; किन्तु आश्चर्यकी कोई वात नहीं। मालावारमें तो ब्राह्मण (प्रवासी आर्य) आजतक भी नायर-स्त्रियोंके साथ, विना रोक-टोक, सम्वन्ध रखते हैं। हजारों वर्षोसे नम्बूदरी ब्राह्मणोंके छोटे भाई इस नासामितिको वदलनेके ही लिये नियुक्त हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त कथनसे पाठकोंको मालूम हो जायगा कि, भाषाओं-का परिवर्तन अपने अन्दर खास रहस्य रखता है। इसके रहस्यके उद्घाटन-के लिये मनुष्य वैसे ही व्यग्र है, जैसे गौरी-शंकर-शिखर, ध्रुव-प्रदेश, भूगर्भ आदिकी जिज्ञासामें। इस रहस्यके खुलनेसे मनुष्यके इतिहासपर भी वहुत प्रकाश पड़ता है। भाषा-सम्वन्धी अन्वेषणने ही तो यूरोप, ईरान तथा उत्तरी भारतकी जातियोंका एकवंशीय होना सिद्ध किया। इसीने तो विलोचि-स्तानके वर्हुई तथा मद्रासके द्राविड़ोंका एक होना वतलाया। इसीने तिब्वती, नेवार और वर्मावालोंका एक खान्दान सिद्ध किया।

इसके ऊपर यूरोपकी सभ्य जातियोंने वहुत परिश्रम किया है।

इंगलैंडने *English Dialect Society* (इंगलिश स्थानीय भाषा-सभा) कायम की थी, जिसने उपर्युक्त सामग्री संग्रह करनेमें वड़ी सहायता की। इसने *East Yorkshire*, *East Norfolk*, *Vale of Gloucester*, *Midland*, *West Reading of Yorkshire*, *West Devonshire*, *Derbyshire* आदि खास इंगलैंडके ही छोटे-छोटे भागोंकी भाषाओंके सम्वन्धमें वहुत ज्ञातव्य वातोंकी खोज की। स्काच और वेल्स भाषाओंपर भी वहाँ वहुत परिश्रम किया गया है। स्थानीय भाषाओंके व्याकरण और कोष तैयार किये गये हैं। उदाहरणार्थ—

1. W. Barnes, *A Grammar and Glossary of the Dorset dialect, with the history outspreading and bearing of South English*. 2. L. L. Bonaparte, *On the Dialects of Monmouthshire, Hertfordshire, Worcestershire, Gloucestershire, Berkshire* .... 3. E. Kruisigas, *A*

Grammar of the Dialect of West Somerset descriptive and historical. 4. B. A. Mackenzie, *The early London Dialect.* 5. J. Wright, *The English Dialect Grammar.* 6. J. Wright, *The English Dialect Dictionary.*

अन्य विषयोंकी भाँति फ़्रांसने इस विषयमें भी बहुत काम किया है। वहाँ स्थानीय भाषाओंके कितने ही एटलस बने हैं; बहुतसे व्याकरण और कोष लिखे गये हैं; कहावतों और कहानियोंका भी संग्रह किया गया है। *Ch. Bruneau* ने वालों, शम्पेन्वा, लोरेनकी स्थानीय भाषाओंकी सीमा-निर्धारण करनेपर ही (*La limite des dialects Wallon, Champenois et Lorrain on Ardennee*) पुस्तक लिखी है। १८५२–५३ में ही Escallier ने स्थानीय भाषाओंके सम्बन्धमें अपनी पुस्तक *Remerque sur le patois* (स्थानीय भाषाओं पर टिप्पणी); *Letters sur le patois* लिखी थी। *Ch. de Tourtoulon* ने *Des dialectes de leur classification et de leur delimitation geographique* लिखी। १९०३–१९१२ में, १९२० चित्रों सहित कई खण्डोंमें *Atlas linguistique de la France* छपा, जिसका मूल्य प्रायः १५० रु० है। दो वर्ष बाद *Atlas linguistique de la corse*, एक सहस्र चित्रोंके साथ, प्रकाशित हुआ। नार्मंडी भाषाका अलग ही *Atlas dialectologique de Normandie* है। इसी प्रकार और भी कितने ही एटलस छपे हैं। Wallon, Doubs, Bearn, Ardenne, Vinzellhs, Blonay आदिकी स्थानीय भाषाओंपर तो कितने ही अलग-अलग व्याकरण और शब्द-कोष लिखे गये हैं।

जर्मनी, रूसी आदि भाषाओंके सम्बन्धमें भी यही बात है। यहाँ एक बात और भी स्मरण रखनी चाहिये। फ़्रांस और इंगलैंडकी वह भाषाएँ वस्तुतः स्थानीय उपभाषाओंसी हैं, यदि उनके प्रचारके प्रदेश, बोलनेवालों तथा सर्वमान्य इंगलिश या फ़्रेंचसे उनके भेदपर ध्यान दिया जाय। किन्तु

हिन्दीकी स्थानीय भाषाओंमें कुछ तो परिस्थितिके ही फेरमें पड़कर स्थानीय भाषाएँ रह गयीं; अन्यथा मैथिली, व्रजभाषा तथा राजस्थानीको एक स्वतन्त्र भाषा बननेकी उतनी ही योग्यता है, जितनी गुजराती और बँगलाको। यद्यपि इन भाषाओंका साहित्यिक भाषासे सम्बन्ध सैकड़ों वर्षोंसे छूटा हुआ है; तोभी मनुष्यकी आवश्यकताओंके अनुसार इन भाषाओंने भी विचार प्रकट करनेमें बराबर उन्नति की है। अबतक इनको अलग रहकर अपने अस्तित्व-को कायम रखने तथा वृद्धि करनेका मौका रहा है; किन्तु अब वह समय आ पहुँचा है, जब कि, इनकी अवस्था संकटापन्न हो गई है। अन्य बातोंके अति रिक्त दो बातें और हैं, जिनके लिये इन भाषाओंके संग्रहकी बड़ी भारी आवश्य-कता है। पहली बात तो यह है कि, खड़ी हिन्दीके सार्वत्रिक व्यवहार और उसी के द्वारा शिक्षा-प्रचार होनेके कारण शिक्षित समाज खड़ीबोलीमें ही लिखने बोलने लगा है। जो लिख-बोल नहीं सकते, वे भी उसे संस्कृति और भद्रताका चिन्ह समझ, बिना संकोच, उसके शब्दों और मुहाविरोंको अपना रहे हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप उनकी अपनी स्थानीय भाषा बिगड़ती जा रही है! इसकी सत्यताके लिये आप पटनाकी मगही और कायस्थोंकी भोजपुरीको लेकर देख सकते हैं। जिस तरह यह परिवर्तन हो रहा है, उससे तो यदि यह भाषाएँ नष्ट न हो जायँ, तो कम-से-कम थोड़े ही समयमें इनके इतना बिगड़ जानेका डर तो जरूर है, जिससे कि, इनका वैज्ञानिक मूल्य बहुत कम रह जाय और आनेवाली पीढ़ियाँ मानव-तत्त्वकी इस महत्त्वपूर्ण कड़ीको खो देने का इल्जाम हमपर लगावें। दूसरी बात यह है कि, खड़ीबोली यद्यपि मूलतः उत्तर-पाञ्चाल या बिजनोर जिलेके आसपासकी भाषा है, तो भी वहाँके भाषा-भाषियोंकी प्रामाणिकताको स्वीकार नहीं किया गया है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि, घरू काम-काज, जीवनकी साधारण अवस्थाओंके उपयोगके शब्दोंकी, हिन्दीमें, बड़ी कमी है। कभी-कभी कोई-कोई हिम्मतवाले लेखक, ऐसे समय किसी स्थानीय भाषाके शब्दका प्रयोग कर देते हैं; किन्तु, तोभी लोग स्थानीयताका दोष लगाते हैं; और,

उस शब्दके प्रचारमें रुकावट होती है। लोग यह भी खयाल करते रहते हैं कि, शायद ये शब्द हमारी ही स्थानीय भाषामें हों; यद्यपि बहुतसे शब्दोंको, एक ही रूपमें, पटना और अम्बालामें प्रचलित पाया जाता है। यदि हम स्थानीय भाषाओंके शब्द आदि संग्रह कर सकें, तो जहाँ हम उनका एक सुरक्षित भाण्डार रख देंगे, वहाँ भिन्न-भिन्न स्थानीय भाषाओंसे कितने ही सर्वसाधारण शब्दोंको भी जमा कर पायेंगे, जिनको खड़ीबोलीमें लेनेमें फिर हिचकिचाहट न रहेगी; और, इस प्रकार, खड़ीबोलीका एक बड़ा दोष दूर हो जायगा। इस वक्त खड़ीबोलीमें इन कामोंके पूरा करनेका एक मात्र साधन संस्कृत है, जिसके कारण ही बाज वक्त लेखकोंको अनावश्यक संस्कृत भरनेका दोषभागी बनना पड़ता है। यदि हमने इन भाषाओंको बिगड़ने या नष्ट होने दिया, तो इसका परिणाम यही नहीं होगा कि, हमें अपनी भाषाकी आवश्यकताओंको अस्वाभाविक रूपसे पूर्ण करना पड़ेगा; बल्कि वेद, ब्राह्मणसे लेकर, पाली, प्राकृतके ग्रन्थोंतकमें प्रयुक्त होनेवाले उन कितने ही शब्दोंके, परम्परासे चले आये अर्थोंको भी, हम भूल जायँगे, जिनका प्रयोग आजकल केवल इन्हीं भाषाओंमें पाया जाता है।

उपर्युक्त कथनसे स्थानीय भाषाओंको लेखबद्ध करके सुरक्षित कर देनेकी कितनी आवश्यकता है, यह स्पष्ट ही है। इस विषयमें ग्रियर्सनकी *Linguistic Survey of India* ने बहुत अच्छा काम किया है। शब्द-कोष, व्याकरण तथा कहानियोंपर भी उसमें लिखा गया है; तोभी वहाँ भाषाओंके सम्बन्धका स्थूल चित्र ही वांञ्छित था, उनका लक्ष्य सारी भाषाको सुरक्षित कर देनेका नहीं था और न साहित्यिक हिन्दीके कोषको पूर्ण करनेके ही ख्यालसे वह काम किया गया था। इसलिये वह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है। हमें अपनी आवश्यकताके लिये चाहिये हर एक भाषाकी हजारों (१) कहानियाँ, (२) कहावतें, (३) गीत, (४) शिल्प और व्यवसाय-सम्बन्धी शब्द तथा उन्हींपर अवलम्बित (५) विस्तृत कोष और (६) व्याकरण। कहानियोंमें हमें सजीव भाषा मिलेगी। अर्थहीन, किन्तु भाषामें ओज

पैदा करनेवाले निपातोंका व्यवहार, हमें वहीं मालूम हो सकेगा। भाषामें भाव-चित्रणकी शक्तिका भी परिचय उन्हींसे मिलेगा। इसके अतिरिक्त इतिहास मानस-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदिकी दृष्टिमें महत्त्वपूर्ण पदार्थोंकी प्राप्तिके बारेमें तो कहना ही क्या है। कुछ हदतक इन बातोंकी पूर्ति गीतोंसे होगी; किन्तु गीत अपना दूसरा ही महत्त्व रखते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानोंमें कृषि, वर्षा, नक्षत्रों, तारों आदिके सम्बन्धमें तथा दूसरी शिक्षाओंसे भरी कितनी ही गद्य-पद्य-मयी कहावतें प्रचलित हैं। इन कहावतोंमें, बाज वक्त, मनुष्यके शताब्दियोंके अनुभवका सार बन्द रहता है। यह भी समय पाकर नष्ट होती जा रही हैं। पुराने लोगोंमें अब भी ऐसे आदमी मिलेंगे, जिन्हें यह कहावतें सैकड़ोंकी संख्यामें याद हैं। इनके बलपर वह वर्षके भिन्न-भिन्न मासोंमें नक्षत्र देखकर रात्रिके घंटों और कृषि-वर्षाके समयका निश्चय कर लिया करते थे। किन्तु यान्त्रिक साधनोंकी सुलभतासे अब लोगों की प्रवृत्ति उधरसे उदासीन होती जा रही है; इसलिये इनके सर्वथा ही विस्मृत हो जानेकी सम्भावना है।

शिल्प-व्यवसाय-सम्बन्धी संग्रहकी तो सबसे अधिक आवश्यकता है; क्योंकि इस विषयपर तो कुछ भी नहीं किया गया है। खड़ी हिन्दीमें इस विषयके शब्दोंकी बड़ी कमी है। इस अपूर्णताके कारण कभी-कभी हमारे उपन्यास-लेखकोंको समाजका अधूरा चित्रही खींचनेपर मजबूर होना पड़ता है! मल्लाहको ही ले लीजिये। क्या उसको अपने काममें नाव, पतवार, पाल—इन तीन ही शब्दोंका व्यवहार करना पड़ता है? नावके सिर, पूँछ, पेट, बारी, पतवार आदिकी नाना किस्मोंके बारेमें तो कहना ही क्या; खोजनेपर आपको नावके ऊपरकी ओर, नीचेकी ओर, जल्दी या तिरछी चलने, चक्कर काटने तथा रस्सीपर चलने आदिके लिये भी कितने ही शब्द मिलेंगे। और, फिर, समुद्रकी नावोंके बारेमें तो कहना ही क्या है। वह तो एक पूरा संसार है, जिसके ज्ञान और आनन्दसे वञ्चित रहना या परोप-

जीवी होना हमारे लिये अच्छी वात नहीं है (हिन्दी-स्थानीय भापाओंकी सीमा समुद्रसे नहीं मिलती, यह सही है; किन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि, स्थानीय भापाएँ, गुजराती, मराठी, वँगला, ओड़ियातकके साथ वाज वक्त गजवकी समानता रखती हैं)। यह तो सिर्फ मल्लाही व्यवसायकी वात हुई। अव इसमें आप उन सैकड़ों व्यवसायोंको जोड़ लीजिये, जिनमेंसे कुछके नाम आगे दिये जायँगे। तव इस वातके महत्त्वको आप उपेक्षाकी दृष्टिसे न देख सकेंगे। जव हमारे पास कहानियों, कहावतों, गीतों और व्यवसाय-सम्वन्धी शव्दोंका एक पूरा भाण्डार जमा हो जायगा, तव उससे उस स्थानीय भापाका एक अच्छा व्याकरण और कोष तैयार किया जा सकेगा।

अव हमें विचार करना है कि, यह काम कहाँतक साध्य है; और, इसे किस प्रकार करना चाहिये। साध्य होनेके विषयमें तो इतना ही कहना है कि, जो वातें दूसरे देशोंने पचासों वर्ष पूर्व ही कर डालीं, वह यहाँ आज क्यों नहीं हो सकतीं? और जगहोंपर भी, सरकारकी अपेक्षा, लोगोंने, इसके वारेमें, वहुत काम किया है। साध्य और असाध्य तो हम कार्यके ढँगको देखकर अच्छी तरह वतला सकेंगे। हमारे कामके दो भाग होंगे; एक तो संग्रहका काम, अर्थात् ढूँढ़-ढूँढ़कर शव्दोंको जमा करना और दूसरा, व्याकरण, कोपका निर्माण करना। यद्यपि दूसरे काममें वड़ी दक्षताकी आवश्यकता है, तोभी यह संगृहीत सामग्री लेकर एक जगह वैठे-वैठे किया जा सकता है; और, इस कामके लिये ऐसे हिन्दी-भाषी योग्य विद्वान् दुर्लभ न होंगे, जो कि, वड़े उत्साहपूर्वक, जल्दी, उसे समाप्त कर देंगे। सवसे परिश्रमसाध्य और यदि उस तरह किया जाय, तो व्यय-साध्य कार्य है संग्रहका। इसके लिये हमें अपने जिलेको स्थानीय भापा-विभागोंमें वाँट देना होगा। आप कहेंगे, जिलेको वाँटकर क्या स्थानीय भापाओंमें भी उप-विभाग करेंगे? ऐसे तो एक गाँव से दूसरेगाँवमें भी भाषामें कुछ अन्तर पड़ने लगता है? नहीं, मेरा मतलव यहाँ हर जगहके लिये नहीं है। यदि कहीं समझा जाय कि, वहाँ भापामें वैसा कोई खास भेद नहीं है, तो उसे छोड़ दिया जाय;

किन्तु कितनी ही जगहोंपर ऐसा करना जरूरी होगा। उदाहरणार्थ भोज-पुरीको ले लीजिये। सम्पूर्ण आरा, छपरा और चम्पारनके जिले तथा गोरखपुर, बलिया और गाजीपुर जिलोंके अधिकांश भाग एवम् आजमगढ़के कुछ परगने असल भोजपुरीके क्षेत्र में आते हैं। बनारस आदिकी भाषा काशिका वस्तुतः सीमान्त-भाषा है; और, उसमें स्वर तो भोजपुरीका बिलकुल ही नहीं, जो कि, भाषाके लिये, व्याकरणके अन्य अङ्गोंकी अपेक्षा, कम महत्त्वका नहीं है। यदि छपरा (सारन) जिलावाले अपने जिलेमें इस कामको करना चाहें, तो उन्हें अपने जिलेको तीन भागोंमें बाँटना होगा। पहले भागमें गोरखपुर जिला, सरयूनदी, गण्डक-नदी, दाहा-नदी (पीछे सीवानतक), मीरगंज और गोपालगंज-थानोंसे घिरा खण्ड होगा। इसमें सारा कुआड़ीका परगना तथा कितने ही दूसरे भाग आ जायँगे। (इस तरहके उप-भाषाओंके क्षेत्र-विभागमें परगने बाज वक्त बड़ा महत्त्वपूर्ण फैसला देते हैं। स्मरण रहे, परगने प्रायः इसी रूपमें मुसलमानी शासनके पहलेसे चले आ रहे हैं)। दूसरे हिस्सेमें हम मिर्जापुर, दिघवारा, परसा और सोनपुर-थानोंको रख सकते हैं। बाकी हिस्सेको तीसरे भागमें रखा जा सकता है। यद्यपि पहले और तीसरे हिस्सोंमे "गउवै" (गये), "अउवै" (आये) तथा "गइलैं", "अइलैं" जैसे कितने ही भेद मिलेंगे, तो भी इनको छोड़ दिया जा सकता है; किन्तु बाकी चार थानोंके लिये तो विशेष ध्यान देना ही पड़ेगा; क्योंकि वहाँके सिर्फ "नंः" (ह्रस्व ए नहीं)को ही ले लीजिये; जो कि, आसपासके किसी स्थानसे न मिलकर गण्डकपारके मुजफ्फरपुर-जिलेके अपने पड़ोसी भागसे मिलता है। ईसासे पाँच शताब्दियाँ पूर्व यह भाग वस्तुतः उस पारसे मिला हुआ था; किन्तु मुसलमानोंके आनेसे पूर्व—सम्भवतः युन्-च्वेङ के आनेसे भी पूर्व—मही अपनी पुरानी धारको छोड़कर गण्डक बन चुकी थी। ऐसे उदाहरण, और जिलोंमें भी, मिल सकते हैं।

इस प्रकार पहला काम तो हमें जिलोंका ऐसा विभाग करना है। यह अवश्य ही है कि, यह विभाग करना सबके बसका काम नहीं है। भाषा-

विज्ञानके अतिरिक्त इसमें जिलेके भापा-विज्ञानकी भी काफी जानकारी आवश्यक होगी। लेकिन इस दिक्कतको हम बहुत कम कर सकें यदि हम पहले एक ही भापाके एक ऐसे जिलेको ले लें, जहाँके लिये ऐसे विशेपज्ञ मिल सकें। यदि वह जिला अपने सारे कामको खतम कर पावे, तो उसके अनुभवसे दूसरी जगहवाले बहुत फायदा उठा सकते हैं। विभाग कर चुकनेपर हमें संग्रह करनेवालोंकी एक काफी संख्या चाहिये। फिर, जिस किसीको भी तो यह काम, सिर्फ लिखा-पढ़ा होनेसे, सौंपा नहीं जा सकता। इसके लिये, चोट-फेटकी आरम्भिक सहायताकी भाँति, एक तीन-चार सप्ताहका कोर्स रखना होगा; और, सिखलाना होगा कि, सामग्री-संञ्चयके लिये निम्न बातोंका खयाल रखें—

(१) स्थान ऐसा ढूंढ़ें, जहाँकी भापा बाहरी प्रभावसे कम प्रभावित हुई हो।

(२) बोलनेवाला यथासम्भव अपठित, व्यवहारकुशल तथा रूप खड़ाकर बेधड़क बोलनेवाला हो। यदि वह स्त्री हो, तो और अच्छा।

(३) जब उपर्युक्त दोनों बातें मिल गईं, तो लिखनेवाले संग्राहकको अपनेको निर्जीव ग्रामोफोन मशीन मान लेना चाहिये। वक्ताके किसी उच्चारण आदिको शुद्ध करके लिखनेका खयाल भी कभी मनमें न आने देना चाहिये।

(४) लम्बी कथाओंसे परहेज न करना चाहिये।

(५) वीरता, उदारता, प्रेम, माता-पिताकी भक्ति, साहसपूर्ण कार्य, वाणिज्य, शिक्षा, देवाराधन, तीर्थाटन, वैराग्य, जन्म, मरण आदि सभी विपयोंके गद्य, पद्य और गीतिमय वर्णन इकट्ठे करने चाहिये।

(६) निपात आदिके शब्द तथा शब्दानुकरणोंको न छोड़ना चाहिये।

लेकिन यहाँ एक बात और कहनी होगी। यद्यपि नागरी वर्णमाला वैसे देखनेमें पूर्ण मालूम होती है, किन्तु कुछ आवाज़ोंको जाहिर करनेके लिये इसमें अक्षर नहीं हैं। उनके लिये अलग स्पष्ट चिन्ह निश्चित करने होंगे।

उदाहरणार्थ हमारी भाषाओंमें ह्रस्व ए और ओ का उच्चारण भी वहुत देखा जाता है। खड़ी वोलीतकमें "एक" कितनी ही वार ह्रस्व ए के साथ उच्चारित होता है। इस दिक्कतके कारण कितनी ही वार एके स्थानमें इ और ओके स्थानमें उका व्यवहार होने लग पड़ा है। अ का भी एक विशेष उच्चारण है, जिसे पश्चिमी युक्तप्रान्तके शहरोंके लोग "कहना" के कके अको उच्चारण करते हुए करते हैं; उस वक्त इसका उच्चारण कुछ एकी ओर झुक जाता है, तोभी ह्रस्व ए नहीं हो जाता। इसका उच्चारण जर्मन भाषामें ä द्वारा प्रकट किया जाता है। हिन्दीमें अके ऊपर दो विन्दी (अ̈) रखकर उसे किया जा सकता है। इसी प्रकार उके इकी ओर झुकते उच्चा-रणको उपर दो विन्दी (उ̈)तथा ओके इकी तरफ झुकते उच्चारणको ओ-पर दो विन्दी (ओ̈) देकर जाहिर किया जा सकता है। युक्तप्रान्त, विहार और मध्यप्रदेशमें इतनेसे काम चल जायगा, किन्तु राजपूताना और दिल्ली प्रान्तमें घ, च, ड आदिके विशेप उच्चारणोंके लिये अलग चिन्ह करने होंगे। नये चिन्हों और विशेष सावधानियोंको समझानेके लिये ३, ४ सप्ताहका विशेष कोर्स काफी होगा। यदि जिला वोर्डो, म्युनिसिपलिटियोंके शिक्षा-विभाग तया कुछ दूसरे भी उत्साही सज्जन इसके लिये तैयार हो जायँ, तो संग्राहकोंका मिलना कठिन न होगा; न व्ययके ही लिये वहुत तरद्दुद करना पड़ेगा।

कथाओं, कहावतों तथा गीतोंकी अपेक्षा, नाना व्यवसायोंमें उपयुक्त होनेवाले शब्दोंके लिये, कहीं-कहीं कुछ विशेप परिश्रम करना पड़ेगा। इसका अन्दाज़ यहाँ दिये गये कुछ पेशोंसे मालूम हो जायेगा—

१ लोहार	६ सोनार	११ मेहतर	१६ कसेरा
२ वढ़ई	७ चमार	१२ हलवाई	१७ चिड़ीमार
३ धोवी	८ जुलाहा	१३ कोइरी	१८ तेली
४ मल्लाह	९ पटवा	१४ ग्वाला	१९ कलाल
५ हजाम	१० मछुआ	१५ गँड़ेरिया	२० हलवाहा

२१ माली	३२ भड़भूँजा	४३ पहननेकी चीज़ें	५४ भेड़-वकरी सम्वन्धी शब्द
२२ ओझा	३३ तम्वोली	४४ घरके वर्तन	५५ ऊसर आदि भूमिके भेद
२३ कुम्हार	३४ पासी	४५ कालवाची शब्द	५६ वृक्ष-भेद
२४ चूड़ीवाला	३५ दर्जी	४६ नक्षत्रवाची शब्द	५७ जलचर
२५ संगतराश	३६ चोर	४७ भूतवाची शब्द	५८ थलचर
२६ रंगरेज़	३७ वेश्या	४८ स्थानीय परगना, तप्पा(टप्पा)आदि के नाम	
२७ कसाई	३८ जुआरी	४९ नाप और मान	५९ नभचर
२८ धुनिया	३९ नशाखोर	५० घोड़े-सम्वन्धी शब्द	६० विपधर जन्तु
२९ पहलवान	४० साधुओंके शब्द	५१ हाथी ,, ,,	६१ हिंसक जन्तु
३० राजगीर	४१ खानेकी चीज़ें	५२ वैल ,, ,,	६२ अनाजोंके नाम
३१ नुनिया	४२ सोनेकी चीज़ें	५३ गदहा ,, ,,	६३ वही-खाता
			६४ आभूषण

सभी कामको सुचारु रूपसे करनेके लिये एक प्रवन्धक समिति तथा एक सम्पादक-मण्डलकी आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त एक संग्राहकोंका मण्डल रहेगा। सम्पादक-मण्डलमें उच्च कोटिके प्रामाणिक पुरुषोंकी अनेक जगह कमी रहेगी; किन्तु उसमें वाहरके मर्मज्ञोंसे सहायता ली जा सकती है। हाँ, हल्के दिलसे यह काम नहीं किया जा सकता। विशेपतः व्याकरण और शब्द-कोपका काम तो वहुत ही सावधानीका है।

व्याकरण—हर एक उपस्थानीय भापाका अलग व्याकरण न वनाकर किसी जगह की भापा—जो दूसरी भापाओं द्वारा अधिक अप्रभावित हो, या अधिक प्रचलित हो, या केन्द्रमें हो—को मध्यस्थ वनाकर वाकी भेदोंको उसके द्वारा वतलाना।

कोष—इसमें खड़ीवोलीमें प्रचलित पर्यायवाची शब्दोंके अतिरिक्त

संस्कृत के बिगड़े तथा "देशी" शब्दोंके लिये प्राकृत तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओंके पर्याय भी देने चाहियें।

यह काम अच्छा है, यह तो सभी कहेंगे; किन्तु इसकी दिक्कतोंका लोगोंको बहुत खयाल होगा। यह भय तबतक दूर न होगा, जबतक किसी एक भाषाका संग्रह पूरा न हो जाय। एकके तैयार हो जानेपर दूसरोंको उस तजर्बेसे बहुत फायदा होगा और दिक्कतोंका खयाल भी कम हो जायगा। यदि पहले ऐसे स्थानमें काम किया जाय जिसमें निम्न विशेषताएँ हों, तो काम आदर्श रूपमें, कम व्यय और कम समयमें, समाप्त हो जायगा; और, इससे दूसरे भी जल्दी उत्साहित हो सकेंगे—

(१) भाषा ऐसी हो, जिसका क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा हो। (२) जिस भाषाके (कई शताब्दियोंके अन्तरसे) अनेक रूप उपलब्ध हों जिससे कि, तुलनात्मक अध्ययनमें पूरी मदद मिल सके। (३) जहाँ भाषातत्त्वज्ञ तथा उस भाषाके मर्मज्ञ भी मिल सकें। (४) जहाँकी स्थानीय संस्थाएँ इसके लिये तैयार हों। (५) जहाँ उत्साही लेखक और कार्यकर्ता सुलभ हों। (६) जहाँ काम जल्दी समाप्त किया जा सकता हो।

मेरे खयालमें ऐसी भाषा मगही है। इसका क्षेत्र पटना और गयाके जिले हैं, जिनका क्षेत्र-फल ६,७७६ वर्गमील है; और, १९२१ ई० की जन-गणनामें जनसंख्या २७,२७,२१७ थी। मगही-भाषाके कितने ही रूप उपलब्ध हैं, जिनका जिक्र मैंने अपने दूसरे लेखमें किया है।

---

(१४)

तिब्बतमें भारतीय साहित्य और कला

तिब्बतकी यात्रा और दृष्टियोंसे भी अत्यन्त मनोरंजक है, लेकिन मैं तो तीन बार तिब्बत सिर्फ साहित्यिक खोजके लिए ही गया हूँ। पहली बार (तिब्बत जानेसे पहले और जानेके बाद भी) मेरी यही धारणा रही कि भारतीय ग्रन्थोंके तिब्बती भाषान्तर ही वहाँ मिल सकते हैं। भारतसे गये मूल-संस्कृत-ग्रन्थोंके मिलनेकी बहुत कम संभावना है। पहली बार जिन लोगोंसे मैंने संस्कृत-ग्रन्थोंके बारेमें पूछा, उन्हें उनका पता नहीं था, और उनके ऊटपटाँग उत्तरसे ही मेरी वह धारणा हुई थी। लेकिन जब मैं २२ खच्चर पोथियोंको लेकर पहली बार तिब्बतसे लौटा और अपनी छोटी पुस्तक 'तिब्बतमें बौद्धधर्म'के लिखनेके लिये उसकी ऐतिहासिक सामग्रीकी देखभाल करने लगा, तो मालूम हुआ कि भारतसे गये हजारों संस्कृत-ग्रन्थ तिब्बतमें भले ही न प्राप्त हों, किन्तु वहाँ कुछ संस्कृत-ग्रन्थ जरूर मिलेंगे। पहली बार तिब्बतसे लौटनेके बाद महान् बौद्ध नैयायिक धर्म-कीर्ति—जिन्हें पश्चिमके सर्वश्रेष्ठ जीवित भारत-तत्त्वज्ञ आचार्य शेरबात्स्की (लेनिनग्रेड) भारतका काण्ट कहते हैं—के प्रधान ग्रन्थ प्रमाण-वार्तिकको तिब्बती भाषासे संस्कृतमें अनुवाद भी करने लगा था, लेकिन उसी समय मेरे मित्र श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार नैपाल गये थे और उन्होंने राजगुरु प० हेमराज शर्माके पास उसकी संस्कृत प्रति देखी। संस्कृत प्रति खंडित थी, तो भी उस समय मुझे जान पड़ा कि संस्कृत प्रतियोंकी पूरी खोज किये विना तिब्बती भाषासे संस्कृत करनेका काम हाथमें न लेना चाहिये। कहीं ऐसा

न हो कि तिब्बती भाषासे संस्कृत कर देनेके बाद मूल संस्कृत मिल जाय और फिर सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाय।

१९३४ ई० की दूसरी तिब्बत-यात्रा मैंने खास इसी मतलबसे की थी और १९३६ ई०में तीसरी बार भी संस्कृत-ग्रन्थोंकी खोजमें ही गया था। दूसरी यात्रामें मैंने ४० के करीब संस्कृतकी ताल-पोथियोंके बंडल देखे और तीसरी बार ८०के करीब नयी पोथियाँ देखीं। एक पोथीसे मतलब एक पुस्तक नहीं। पोथी मैं यहाँ वेष्टनके अर्थमें ले रहा हूँ और एक पोथीमें अपूर्ण पुस्तक भी हो सकती है और अनेक पुस्तकें भी। इस प्रकार दूसरी यात्रामें खंडित और अखंडित १८४ ग्रन्थ देखे थे और तीसरी बार खंडित और अखंडित १५१ ग्रन्थ देखे। पिछली यात्रामें कुछ दार्शनिक ग्रन्थ मिले थे। लेकिन उस समय फोटोका सामान पूरा न होनेसे तथा लिखनेके लिये समयका अभाव रहनेसे मैं धर्मकीर्तिके वादन्याय (सटीक) और प्रमाणवार्तिकके आधे अध्यायके भाष्यको ही लिख कर ला सका। अन्य ग्रन्थोंकी सिर्फ सूची बना सका था जो, १९३५के बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीके जर्नलमें छपी है। इस बार विशेषकर उन्हीं दार्शनिक धर्मकीर्ति तथा दूसरे बौद्ध दार्शनिकोंके ग्रन्थोंकी खोजमें ही वहाँ जाना पड़ा था और उसमें इतनी सफलता हुई है कि जितनी मैंने कभी कल्पना भी न की थी। वस्तुतः तिब्बत जाते समय एक दिन मुझे स्वप्न भी आया था। जिसमें मैंने देखा कि कोई आदमी तालकी पोथियोंका एक बंडल बाँधकर मुझे दे गया। बंडलको खोलनेपर उसमें दिङ्नागका प्रमाण-समुच्चय, धर्मकीर्तिका प्रमाणवार्तिक तथा इसी तरहकी कुछ और न्यायकी पुस्तकें थीं। यद्यपि इस यात्रामें भी बौद्ध न्यायका मूल ग्रन्थ दिङ्नागका प्रमाणसमुच्चय नहीं मिल सका, और जबतक वह नहीं मिल जाता तब तक मैं अपने कामको अधूरा ही समझूँगा, तो भी उस स्वप्नमें मुझे जितनी पुस्तकें मिली थीं उनसे कहीं अधिक मिली हैं। न्याय ग्रन्थोंमें मुझे निम्न ग्रंथ मिले हैं।

१—**नागार्जुन**की विग्रहव्यावर्तनी-कारिका (स्ववृत्ति-सहित)। इस ग्रंथका विषय यद्यपि दर्शन है तो भी उसमें न्याय-सम्बन्धी बातें भी आती हैं और एक प्रकारसे अबतक किसी भाषामें उपलभ्य बौद्ध न्याय ग्रंथोंमें यह सबसे प्राचीन है। वात्सायनने न्याय भाष्यमें इसका खंडन किया है, और जान तो पड़ता है कि न्याय-सूत्रकार दूसरे अध्यायमें इस ग्रंथके कुछ मतोंका खंडन करते हैं।

२—**धर्मकीर्ति**—प्रमाणवार्तिक तीन परिच्छेद मूल।

३—**प्रमाण-वार्तिक-वृत्ति** (आचार्य मनोरथनन्दी कृत) चारों परिच्छेदपर सम्पूर्ण। प्रमाणवार्तिक बहुत ही कठिन ग्रन्थ है और उसकी यह वृत्ति आशासे अधिक सरल है।

४—**प्रमाणवार्तिक** (स्ववृत्ति)। धर्मकीर्तिने अपने मुख्य ग्रन्थके स्वार्थानुमान परिच्छेदपर स्वयं वृत्ति लिखी थी। इस वृत्तिका एक चतुर्थांश इस यात्रामें मिला।

५—**स्ववृत्ति-टीका**—(आचार्य कर्णकगोमी कृत)। यह धर्मकीर्तिकी स्ववृत्तिपर एक अच्छी टीका है जो आठ हज़ार श्लोकोंके बराबर है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ मिल गया है।

६—**प्रमाणवार्तिक-भाष्य** (प्रज्ञाकरगुप्त कृत)। प्रज्ञाकरने स्वार्थानुमान परिच्छेद छोड़कर बाकी तीन परिच्छेदोंपर विस्तृत भाष्य लिखा है। प्रज्ञाकर नैयायिक और कवि थे। उनका १।२ ग्रन्थ पद्यमें है और कितने ही पद्योंमें काव्यका आनन्द आता है। संस्कृत दार्शनिकोंमें गद्यपद्यमिश्रित ग्रन्थ लिखनेकी प्रणाली चलानेवाले प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं। ये नालंदाके आचार्य थे। इनकी शैलीका अनुकरण पिछली शताब्दियोंमें उदयनाचार्य और पार्थसारथिमिश्रने किया है। प्रज्ञाकर महान् बौद्ध नैयायिकोंमेंसे एक हैं। पिछली यात्रामें मुझे प्रज्ञाकरके इस ग्रन्थके डेढ़ही अध्याय मिल सके थे, और आधा अध्याय मैं लिखकर लाया था जो बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसा-

इटीके त्रैमासिकमें निकल भी चुका है। इस यात्रामें इस सम्पूर्ण ग्रन्थका एक दूसरा तालपत्र मिल गया।

७—**दुर्वेकमिश्र**। धर्मोत्तर-प्रदीप। धर्मकीर्तिके 'न्याय विन्दु'पर आचार्य धर्मोत्तरकी पंजिका संस्कृतमें छप चुकी है, उसी पंजिकाकी यह टीका है और संभवतः मगधके किसी ब्राह्मण बौद्ध पण्डितने यह टीका लिखी है।

८—**धर्मकीर्तिके ग्रन्थ** 'हेतुविन्दु'पर धर्माकरदत्तकी टीका थी जो अब अनुपलब्ध है। उसी ग्रन्थपर दुर्वेकमिश्रने यह टीका लिखी है।

९—**रत्नकीर्ति**। इनके न्यायपर छोटे छोटे नौ निबंध (सर्वज्ञसिद्धि, अपोहसिद्धि, क्षणभंगसिद्धि, प्रमाणान्तर्भाव-प्रकरण, व्याप्तिनिर्णय, स्थिर-सिद्धिदूपण, चित्ताद्वैतप्रकरण, अवयविनिराकरण, सामान्यनिराकरण) इनमेंसे तीनको छोड़कर वाकी सव अनुपलभ्य थे। रत्नकीर्ति १०वीं शताब्दीके चतुर्थ पादमें विक्रमशिलाके प्रधान आचार्य थे।

१०—**ज्ञानश्री**। क्षणभंगाध्याय। बौद्धोंके मुख्य सिद्धान्त, कि दुनिया की सभी वस्तुयें क्षणिक हैं, इसका इसमें प्रतिपादन किया गया है और त्रिलो-चन (वाचस्पतिमिश्रके गुरु) शंकर आदि प्राचीन ब्राह्मण नैयायिकोंके मतका खंडन किया गया है। इसी ग्रन्थके आक्षेपोंके उत्तरमें उदयनाचार्यने अपने आत्मतत्त्व-विवेक (या बौद्धाधिकार)को लिखा है।

११—किसी अज्ञात आचार्यने **'तर्क-रहस्य'** नामक न्यायका एक ग्रन्थ लिखा है।

१२—शायद उसी अज्ञात आचार्यने **'वादरहस्य'** नामक दूसरा ग्रन्थ लिखा है; जिसका कि प्रथम अध्याय उदयनके आत्मतत्त्वविवेकके खंडनमें लिखा गया है।

इस यात्रामें उपलब्ध हुए दार्शनिक ग्रन्थोंमें निम्नलिखित ग्रन्थ बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—

१—**असंग** (४ थी शताब्दीका अन्त)। योगाचारभूमि। योगाचार-के सिद्धान्त आचार्य शंकरके वेदान्तसे वहुत मिलते हैं, इसी कारण प्रति-

द्वन्द्वियोंने शंकरको प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। आचार्य असंग बौद्ध विज्ञान-वादियोंके प्रधान आचार्य हैं और उनके इसी ग्रन्थके नामपर पीछे सम्प्रदायका नाम ही योगाचार पड़ गया। इस ग्रन्थके अनुवाद तिब्बत और चीनकी भाषाओंमें हो चुके हैं।

२—**वसुबन्धु**। अभिधर्म-कोष-भाष्य। बौद्ध दर्शनके जाननेके लिए यह सर्वोत्तम ग्रन्थ है। चीनी और तिब्बती दोनों भाषाओंमें इसके अनुवाद मिलते हैं। चीनी भाषासे फ्रेंचमें भी इसका अनुवाद हो चुका है, किन्तु ऐसी आशा नहीं थी कि वसुबन्धुका भाष्य मूल संस्कृतमें मिल जायगा।

३—**भाव्य**। तर्कज्वाला (या मध्यमकहृदय)। योगाचार-माध्यमिक सम्प्रदायका यह एक बड़ा ही प्रौढ़ ग्रन्थ है, जिसमें अनेक बौद्ध-बाह्य भारतीय दर्शनोंकी खूब आलोचना की गई है।

इनके अतिरिक्त अभिधर्म-समुच्चय, महायानोत्तर-तन्त्र मध्यमकविभंग-भाष्य (वसुबन्धु) आदि ग्रन्थोंके भी खंडित अंश मिले हैं। कनिष्कके समकालीन कवि मातृचेटके अध्यर्द्ध-शतककी भी एक पूरी प्रति मिली है जिसमें बुद्ध और उनके सिद्धान्तोंका स्तुतिरूपमें वर्णन किया गया है। यह चीनी परिव्राजकोंके भारत आनेके समय नालंदा आदि विद्यापीठोंमें बहुत प्रचलित था।

तीसरी बार मैंने प्रायः ४० हज़ार श्लोकों (१ श्लोक=३२ अक्षर) के बराबर ग्रन्थोंको लिखा तथा १ लाख ६० हजार श्लोकोंके बराबर फोटो लिये। फोटोकी सामग्रीकी कमीसे सभी आवश्यक ग्रन्थोंका फोटो नहीं लिया जा सका। फिर भी जो दो लाख श्लोकोंकी सामग्री मैं अपने साथ लाया हूँ वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और जिसके सुचारु रूपसे सम्पादन करनेमें दर्जनों विद्वानोंको अगले बारह बरस लगाने होंगे। ग्रन्थोंकी सूचना पाते ही कितने ही भारतीय और भारतसे बाहरके विद्वानोंने पत्रों-द्वारा हर्ष प्रकट किया है और इस काममें सहायता देनेकी इच्छा भी प्रकट की है। इन महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थोंके प्रकाशनके लिये कितनी ही भारतीय और अभारतीय संस्थाएँ

सहर्ष तैयार हो सकती हैं, लेकिन मैं समझता हूँ कि इनमें अधिकांश ग्रन्थोंका प्रकाशन विहारसे ही होना चाहिए, क्योंकि इनके रचयिताओंमें अधिक विहारके नालंदा और विक्रमशिला विद्यालयोंके विद्वान् थे और तालपत्र-ग्रन्थ भी प्रायः सभी विहारमें ही लिखे गये थे।

इन ग्रन्थोंमें हिन्दीके आदि-कवि सिद्ध सरहपाके दोहाकोष तथा कुछ और हिन्दी पद्य हैं। अबतक हिन्दी कविता-कालका आरंभ ग्यारहवीं शताब्दीसे माना जाता था और उसके माननेका भी कोई वैसा प्रमाण नहीं था। ८४ सिद्धोंके कालपर मैं अलग लिख चुका हूँ जो फ़्रांसीसी भाषाकी अति सम्मानित अन्वेषण-पत्रिका जूर्नाल-आसियातिकमें अनूदित होकर छप चुका है, और ग्रियर्सन जैसे भाषा-तत्त्वके विद्वानोंने भी इस कालको स्वीकार कर लिया है। सरहपा ८०० ईस्वीमें मौजूद थे, क्योंकि तिब्बती भाषामें अनूदित ग्रन्थ उन्हें पालवंशी महाराज धर्मपाल (७७०-८२५ ई०)का समसामयिक मानते हैं। मैं चाहता हूँ कि सरहपाके सभी हिन्दी काव्यग्रन्थ मूल हिन्दीमें या तिब्बती अनुवादके रूपमें आधुनिक भाषान्तरके साथ सरह-ग्रन्थावलीके नामसे प्रकाशित किये जायँ जिसमें इस महान् हिन्दी कविके चरित और व्यक्तित्वपर भी प्रकाश डाला जाय।

पिछली यात्रामें ही तिब्बतमें मैंने बोध-गया-मन्दिरके पत्थरके तीन और लकड़ीका एक नमूना देखा था। इनमें पत्थरवाले नमूने गयाके पत्थर-के हैं। शायद बारहवीं शताब्दीसे पहले गयामें ऐसे नमूने बनकर बिका करते थे। तिब्बतके यात्री अपने साथ इन नमूनोंको ले गये थे और आजकल वे नर्थङ् तथा स्-क्याके मठोंमें रखे हुए हैं। उनके देखनेसे मालूम होता है कि बोधगयाके प्रधान मंदिर (जिसके पूरब तरफ तीन दरवाजे थे)के पश्चिम-की ओर बोधिवृक्षके पास भी एक दरवाजा-सा था। उसके आसपास, बहुतसे स्तूप और मंदिर थे और सभी एक चहारदिवारीसे घिरे थे; जिसमें दक्षिण, पूर्व, उत्तरकी ओर तीन विशाल द्वार भिन्न भिन्न आकारके थे। वर्तमान बोधगया मंदिरका, जब पिछली शताब्दीमें जीर्णोद्धार हुआ तो

उसके कितने ही भाग गिर गये थे और जीर्णोद्धारकोंके सामने पुराने मंदिर-का कोई नमूना नहीं था, इसीलिये तिब्बतमें प्राप्य नमूनेसे वर्तमान मंदिरमें कहीं कहीं विभिन्नता पाई जाती है।

तिब्बतके कुछ विहारोंमें कितने ही भारतीय चित्रपट भी मिलते हैं, जिनका अजन्ताकी कलासे सीधा सम्बन्ध है। इन चित्रोंके फोटो लेनेकी मेरी बड़ी इच्छा थी, लेकिन उनके फोटोके लिए खास प्लेटकी ज़रूरत थी जो मेरे पास मौजूद न थे।

सा-स्क्य मठके ग्य-ल्ह-खङमें छोटी छोटी कई सौ पीतलकी मूर्तियाँ हैं जिनमें सौ से अधिक भारतसे गई हुई हैं। इनके बननेका समय ५वींसे १२वीं शताब्दी तक हो सकता है। इनमें ढाई दर्जनसे अधिक मूर्तियाँ तो कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त सुन्दर हैं। कुछ मूर्तियोंपर लेख भी हैं! मैंने कितनी ही मूर्तियोंका इस बार फोटो लिया है।

पहली यात्राओंकी अपेक्षा मेरी इस वारकी यात्रा ग्यांची, टशीलुम्पो, सा-स्क्या इस छोटेसे त्रिकोण—जिसकी प्रत्येक भुजा ६०-६५ मीलसे अधिक नहीं होती—तक ही परिसीमित रही है। यह त्रिकोण वस्तुतः भारतसे सम्बन्ध रखनेवाली साहित्य और कलाकी अनमोल सामग्रियोंका अच्छा संग्रह रखता है। मैं कमसे कम एक बार और मध्य-तिब्बतकी यात्रा करना चाहता हूँ और अच्छी तैयारीके साथ, जिसमें कि तिब्बतके जिन जिन भागोंमें भारतीय वस्तुओंके होनेकी संभावना पाई जाती है वहाँ वहाँ जाकर सभी चीजोंकी प्रतिलिपि या फोटो लिया जा सके।

---

(१५)

सारन (बिहार)

बिस्तार और सीमा

'सारन' विहारकी तिर्हुत कमिश्नरीका एक जिला है। इसका क्षेत्र-फल २६७४ वर्गमील है। यह गोरखपुर, वलिया, आरा, पटना, मुजफ्फर-पुर और चम्पारन जिलेसे घिरा हुआ है। इसकी उत्तरी और पूर्वी सीमा, गंडक, पश्चिमी सीमा घाघरा (सरयू) और दक्षिणी सीमा गंगा है।

इतिहास

प्राचीन समयमें कुछ दक्षिणपूर्वी भागके अतिरिक्त, सभी सारन जिला प्राचीन मल्ल देशमें था, जिन मल्लोंकी एक शाखाके गणतंत्रकी राजधानी 'कुसीनारा' (वर्तमान कसया, जि० गोरखपुर) थी। बुद्धके समय-में 'गंडक'का नाम "मही" पाली-ग्रन्थोंमें मिलता है; और उसीको मध्यदेशकी यमुना, गंगा, सरयू, अचिरवती (राप्ती) और 'मही' में से एक कहा गया है। आज भी महरोड़ा फैक्टरीसे होकर बहनेवाली नदीका निचला भाग 'मही'के नामसे ही प्रसिद्ध है। यह 'मही' शीतलपुर स्टेशनके पास आकर पूरब तरफ घूम जाती है और सोनपुरमें हरिहरनाथ महादेवके पास जाकर गंडकसे मिल जाती है। बुद्धके समय गंडक इसी धारासे बहा करती थी और शीतलपुर या दिघवाराके पास कहींपर गंगासे मिलती थी। उस समय 'मही'के पूर्वका भाग—जिसमें आजकल दिघवारा, मिर्जा-पुर, परसा और सोनपुरके थाने हैं—गंडक-पारके देशसे मिला था। यह भाग

इस प्रकार वैशालीके शक्तिशाली प्रजातंत्रके अधीन था। आज भी इस भाग-की भाषा सारनके और भागोंकी भाषासे कुछ भेद रखती है, और मुजफ्फर-पुर जिलेके गंडकके किनारेवाले भागकी भाषासे मेल रखती है। उदाहरणार्थ जहाँ सारनके और भागोंमें "न" (नहीं) कहते हैं, वहाँ, यहाँके लोग "नँ" (नहीं) कहते हैं। वस्तुतः यह बोली आसपासकी भोजपुरी, मगही और मैथिली बोलियोंसे भिन्नता रखती है। यह भाग, जो पहले वैशालीके लिच्छवी क्षत्रियोंके वज्जी-गणतंत्र (पंचायती राज्य) में था, गंडककी धाराके बदल जानेसे 'सारन' में चला आया। आज भी "मही" के पूर्वकी भूमि अधिकतर "बलुवा" (बालुका-मिश्रित) है, और साथ ही हरदिया आदिके 'चौंर' (झील) भी इसी भागमें पड़ते हैं, जो बतला रहे हैं कि, किसी समय गंडककी धार इन्हीं जगहोंसे बहती थी। लोग भी कहते हैं कि, यह सारी भूमि गंडककी चाली हुई है।

इस प्रकार वर्तमान 'सारन' जिला प्राचीन मल्ल और वज्जी देशोंके भागसे बना है। उक्त दोनों ही देश स्वतन्त्रताप्रिय और प्रजातंत्रवादी थे। कौन कह सकता है कि, आज सारन-वासियोंमें जो निर्भीकता, जो स्वातंत्र्य-प्रियता जो उद्योगिता, जो साहसिकता पाई जाती है; उसको उन्होंने अपने सहस्रों वर्ष पूर्वके पूर्वजोंसे बरासतमें नहीं पाया है? गण-तंत्र जब आगे जाकर मगध-साम्राज्यमें मिल गये, उसी समय सारनका भी मगध-साम्राज्यमें मिल जाना संभव है। मौर्योंके समयकी यद्यपि कोई चीज़ सारनमें नहीं मिली है, तोभी इससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं होगा कि, उस समयकी कोई सामग्री यहाँ है ही नहीं। बात यह है कि, सारनमें चिराँद, माझी, घूरापाली, दोन, सिवान, कल्याणपुर, बढ़या, दिघवा-दुबौली, अमनौर, सारन, पपउर, सोनपुर आदि कितने ही स्थान प्राचीन ध्वंसाव-शेषोंसे पूर्ण हैं; लेकिन आजतक उनकी खुदाई की ही नहीं गई। सोनपुरमें, गंडकके किनारे कालीजीके मंदिरके पीछेवाली ठाकुरवाड़ीके आँगनमें, तुलसी-चौतरेसे जड़ा हुआ, शुङ्गकालीन (ईसा-पूर्व दूसरी सदीका) एक

स्तम्भ है। यह स्तम्भ उस समयके और स्तम्भोंकी तरह चुनारके पत्थरका वना हुआ है। यह वुद्ध-गयामें प्राप्त कठघरे (Railing) के खम्भे जैसा है। इसके अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे पत्थर उसी जगह निकले हैं, यद्यपि उनका समय नहीं कहा जा सकता। उक्त स्थानसे उत्तर तरफ मध्य-कालीन कुछ मूर्तियाँ भी मिलती हैं। दिघवा-दुवौलीमें एक ताम्रपत्र भी मिला है, जिसमें कन्नौजके गुर्जर-प्रतिहार-वंशीय राजा महेन्द्रपालने 'सावर्ण-गोत्री भट्ट पद्मसर'को एक गाँव दान किया था। उससे यह भी मालूम होता है कि, उस समय ताम्रपत्रमें दिया गया गाँव श्रावस्ती-मण्डलके 'ख़ालसिका' विषय (जिला) में था। आज भी वह ताम्रपत्र दिघवाँके पाँड़े लोगोंके घरमें है। मालूम होता है कि, सातवीं-आठवीं शताब्दीमें 'सारन' कन्नौज-के अधीन था, इसलिये कन्नौज-राज्यके भीतर वसनेवाले अन्य ब्राह्मणोंकी तरह सारन जिलेके ब्राह्मण भी कनौजिया कहे जाते हैं। सरयू-पारके होनेसे इन्हें 'सरयूपारी' या 'सरवरिया' भी कहते हैं। ब्राह्मणोंके अतिरिक्त हजाम, कोइरी, अहीर आदि जातियोंमें भी कनौजिया काफी मिलते हैं। यही नहीं कि गुर्जर-प्रतिहारोंसे पहले, जिस समय (७ वीं शताब्दीमें) कन्नौजके सिंहासनपर सम्राट् हर्षवर्द्धन विराजमान थे—उस समय, यह जिला कान्य-कुब्ज-साम्राज्यके अन्तर्गत था; वल्कि उनके स्वजातीय वैस-क्षत्रियोंने, मालूम होता है, इस जिलेके 'इकमा' थानेके 'घूरापाली' गाँवमें एक गढ़ भी वनवाया था। आज भी वैसोंका वह गढ़ सड़कसे थोड़ा दक्षिण हटकर 'दिजोर'के नामसे प्रसिद्ध है। समयान्तरमें जव वैसोंकी शक्ति क्षीण हो गई, तव वे लोग अपने गढ़को छोड़कर और स्थानोंमें—अतरसन, कोठियाँ-नराँव आदि—चले गये। उनके वंशधर आज भी इन जगहोंमें मौजूद हैं। अतरसन और कोठियाँ-नराँवके वैस-क्षत्रिय आज भी 'दिजोर'की सती-माईको पूजने जाते हैं। आज भी उन्हें अपनी प्राचीन स्मृतिका एक धुँधला सा ख्याल है। मालूम होता है, गढ़ छोड़नेका कारग 'लाकठ' (राष्ट्रकूट या राठौर या गहरवार) हुए थे। संभवतः जव कन्नौजमें गहरवारोंका राज्य हुआ,

तब उसी समय उनके स्वजातीय 'लाकठ' लोग इधर आये। उन्होंने बैस क्षत्रियोंकी प्रभुताको हटाकर अपना सिक्का जमाया। आज भी 'दिजोर'के आसपासके गाँव 'लाकठोंके हैं। अतरसनमें भी, बैस-क्षत्रियोंकी स्थिति बहुत खराब नहीं हुई थी। जान पड़ता है, तुर्कोंके आनेके समय अतरसन में एक अच्छा विष्णु-मन्दिर था; जिसकी काले पत्थरोंकी विष्णुमूर्ति आज भी उपलब्ध होकर एक शिवालयमें रखी हुई है। वहींपर विशाल गणेश की मूर्तिके खण्ड भी मिले हैं। साथ ही एक छोटी-सी बोधि-सत्वकी प्रतिमा यह बतला रही है कि, कभी यहाँ बौद्ध भी थे। जान पड़ता है तुर्कोंने यहाँके मन्दिरोंको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। पीछे कितने ही दिनोंतक कितने ही तुर्क यहाँ रहते भी थे, जिनकी तकिया और कब्रोंकी हड्डियाँ आज भी उपलब्ध होती हैं।

'माँझी'में भी पालोंके समयकी बुद्ध-मूर्ति मिलती है। 'चिराँद'में किसी एक बौद्ध विहार या स्तूपके ऊपर बङ्गालके शाहोंकी बनवायी मस्जिद है। 'दोन'में एक पुराने स्तूपका ध्वंसावशेष मिला है। और जगहोंमें यद्यपि उतना अन्वेषण नहीं हुआ है, तो भी बड़ी-बड़ी ईंटें, पुराने कुएँ आदि मिलते हैं। मालूम पड़ता है, तुर्कोंके हाथमें कन्नौजके चले जानेपर भी जयचन्दके पुत्र हरिश्चन्द्रका इस जिलेपर अधिकार था। हरिश्चन्द्रके बाद (१३ वीं शताब्दी में) यह जिला दिल्लीके अधीन हो गया। मुसलमानी समयमें जिलेका प्रधान स्थान 'सारन' था, जो आज भी एक बड़े लम्बे-चौड़े 'डीह' (ऊँचे स्थान)पर एक छोटा-सा गाँव है। मुसलमानी कालमें इस जिलेका नाम 'सरकार सारन' था। १३ वीं शताब्दीसे १८ वीं शताब्दीतक यह जिला यद्यपि मुसलमानोंके हाथमें रहा, तो भी सारनके उत्तरी भागका परगना 'कुआड़ी' और उसके आसपासके कुछ हिस्से प्रतापी बगौछियोंके हाथमें था। इस वंशके लोग पहले कल्याणपुरमें राज्य करते थे, पीछे राजधानी 'हुस्सेपुर' हुई। जब अँगरेज़ोंके आनेपर (१७६५ ई० में) वीरश्रेष्ठ महाराज फतेह साहीने अँगरेज़ोंकी तावेदारी स्वीकार न की,

तव कम्पनीसे वहुत संघर्ष हुआ। इस संघर्षमें महाराजको हुसेपुर छोड़कर 'तमकुही'के जंगलोंमें चला जाना पड़ा। सारनके इस 'प्रताप' (फतेह-साही)ने महाराणा प्रतापकी तरह न जाने कितने कष्ट सहे, लेकिन तो भी जीवन-भर उन्होंने दासता स्वीकार नहीं की। अँगरेजोंने १७९१ ई० में उनका राज्य भाईके पोते छत्रधारी साहीको दे दिया। उस समयसे राजधानी 'हथुआ' हो गई।

उक्त वगौछिया-वंश 'व्याघ्रपद-गोत्र'से वना है। मल्लोंकी ९ शाखाओंमें कोली भी एक शाखा थी, जिसके वंशमें सिद्धार्थ गौतमकी शादी हुई थी। ये कोली लोग व्याघ्रपद-गोत्रके थे, और मल्लोंकी शाखा होनेके कारण अन्य मल्लोंकी तरह इनके नामके साथ भी 'मल्ल' लगना स्वाभाविक था। 'हथुआ' के राजाओंकी, पचासों पुरानी पीढ़ियों तक, कल्याणमल्ल आदिकी तरह, 'मल्ल' उपाधि होती थी। वस्तुतः 'पड़रौना'के राजा साहव (जो आज-कल सैंथवार कहे जाते हैं) और हथुआ तथा तमकुहीके वगौछिया (जो आज-कल भूमिहार-ब्राह्मण कहे जाते हैं) एवं मझौलीके राजा साहव (जो आज-कल विसेन-राजपूत कहे जाते हैं) एक ही मल्ल-क्षत्रियोंके वंशधर हैं। कालान्तरमें, भिन्न-भिन्न जातियोंसे विवाह-सम्वन्ध, प्रभुता-हानि, राज्य-क्रान्ति आदि कारणोंसे, इन्हें तीन जातियों में वँट जाना पड़ा। मझौलीके राजवंशमें भी राजाओंके नाम 'मल्ल' ही पर होते हैं। सैंथवारोंमें तो गरीव-से-गरीव सैंथवार मल्ल ही के नामसे पुकारा जाता है। आज भी यह जाति मल्ल-देशके केन्द्रमें वसती है।

सारनमें 'अमनोर'के वावू साहव एक प्रतिष्ठित राजपूत-वंशके हैं। यह वंश गहरवारों या राठौरोंकी एक शाखा से है और यहाँ 'कर्मवार'के नामसे प्रसिद्ध हैं। कर्मवारोंके पहले अमनौर चौहानोंका था। अव भी आसपासके कितने ही गाँवोंमें चौहानोंकी काफी संख्या है। तुर्कोंके आनेसे पहले भी यह स्थान अवश्य कुछ महत्त्व रखता था। आज भी अमनौरमें, "रहता वावा"के नामसे प्रसिद्ध, विशाल विष्णुमूर्तिके सिंहासन वाला काले पत्थर-

का भाग मौजूद है, जिससे मालूम होता है कि, किसी समय यहाँ एक विशाल विष्णु-मन्दिर था। पुराने गढ़का निशान अभी मौजूद है। यह मन्दिर संभवतः १३ वीं शताब्दीमें तोड़ दिया गया होगा। तो भी बहादुर चौहान अपने अधिकारको छोड़नेके लिये तैयार न थे। दिल्लीको यहाँसे कौड़ी मिलनी मुश्किल थी। जान पड़ता है, इसीलिये बादशाहने 'मकेर' परगना (जिसमें 'अमनौर' है) एक मुसलमानी फकीरको माफी दे दिया। उक्त फकीरके साथ, दखल करनेके लिये, कर्मवार-क्षत्रिय अमनौर पहुँचे। कहते हैं, फकीरने अपने लिये सिर्फ 'मकेर' गाँव रखा और बाकी कर्मवारोंको दे दिया। इसी वंशके दो भाइयोंमेंसे एक भाई किसी कारण मुसलमान हो गया, जिसके वंशधर आज-कल मुजफ्फरपुर जिलेके परसौनीके राजा साहब हैं और दूसरेके वंशधर अमनौर के बाबू साहब हैं। एक बार अमनौरकी सभी सम्पत्ति नष्ट हो चुकी थी, पीछे यहाँके कोई पुरुष पेशवाके दरबारमें गये और वहाँ उन्होंने अपनी बहादुरीसे बड़ा सम्मान पाया। मराठा-साम्राज्यके नष्ट होनेपर उक्त पुरुष बहुत सम्पत्तिके साथ अमनौर आये और उन्होंने फिर बहुत-सी जमीन्दारी खरीदी।

इनके अतिरिक्त किसी समय इस जिलेके अधिकांशके अधिपति 'एकसरिया भूमिहार' थे। यद्यपि इनकी अवस्था अब पहलेकी-सी नहीं है, तो भी चैनपुर और बगौराके बाबू लोगोंके पास काफी जमीन्दारी है। मुसलमानोंमें 'खोजवाँ'के नवाबखान्दानकी बड़ी प्रतिष्ठा है। ये लोग शिया मुसलमान हैं, इसीलिये हिन्दुओंसे इनका सम्बन्ध हमेशा ही अच्छा रहा है।

सन् १७६५ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनीको बिहार और बंगालकी दीवानी मिली। उसी समय सारन जिला भी अँगरेज़ोंके हाथ आया। पहले 'सारन' और 'चम्पारन' एक ही जिलेमें सम्मिलित थे। १८३७ ई० में 'चम्पारन' एक स्वतंत्र जिला मान लिया गया, लेकिन दोनोंकी माल-गुजारी अलग न की गई। १८६६ में यह कर-विभाग भी अलग कर दिया

गया। जिस समय सारन और चम्पारनका एक जिला था, उस समय 'परसा' (थाना परसा) में दीवानी कचहरी थी और उसकी वड़ी श्रीवृद्धि भी थी। १८४८ ई० में 'सिवान' और १८७५ ई० में 'गोपालगंज' नामके दो सब-डिवीजन कायम हुए, जिसके कारण वहाँ कचहरियाँ भी चली गईं और इस प्रकार सिवान और गोपालगंजकी तरक्की होने लगी।

नदियाँ, उपज और व्यापार

सारन जिलेमें यद्यपि धानकी खेती काफी होती है, तो भी कितने ही भाग रब्बी और खरीफके लिये ही उपयोगी हैं। किसी समय इस जिलेमें नीलकी वहुत-सी कोठियाँ थीं, लेकिन नीलके उठने के साथ-साथ अब वे भी खतम हो गईं। इस जिलेमें ईख भी अच्छी होती है। महरौड़ा, पँचरुखी, महाराजगंज, सिवान सिधवलिया, शीतलपुरके चीनीके कारखानोंके कारण ईखकी खेतीमें और भी तरक्की हुई है। यद्यपि सिंचाईका समुचित प्रवन्ध नहीं है, तोभी कईएक इलाकोंकी ईख इन कारखानोंके द्वारा खतम नहीं होने पाती। 'कुचायकोट'के दीयरकी कुछ ईख तो सदा जला देनी पड़ती है। आज भी इस जिलेमें आधे दर्जन वड़े-वड़े चीनीके कारखानोंकी गुञ्जायश है। मसरखथावे-लाइन (वी० एन० डवल्यू० रेलवे) के खुल जानेसे ईख वोने वालोंको और भी आसानी हो गयी है।

महाराजगंज और मीरगंजकी मण्डियोंमें कपासकी काफी आमदनी होती है। यद्यपि कपासकी खेतीके लिये उत्साह और उत्तेजना देने का प्रवन्ध नहीं है, तो भी कपास वोई जाती है और कपास वोने योग्य भूमि भी वहुत है। किसी समय जव इन दोनों जगहोंमें कपड़ेके कारखाने खुल जायेंगे, तव इसमें शक नहीं कि, कपासकी खेतीमें भी वैसी ही उन्नति होगी, जैसी चीनीके कारखानोंसे ईखकी खेतीमें। भाठ जमीनमें रेंड़ीकी भी खूब खेती होती है। इनके अतिरिक्त जौ, गेहूँ, सरसों, मटर,

चना, मकई आदिकी पैदावार भी होती है। 'कुआड़ी' परगनेकी तरफ कोदो और अन्य स्थानोंपर मँडुएकी भी खेती होती है। जिलेके गरीब किसान अधिकतर मँडुआ, मकई, कोदो और शकरकंद तथा सुथनीपर ही गुजर करते हैं।

यहाँकी आवादी वहुत ही घनी है। जोतने लायक भूमि सभी जोती जा चुकी हैं। पशुओंके चरनेके लिये बहुत कम जगह वाकी है। खेतके जोतने-वोनेमें जितना परिश्रम यहाँके किसान करते हैं, उतना विहारके किसी जिलेके नहीं। एक तरहसे, प्राचीन ढँगके अनुसार खेतीकी जितनी उन्नति की जा सकती है, उतनी यहाँ हो चुकी है। इसमें और अधिक उन्नति करनेके लिये वैज्ञानिक रीतिका अवलम्वन करना होगा, जिसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई यह है कि, खेत वहुत छोटे-छोटे टुकड़ोंमें वँट गये हैं और कई जगह विखरे हुए हैं। दूसरी कठिनाई यह है कि, सिंचाईका ठीक प्रबंध न होनेके कारण लोगोंको अधिकतर दैवपर भरोसा रखना पड़ता है। तीसरी वात यह कि, और जगहोंकी तरह यहाँके किसानोंका भी सहयोग-समितियों, सरकारी वैज्ञानिक खेतों और कीमती कलोंपर विश्वास नही है; क्योंकि ये चीजें ऐसे लोगों और महकमों द्वारा उनके सामने पेश की जाती हैं कि, वे उन्हें अपने वस और नफेकी वात नहीं समझते। इन कठिनाइयोंके हट जानेपर इसमें शक नहीं कि, यह जिला सबसे पहले नवीन ढँगकी खेतीको अपनायेगा। क्योंकि घनी आवादी और अधिक जनसंख्याके कारण इस जिलेमें जीवन-संघर्ष अधिक है। यहाँके निवासी वहुत पहलेहीसे आमदनीके हर-एक रास्तेको स्वीकार करनेके लिये तैयार हैं। यहाँके स्वतंत्र-व्यवसाय-प्रेमी निवासी, किसान, दूकानदार, हजाम, मजदूर, दरवान आदि केवल विहारहीके हर एक जिलेमें नहीं, वल्कि दार्जिलिङ्ग, कलकत्ता, रंगून, पूर्व वंगाल, आसाम, वर्मा और सिंगापुर तक फैले हुए हैं। यहाँ तक कि, समुद्र-पार मोरिशस, दक्षिणी अफ्रीका, फीजी, ट्रिनीडाड, गायना आदिमें भी हजारोंकी संख्यामें जाकर वस गये हैं। अपनी भाषा, भेष और व्यक्ति-

स्वका जितना खयाल सारन-निवासियोंको है, उतना शायद ही किसी और जिलेके निवासियोंको होगा। यहाँके उच्चशिक्षित जन भी घर या विदेशमें—कहीं भी—मिलनेपर, अपनीही बोली (भोजपुरी भाषा)का प्रयोग करते हैं। चाहे यहाँके हिन्दू और मुसलमान घरमें लड़ते भी हों, तो भी विदेशों-में जानेपर अक्सर देखा जाता है कि, वे मजहबसे भी अधिक अपने जिलेको मानते हैं।

गंगा, सरयू, गंडक—इन तीन बड़ी नदियोंके अतिरिक्त झरही, दाहा आदि कितनीही नदियाँ इस जिलेमें हैं, जो अधिकतर किसी झीलसे निकली हैं अथवा जो गंडक, घाघरा (सरयू) या गंगासे निकलनेवाले सोते (स्रोत) हैं। गंडककी धारा अनिश्चित है, इसी कारण सारे जिलेमें उसके लिये एक मज-बूत बाँध बाँधा गया है। यद्यपि इस बाँधके कारण आसपासकी बस्तियाँ बाढ़से सुरक्षित हैं, तो भी बाढ़की उपजाऊ मिट्टी न मिलनेके कारण आसपासके खेतोंकी उर्वरा-शक्ति बहुत ही क्षीण हो गई है। यह अन्तर फसलके वक्त गंडकके बाँधपर खड़ा होकर दोनों ओर देखनेसे स्पष्ट मालूम होता है। जहाँ बाँधके भीतर बिना खाद, सिंचाई और काफी जुताईके ही फसल उपजकर गिर जाती है; वहाँ बाँधसे बाहर पीले-पीले पौधे एकदम मुर्झाये हुए दीख पड़ते हैं। गंडककी धार बहुत ऊँचेसे बहती है, इसीलिये अल्प परिश्रमसे नहरें निकाली जा सकती हैं। पहले 'सारन-कैनाल' (Saran Canal)की नहरें काम भी कर रही थीं; लेकिन कितने ही वर्षोंसे सरकारने उन्हें बन्द कर दिया है। इसी तरह कुछ झीलों (चौरों)से पानीका निकास न होनेके कारण फसलका नुकसान होता है। उदाहरणार्थ हरदियाका चौर है। लेकिन अभी तक सरकारको उधर ध्यान देनेकी फुरसत ही नहीं है। छपरा मुफस्सिल थानेके कितने ही स्थानोंको सरयू और गंगाका पानी नहरों द्वारा मिलता था; किन्तु न अब जमीन्दारोंको उसकी परवाह है न सरकारको!

छपरा, सिवान, महाराजगंज और मीरगंज इस जिलेमें व्यापारके केन्द्र

हैं। इसके अलावा मसरख, मैरवाँ, थावे, बरौली आदिमें भी अच्छे बाजार हैं। सिवानमें मिट्टी और काँसेके बरतन अच्छे बनते हैं। परसा (थाना इकमा)में भी काँसेके बरतनोंकी अच्छी ढलाई होती है। चिराँद और दिघवारेके आसपास पानकी उपज अच्छी होती है। इस जिलेमें "परवल"की पैदावार भी खूब होती है।

जाति और सम्प्रदाय

इस जिलेमें सत्तासी फ़ीसदी से अधिक संख्या हिन्दुओंकी है, बाकी मुसलमान हैं। ईसाई या दूसरे मजहबवाले नाम-मात्रके हैं। 'मुसलमान' सिवान और बड़हरिया थानेमें अधिक हैं, जिनमें जुलाहा, धुनिया आदिकी संख्या ज्यादा है। कितने ही राजपूत और भूमिहार 'मुसलमान' होकर अब पठान कहे जाते हैं! कितने ही बढ़ई, माली और तेली भी मुसलमान पाये जाते हैं। इसी प्रकार 'कुआड़ी' में कितने ही हिन्दू दर्जी भी हैं। हजाम और धोबी दोनों मजहबके पाये जाते हैं। शिया मुसलमानोंकी संख्या बहुत कम है, तो भी वे अधिक शिक्षित, सभ्य और धन-सम्पन्न हैं। अधिक संख्या यहाँ अहीरोंकी है। परसा और मिर्जापुरके थानेमें; सरयू, हैं। हिन्दुओंमें गंगा और गंडकके दीयरों और कछारोंमें, गोचर-भूमिकी अधिकताके कारण, इन (अहीरों)की संख्या अधिक मिलती है। यह बड़ी मेहनती और बहादुर जाति है; लेकिन गाय-भैंसोंके पालनेकी पहले-जैसी सुविधा न होनेके कारण इनकी आर्थिक अवस्था बहुत गिरी हुई है। इस जिलेके लोगोंको पशु-रक्षासे बड़ा प्रेम है और वे अपने बैलोंको खिला-पिलाकर जगह-जगह लगनेवाली हाटोंमें बेंचते रहते हैं।

अहीरोंके बाद इस जिलेमें राजपूत, ब्राह्मण और भूमिहार ही संख्यामें अधिक हैं, जिनमें स्वावलम्बी एवं स्वाभिमानी भूमिहार-ब्राह्मण आर्थिक दृष्टिसे सबसे अच्छे हैं। शिक्षामें कायस्थोंके बाद इन्हींका नम्बर है। इनके अतिरिक्त चमार, दुसाध आदि जातियाँ भी हैं। कोइरी ऐसे तो जिले

भरमें फैले हुए हैं; लेकिन 'कुआड़ी'में उनकी संख्या अधिक है। जैसवार-कुर्मीके अतिरिक्त अवधिया लोग मिर्जापुर तथा परसा थानेमें अधिक मिलते हैं। राजपूतों और भूमिहारोंमें कितनी ही एक ही गोत्र और एक ही मूलकी उपजातियाँ हैं। जैसे टेटिहा राजपूत और टेटिहा भूमिहार दोनों ही के गोत्र काश्यप हैं। जान पड़ता है ये जातियाँ एक ही वंशकी दो शाखाएँ हैं, जो कालान्तरमें दो—ब्राह्मण और क्षत्रिय—वर्णोंमें विभक्त हो गईं। इसी प्रकार कितने ही भूमिहार 'ब्राह्मण' और कितने ही ब्राह्मण 'भूमिहार'के रूपमें परिणत हो गये। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हिन्दुओंमें शैव, वैष्णव, कबीरपन्थी, शिवनारायणी, आर्य-समाजी आदि कितने ही मतके आदमी मिलते हैं।

मेले

गाय, बैल, हाथी घोड़ा, सभीके क्रय-विक्रयके लिये 'सोनपुर' (हरिहर-क्षेत्र) का मेला सारे हिन्दुस्तानमें प्रसिद्ध है। सोनपुरमें, कार्तिकी पूर्णिमाको, १५ दिनोंके लिये, एक खासा शहर बस जाता है, जिसमें हिन्दुस्तान भरके सौदागर हर तरहकी चीजें बेचनेको लाते हैं। उस वक्त तो कई हजार हाथी ही बिकनेको आते हैं। मेलेमें अब पानीके कलका भी प्रबन्ध हो गया है और आशा की जाती है कि, कुछ दिनोंमें बिजलीकी रोशनी और स्वास्थ्यरक्षा तथा सफाईका भी पूरा प्रबन्ध हो जायगा। १८५७ के सिपाही-विद्रोहके समय भी यह मेला लगता था, तो भी वृद्धोंका कहना है कि, पचास-साठ वर्ष पहले यह मेला इतना बड़ा न था। मुसलमानी शासनके अन्तिम दिनों या कम्पनीके आरम्भिक दिनोंमें इस मेलेका आरम्भ हुआ जान पड़ता है। हाँ, हरिहरनाथकी पूजाका छोटामोटा मेला पहलेका भी हो सकता है। सोनपुरके अतिरिक्त चैत्र-रामनवमीको लगनेवाला 'डुमरसन' का घोड़ा-बैल-का मेला भी प्रसिद्ध है। बरईपट्टी, छितौली आदिमें भी घोड़ा-बैलके मेले लगते हैं। ऐसे तो हाटकी तरह सप्ताहमें बैल-हट्टा पचासों जगहोंमें लगा

करता है। देवताओं और स्नान-सम्बन्धी मेलोंमें सेमरिया, आमी, सिल्हौरी, ढोंढ़नाथ, मेंहदार, थावे और भैरवाँके भी मेले उल्लेखनीय हैं।

साहित्य और शिक्षा प्रचार

यहाँके पुराने समयके साहित्यिकोंका कोई पता नहीं मिलता। मल्ल और वज्जी दोनों ही देशोंमें अब्राह्मण धर्मोंकी ही प्रधानता थी। जरूर उस समय यहाँके लोगोंमें कवि और विचारक पैदा हुए होंगे; लेकिन मालूम होता है कि, पीछे ब्राह्मणोंकी प्रधानता और बौद्धधर्मके लुप्त हो जानेके कारण उनके नाम और उनकी कृतियाँ, दोनों ही लुप्त हो गये। मुसलमानी जमानेमें, शाहजहाँके समय, माझीमें धरणीदास नामक एक सन्त और कवि हुए थे, जिनके 'ज्ञानप्रकाश' और 'प्रेमप्रकाश' नामक दो ग्रन्थ अब भी मौजूद हैं। माँझीके मुसलमान-राजपूत बाबू लोग कविताके बड़े ही प्रेमी थे। जमीन्दार भी उस वक्त साहित्यकी ओर रुचि रखते थे। कबीर-पन्थियोंका अत्यन्त पुराना मठ 'धनौती'में आज भी विद्यमान है। कवि धरणीदास (१७ वीं शताब्दी)के बादके साहित्यिकोंके नाम भी आज-कल मिलने मुश्किल हैं। १९ वीं शताब्दीके मध्यमें गयासपुर (थाना 'सिसवन')के 'सखावत' ने वीर कुँवरसिंहका "कुँवर-पचासा" बनाया था, जो अभी तक अप्रकाशित है और जिसका एक पद्य इस तरह है—

"बारह सौ एकसंट्ठमें, ग्रीषम रितु जेठ मास।
बाबू कूँअर सिंह नें, किय गोरनको नास॥"

सखावतने रावण-मन्दोदरी-संवाद भी लिखा था। उनकी कविताएँ अब भी कुछ लोगोंको कण्ठस्थ हैं; लेकिन पाठ बहुत अशुद्ध हो गये हैं। उनके बाद १९ वीं शताब्दीके अन्तमें माँझा के स्वामी बाबू श्रीधर साही तथा पटेढ़ीके बाबू नगनारायण सिंह भी अच्छे साहित्य-प्रेमी तथा स्वयं कवि थे। उक्त श्रीधर कविकी एक कविता इस प्रकार है—

"एरी रसना तू रसवाली चाहवे तो,
रसका पियाला मैं पिलाऊँ तोहि रहु-रहु।
यही लोभ लिये मैं तो मेवाजात काबुलको,
मोल ले खिलाऊँ औ खिलाऊँ जौन चहु-चहु।
पालि-पालि श्रीधर रिष्ट-पुष्ट कीन्हों तोहि,
पावन हुआ चाहु तो ऐसो लाह लहु-लहु।
रैन-दिन जामहूँमें घरी-छन कामहूँमें,
राधाकृष्ण राधाकृष्ण राधाकृष्ण कहु-कहु॥"

पिछली शताब्दी और वर्तमान शताब्दीमें तो इस जिलेने कई लेखक और वक्ता पैदा किये हैं। संस्कृतके दिग्गज विद्वान्, हिन्दीके सुलेखक महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा को पैदा करनेका सौभाग्य इसी जिलेको है। [1]पण्डित गयादत्त त्रिपाठी, पण्डित शिवशरण शर्मा, 'सूर्योदय' सम्पादक पण्डित विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री, पण्डित गोपालप्रसाद शास्त्री आदि कितने ही उच्च-कोटिके संस्कृतज्ञ विद्वान्, वक्ता और लेखक इस जिलेमें वर्तमान हैं। हिन्दी-लेखकोंमें बाबू राजवल्लभ सहाय, बाबू दामोदर सहाय सिंह 'कविकिंकर', बाबू पारसनाथ सिंह बी० ए०, एल०-एल० बी०, पण्डित जीवानन्द शर्मा 'काव्यतीर्थ' ('श्रीकमला' और 'प्रजाबंधु'-के भूतपूर्व सम्पादक), गोस्वामी भैरव गिरि, बाबू विश्वनाथ सहाय ('महावीर'-सम्पादक) आदि भी यहींके हैं। पटनेके अँगरेजी दैनिक 'सर्चलाइट'-के सम्पादक बाबू मुरलीमनोहरप्रसाद वर्मा भी इसी जिलेके हैं।

बिहारमें सबसे ज्यादा शिक्षाका प्रचार इसी जिलेमें है। यहाँ कहीं भी एक मीलसे दूरपर स्कूल नहीं है। इस जिलेमें २० के करीब हाईस्कूल

---

[1]स्वनामधन्य विद्या-प्रेमी स्वर्गीय खुदाबख्श खाँ भी इसी जिलेके निवासी थे, जिनकी जगत्प्रसिद्ध ओरिएण्टल लाइब्रेरी पटनेमें मौजूद है।
—लेखक

और ३५ के करीब मिडल इं० स्कूल हैं। इस जिलेमें प्राय: १० वर्षोंसे मिडिल तक हिन्दी-शिक्षा नि:शुल्क है। जिला-बोर्डोंमें सुधारके साथ ही, सौभाग्यसे, इस जिलेको स्वर्गीय महात्मा मज़हरुलहक साहब-जैसा चेयरमैन मिला। उन्होंने अपना सारा समय जिलेमें शिक्षा प्रचार करनेमें लगा दिया था। उसी समय स्वर्गीय बाबू राधिकाप्रसादजी इस जिलेके स्कूलोंके डिपुटी-इन्सपेक्टर थे। इस सुन्दर जोड़ीके मिल जानेसे इस जिलेने पिछले १० वर्षोंमें शिक्षामें बड़ी उन्नति की। लोगोंमें अंग्रेजी मिडिल स्कूल और हाईस्कूल खोलनेकी तो होड़-सी लग गई। इतनी माध्यमिक शिक्षा-संस्थाओंके खोलनेका उत्साह विहारके और किसी जिलेमें देखा नहीं जाता। स्कूल खुलने नहीं पाता कि, विद्यार्थी भर जाते हैं।

जन-नायक

स्वर्गीय महात्मा मज़हरुलहक साहब, बाबू राजेन्द्रप्रसाद और बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद-जैसे नेताओंकी जन्मभूमि भी यही जिला है। यहाँ ऐसे जन-नायकोंकी काफी संख्या है, जो दूसरे जिलोंमें जाकर आसानीसे सर्व-मान्य नेता बन सकते हैं।

मल्ल (पहलवान)

ग्रियर्सनने भोजपुरी बोलीको बहादुरोंकी बोली बतालाया है, लेकिन 'सारन' केवल भोजपुरी बोली ही नहीं बोलता, बल्कि यहाँके निवासी बड़े सबल-शरीर भी होते हैं। प्राचीन मल्ल देशके सम्बन्धसे ही शायद पहल-वानोंको 'मल्ल' कहते हैं। यहाँके लोग विहारके और जिलोंकी अपेक्षा अधिक मजबूत और मोटे-ताजे होते हैं। यद्यपि कुश्तीका पहले जैसा शौक अब लोगोंमें नहीं देखा जाता, तो भी यहाँकी भूमि कभी-कभी बड़े बड़े पहल-वानोंको पैदा कर देती है। भारत-प्रसिद्ध पहलवान स्वर्गीय बाबू सुचित

सिंह यहींके थे। आज भी, अन्य कई पहलवानोंके अतिरिक्त, बाबू वंशीसिंह नामक बड़े ही प्रसिद्ध पहलवान इसी जिलेके हैं।

शहर और कस्बे

"छपरा"—अँगरेजोंके आने से पहले 'छपरा'का उतना महत्त्व न था, लेकिन कम्पनीके आनेके साथ ही यहाँकी श्रीवृद्धि हुई। अँगरेजों और दूसरी यरोपीय जातियोंने यहाँ अपनी कोठियाँ खोलीं। गंगा और घाघराके पास होनेके कारण यहाँ मालसे भरी नावों के आने-जानेकी आसानी भी थी। पीछे अनेक व्यवसायी आकर बसने लगे। सारन-जिलेका मुख्य केन्द्र-नगर हो जानेपर तो इसके लिये और भी तरक्की-का रास्ता खुल गया। आज-कल इस शहरकी आबादी आधे लाखके करीब है। यहाँ सरकारी कचहरियोंके अतिरिक्त चार हाईस्कूल, आदमी और जानवरोंके अस्पताल हैं। यहाँसे एक रेल-पथ 'सोनपुर' होता हुआ कटिहारकी ओर गया है; दूसरा माँझी होकर बनारसकी ओर; तीसरा सिवान होकर गोरखपुरकी ओर; चौथा मसरख, गोपालगंज और थावे होता हुआ सिवानमें आ मिला है। 'पटना' जानेके लिये 'सोनपुर'से पहलेजा-घाट जाना पड़ता है। इसी प्रकार दुरौंधासे एक लाइन महाराजगंजको और थावेसे एक लाइन कप्तान-गंज और गोरखपुरको गई है। यद्यपि यह नगर सारन जिलेके बीचमें न होकर एक किनारेपर है, तो भी यहाँ चारों ओरकी रेलोंका मिलान होता है। भोजपुरी-भाषा-भाषी प्रदेशके तो यह केन्द्र में अवस्थित है, इसीलिये यहाँकी भोजपुरीका टकसाली होना स्वाभाविक है।

"रिविलगंज"—पहले यहाँ व्यापारकी एक मण्डी थी। गंगा और सरयूका यहीं संगम होता था। किन्तु आज-कल रेलके हो जानेसे इसका वह महत्त्व जाता रहा। यद्यपि यहाँ म्युनिसिपैलिटी है, तो भी कस्बेकी अवस्था दिन-पर-दिन गिरती ही जाती है।

"सिवान"—सारन जिलेके एक सबडिवीजनका यह सदर है। यहाँके मिट्टी और काँसेके बरतन बहुत मशहूर हैं। इसका दूसरा नाम 'अलीगंज' भी है। यहाँ ईखके दो और रुई धुननेका एक कारखाना है। उद्योग-धन्धेकी वृद्धिकी और भी गुंजाइश है। यहाँ दो हाईस्कूल भी हैं।

"हथुआ"—यह इस जिलेके सबसे बड़े जमीन्दार महाराजा-बहादुर हथुआकी राजधानी है। यहाँ भी राजकी तरफसे एक हाईस्कूल है। इधर बहुत वर्षोंसे राजकी तरफसे किसी भी सार्वजनिक कामके लिये कोई उद्योग नहीं हुआ है और न कस्बे ही की उन्नतिके लिये कुछ किया गया है।

---

(१६)

सहोर और विक्रमशिला

आधुनिक कालमें शरच्चन्द्रदास सर्वप्रथम भारतीय हैं, जिन्होंने भोट और भोटिया साहित्यकी खोजमें सर्वप्रथम प्रयत्न किया। उन्होंने भोटमें प्रथम भारतीय प्रचारक 'तत्त्वसंग्रह' कार, महान् दार्शनिक, नालन्दाके आचार्य शान्तरक्षित (अष्टम शताब्दी)को बंगाली लिखा। उन्हींका अनुकरण करते हुए डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्यने तत्त्वसंग्रहकी[1] भूमिकामें सहोरको ढाका जिलेके विक्रमपुर परगनेका साभर ग्राम निश्चय कर डाला; भट्टाचार्य महाशयके इस निश्चयके लिये उन्हें कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उन्होंने भोटिया ग्रंथोंको देखा नहीं। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि अनेक दृढ़ तथा स्पष्ट प्रमाणोंके होते, स्वर्गीय श्री शरच्चन्द्र दास तथा महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण इस निश्चय पर कैसे पहुँचे। इसके दो ही कारण हो सकते हैं, या तो उनके सामने वे सारे प्रमाण वाले ग्रंथ नहीं थे; अथवा उन्होंने भी कितने ही बंगाली विद्वानोंकी भाँति, भारतके सभी मस्तिष्कोंको बंगाली बनानेकी धुनमें ऐसा किया।

जिस स्थान सहोर तथा 'भगल' (भंगल)के कारण यह गलती हुई है, वह आचार्य शान्तरक्षितके अतिरिक्त विक्रमशिलाके आचार्य दीपंकर श्री-ज्ञानकी भी जन्म-भूमि थी। इस स्थानके विषयमें भोटिया ग्रंथोंसे यहाँ कुछ उद्धरण देना चाहता हूँ।

---

[1] तत्त्वसंग्रह—Vol II. p. XIII.—Gaikevad's Oriental Series.

ल्हासाके पास ही छुन्-जे-लिङ-गुम्बा-विहार है। इसके छापाखाना के (ङ) नामक पोथीके पृष्ठ १५२–९२ में दीपंकर श्रीज्ञानकी जीवनी है। उसमें लिखा है:—

(पृ० १५२) "संस्कृत भाषा में दीपंकर श्रीज्ञान भोटकी भाषामें द्पल्-मर्-मे-म्ज़द्-ये-शेस्। अन्य नाम जो-वो (भट्टारक) तथा अतिशा है।....
....जन्म देश है, (१) भारतकी पूर्व दिशा में सहोर। वहाँ (२) भंगल नाम का बड़ा पुर (नगर) है।......जिसके अन्दर राजप्रासाद कांचन-ध्वज (ग्सेर्-ग्यि-र्ग्यल-म्छन्)......था।....। पिता थे राजा कल्याण श्री (द्गे-वई-द्पल्)....। माता श्री प्रभावती (द्पल्-मो-ओद्-ज़ेर्-चन्)...। दोनों को (एक) पुत्र जल-पुरुष-अश्व-वर्ष (छु-फो-र्त-लो= मन्मथ संवत्सर १०३९ विक्रमाब्द, ९८२ सन् ई०) में हुआ।.... (पृष्ठ १५३)......उस प्रासाद (कांचन ध्वज) के (३) नातिदूर (मि-रिङ-व-शिग्-व) विकमल पुरि (? विक्रमशिला) नामक विहार (ग्चुग्-लग्-खङ) है।.....। पाँच सौ रथोंको ले परिवारित राजा.... उस विहार में गये।....(पृ० १५५)......उस प्रासादके नातिदूर एक आवास में जितारि ....रहते हैं, सुना।.....।"

ल्हासा और भोटका सबसे बड़ा विहार डे-पुङ (ऽब्रस्-स्पु ङस्) है। जिसमें सात हजारसे अधिक भिक्षु वास करते हैं। पाँचवें दलाई लामा ब्लो ब्-जङ-र्ग्य-म्छो (सुमति सागर १६१८–८४ ई०) यहीं के एक महन्थ थे, जिनको मंगोलों ने भोट देश सारा जीतकर, गुरु दक्षिणा में दिया। और उन्हींके उत्तराधिकारी और अवतार वर्त्तमान तेरहवें दलाई लामा थुब्-व्स्तन्-र्ग्य-म्छो (मुनि शासन सागर) हैं। इस विहारके छापाखानेके (जौ नामक पोथी में 'गुरु गुण धर्माकर।(ब्ल्-मइ-योन्-तन्-छोस्-क्यि-ऽब्युङ-ग्नस्) नाम वाला दीपंकरका जीवन चरित है। इसमें लिखा है—

(पृ० १) "भारत पूर्व दिशा सहोर देशोत्तममें, भंगल नामक पुर है। इसके स्वामी धर्मराज कल्याण श्री....। प्रासाद कांचन ध्वज। मनुष्यों-

के घर एक लाख ···। धर्मराजकी रानी श्री प्रभावती ··। ··· (६) उस प्रासादके उत्तर दिशामें विक्रमल पुरी (=विक्रमशिला) है। उस विहार में जाकर पूजा करनेको माता पिता ·· पाँच सौ रथोंके साथ ···।"

पीछे पढ़ने तथा भिक्षु बननेके लिए नालन्दा[1] जानेपर (१००२ ई०?) दीपंकरने नालन्दाके राजा (विग्रहपाल द्वितीय ?)को कहा था—(पृ० ७) "····मैं पूर्व दिशा सहोर देशसे आया हूँ। कांचनध्वज प्रासाद से आया हूँ।·····नालन्दाके राजाने कहा—तुम पूर्व दिशा सहोर राजाके कुमार हो।··· (७) तुमने[2] विक्रम पुरमेंही अनन्त देववदन सदृश रत्न-प्रासाद में भिक्षु बननेको मनमें नहीं किया····। ···· (पृ०९) "मैं भंगलके राजाका पुत्र हूँ। कांचनध्वज महलसे आया हूँ। नालन्दा विहार आया। ·····।"

इसी (ज) पोथीके चौथे ग्रंथ "जो-वो-द्पल-ल्दन्-मर्-मे-म्ज़द्-ये-शेस्-किय-र्नम्-थर्-ग्र्यस्-प" (भट्टारक दीपंकर श्री ज्ञानकी वृहत् जीवनी) में आता है।

(पृ० २१) "(८) श्री वज्रासन (बुद्ध गया)की पूर्व दिशामें भंगल महादेश है। उस भंगल देशमें बड़ा नगर है भिक्रपुरी ···। (९) इस (देश)का नामान्तर सहोर है। जिसके भीतर (१०) भिक्रमपुरी नामक नगर है।·····" फिर लिखा है (पृ० २२) "·····पूर्व दिशा देशोत्तम सहोर है। वहाँ भिक्रमलपुरी महानगर है....।"

---

[1] नालन्दा (बड़गाँव) से विहार शरीफ ६ ही मील पर है, जो कि पाल-वंशियों की राजधानी थी।

[2] भोटिया में है—ख्योदं किय कं वि क्र मं नि इं पु रं न। दकोनं चोगं कों ग्र्डंङ ल्हं यि गशत्यं यसं अद्रं। खं तुं व्युङ वं बसमं ग्यिसं मि ह्यवं बशुगस।—

इसी ग्रन्थमें विक्रम शिलाके निर्माणके सम्बन्धमें यह बातें मिलती हैं—(पृ० ३९) "····· संस्कृत भाषामें नाम 'गोपाल' है।····· उसके ···· पुत्र ···· राजा धर्मपाल ··· (पृ० ४०) इस राजाका पुत्र ··· देवपाल नामक हुआ।··· इस राजाने ···· विहार बनवाया ··· नाम विकमल-शील हुआ।······ ।"

तिब्बतसे जो लोग दीपंकरको बुलाने आये थे उनका विक्रम-शिला का मार्ग इस प्रकार था:—

(पृ० ४९) "···· नेपालसे ····· भारत मध्य देशमें पहुँचे। (१०) जानेपर गंगा नदी है। दिन समाप्त होते गंगा नदीके घाटपर पहुँचे। ····· (पृ० ५०) ···· वहाँ गंगा नदीके तटपर (११) एक पहाड़ी (ब्रग्-देउ-शिग्=शिला)के ऊपर विक्रमशिला थी। वहाँ जा उसके पश्चिमके मुसाफिरखानामें जा ····।"

लामा कुन्-म्ख्येन्-पद्-मद्कर्-पो (सर्वज्ञ पुण्डरीक)के छोस्-व्युङ् (धर्मोद्भव)में इस विषयमें यह बातें मिलती हैं—

(पृ० १४०) "(दीपंकर) पूर्व दिशा भंगलके कांचनध्वज प्रासादमें बोधिसत्व शांतरक्षितके जाति वाले क्षत्रिय वंशमें (उत्पन्न हुये। उनके) पिता कल्याण श्री और माता श्री प्रभावती ··· । अवधूतिपाद (=मैत्रि-पाद=अद्वयवज्र)के पास १२ वर्षसे १८ वर्ष तक। (पृ० १३५) ···· उस समय विक्रमशिलाके पूर्व दिशामें शांतिपाद (=रत्नाकरशान्ति)। दक्षिण दिशामें वागीश्वर ··· । पश्चिम दिशामें प्रज्ञाकर मति। उत्तर दिशामें श्री नारोपा (नाडपाद) ···· (पृष्ठ १४८) उस समय (भिक्षु) संघके चार वर्ग थे—ओडन्तपुरी[1], श्री नालन्दा, वज्रासन और विक्रमशिला। (दीपंकर) पिछले (१३) अपने जन्म वाले विहार में वास

---

[1] ओडन्तपुरी या उडयन्तपुरी वर्त्तमान बिहार शरीफ है, जिसके पास वाली पहाड़ी पर विहार था। वहीं पर आजकल दर्गाह है।

करते थे।····(पृष्ठ १५६) विक्रमशिलामें छै द्वार-पंडित थे। पूर्व दिशाके द्वारपाल (पंडित) रत्नाकरशान्ति (शांतिपा)···व्याकरण और न्यायमें···। दक्षिण दिशामें वागीश्वर कीर्ति व्याकरण, न्याय, काव्यमें····। पश्चिम दिशामें प्रज्ञाकर मति····। उत्तर दिशामें भट्टारक 'नरोत्पल' महायान और तंत्रमें। मध्यमें···दो (पंडित) रत्न वज्र तथा ज्ञानमित्र; काश्मीरिक ज्ञानमित्र नहीं।"

ल्हासाके कुन्-ब्दे-ग्लिङ् विहारके छापाखानेके 'स्देब्-ग्तेर्-स्ङोन्-पो नामक पोथी के 'च' भागमें दीपंकर श्री ज्ञानकी एक छोटी-सी जीवनी है, जिसमें लिखा है—

(पृष्ठ १) "१—भारतीय सहोर कहते हैं, भोटिया स़होर····वळा देश··········।"

इन उद्धरणोंसे हमें निम्न बातें मालूम होती हैं—

१. स़होर भारतीयोंका सहोर है (१४) जो भारतमें पूर्व दिशामें था (१) (४)।

२. इसका दूसरा नाम भंगल या भगल था (९)।

३. इसकी राजधानी विक्रमपुरी थी (१०)। जो भंगल या भगलपुर के नामसे भी पुकारी जाती थी (२), (५)।

४. राजधानी (भंगलपुर या विक्रमपुरी) या राजप्रासादसे थोड़ी दूर पर (३), उत्तर तरफ (६) विक्रमपुरी (=विक्रमशिला) विहार था।

५. यह विक्रमशिला दीपंकरके जन्म-स्थानका विहार था (१३)।

६. विक्रमशिला गंगा तटपर (११) एक पहाळीके ऊपर (१२) थी।

भागलपुर भोटिया भगलपुर है। आज भी जिस पर्गनेमें भागलपुर शहर अवस्थित है, उसे सबोर कहते हैं। सबोर=सभोर=सहोर एक ही शब्दके भिन्न भिन्न उच्चारण हैं। विक्रमशिलाके लिये सुल्तानगञ्ज सबसे अनुकूल स्थान जँचता है। यह भागलपुरसे उत्तर है। यहाँ से पीतलकी एक गुप्तकालीन विशाल मूर्ति मिली है। मुरली और अजगैवी-

नाथकी दोनों पहाळियाँ वस्तुतः शिला ही हैं। इनपर गुप्ताक्षरमें खुदे लेख इनका गुप्त संम्राट् विक्रमसे संबंध जोळ सकते हैं। वस्तुतः देवपाल (८०९-४९ ई०)के विहार बनवानेसे पूर्व भी स्थान शिला और विक्रमके संबंधसे विक्रमशिलाके नामसे प्रसिद्ध रहा होगा। यह सब बातें सुल्तानगंजके विक्रमशिला होनेके पक्षमें हैं। किन्तु सबसे बळी 'दिक्कत यह है, कि यहाँ इमारतोंकी नीवें, मूर्तियाँ, तथा ध्वंस उतने विस्तृत नहीं हैं, जितने कि विक्रमशिलाके होने चाहिये। दसवींसे बारहवीं शताब्दी तक विक्रमशिला नालन्दाका समकक्ष विहार था। पालवंशका राजगुरु इस विहारका प्रधान होता था। ऐसे विहारके लिये सुल्तानगंजमें प्राप्त सामग्री अपर्याप्त है। कोलगंजके पास पाथरघट्टा स्थानको विक्रमशिला होनेमें और भी आपत्ति है। वहाँ प्राचीन बौद्ध-चिन्होंका एक तरहसे बिल्कुल अभाव है, और बौद्धोंकी अपेक्षा ब्राह्मणचिन्ह अधिक मिलते हैं। पाथर-घट्टासे दो-तीन मीलपर अवस्थित बावन-बिगहा (?) के ध्वंसावशेष अधिक विस्तृत हैं। वहाँ कितने ही स्तूपोंके ध्वंस भी दिखाई पळते हैं। यद्यपि वहाँ शिला नहीं हैं, तो भी उसके पास छोटी छोटी पहाळियाँ हैं। गंगा भी किसी समय यहाँ तक बहती थी। यद्यपि ध्वंसोंके ऊपर अब मूर्तियाँ नहीं दीख पळतीं, किन्तु उनके लिये अब हम उतनी आशा भी नहीं कर सकते, जब कि हम जानते हैं कि एक शताब्दीसे अधिक तक यह स्थान निलहे साहबोंके कार्यक्षेत्रमें रहा है, और यहाँकी मूर्तियाँ बराबर स्थानान्तरित होती रही हैं। विक्रमशिलाकी खुदाईमें भी नालन्दाकी भाँति ढेरकी ढेर नामांकित मिट्टीकी मुहरें मिलेंगी; और वह निश्चय ही धरतीके भीतर सुरक्षित होंगी।

विक्रमशिलाकी खोजके लिये मुंगेरसे राजमहल तककी गंगाके दक्षिणी तटपर अवस्थित सभी पहाळी भूमि—सबौर पर्गनेकी भूमिको विशेषकर—की छानबीन करनी चाहिये।

---

(१७)

भारतीय जीवनमें बुद्धिवाद

आवश्यकता होनेपर ही कोअी चीज़ होती है, यह अेक माना हुआ सिद्धान्त है। मानसिक प्रवृत्तियोंको यदि हम देखें तो हम मनुष्यको दो वर्गोंमें बाँट सकते हैं। अेक वह जो बुद्धिप्रधान है, जो किसी भी बातको तब तक मान लेनेके लिअे तैयार नहीं, जब तक कि अुसकी बुद्धिको संतुष्ट न कर दिया जाय। दूसरे श्रद्धाप्रधान, जिसे बुद्धिकी अुतनी परवाह नहीं होती, किसी चीज़को अैसे रूपमें अुसके सामने रखा जाय जो अुसके हृदयको अपनी ओर आकर्षित करे, करुणा-द्वारा, प्रेम-द्वारा या अैसे किन्हीं और भावोंसे, तो वह अुसे मान लेता है। हो सकता है कि किसी व्यक्तिमें अिन दोनों भावोंका सम्मिश्रण काफी हो, लेकिन यदि व्यक्ति सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक रूढ़ियोंमें बद्ध न हो, तो हम अुसे अिन दोनोंमेंसे किसी अेक वर्गमें आसानीसे रख सकते हैं। हमारा समाज अैसा है—वर्तमानमें ही नहीं, पहिलेसे चला आ रहा है—कि किसी बातको जैसा हम सोचते-समझते हैं, अुसे अुसी रूपमें प्रकट करनेका अधिकार हमें बिलकुल थोळा है। साधारण और असाधारण व्यक्तिमें यही फर्क है कि जहाँ साधारण व्यक्ति रूढ़ियोंको हर हालतमें माननेके लिअे तैयार है, वहाँ असाधारण व्यक्ति अिसमें कुछ स्वतन्त्रता दिखलाता है।

व्यक्तियोंसे ही मिलकर समाज बनता है; लेकिन अिसका मतलब यह नहीं कि हम सारे समाजको व्यक्तियोंके बहुमतपर बुद्धिप्रधान या श्रद्धाप्रधान कह सकते हैं। समाजके बारेमें अैसे किसी निर्णयपर पहुँचनेके

लिअे हमें समाजके विचारोंके नेताओंकी ओर देखना पळेगा। नेताओंसे मतलव सिर्फ राजनीतिक नेताओंसे नहीं है। अिसमें कला, उद्योग, विज्ञान, दर्शन सभी क्षेत्रोंके नेताओंको लेना पळेगा। वल्कि ललित-कलाओंके नेताओंकी ओर दृष्टि डालनेपर हम वहुत सुगमताके साथ समाजके विचार-प्राधान्यको देख सकते हैं। चित्रकला, संगीत और कविता, वस्तुतः अिस विषयके पक्के नाप हैं। अिन भारतीय ललित-कलाओंके पिछले तीन हज़ार वर्षके अितिहास और अुनकी देनको यदि हम अच्छी तरहसे देखें, तो हमें मालूम होता है कि, पहिली सात शताव्दियोंमें भारत वुद्धिप्रधान रहा। अी० पू० दूसरी शताव्दीसे लेकर अी० दूसरी शताव्दी तक मिश्रित रहा और अुसके वादसे आज तक श्रद्धाप्रधान।

आअिये, अिसे हम पहिले मूर्तिकलाके क्षेत्रमें देखें। अी० पू० पाँचवीं शताव्दीसे पहिलेके कमसे कम हज़ार-डेढ़-हज़ार वर्ष पहिलेकी मूर्तियोंके नमूने हमारे पास नहीं हैं। यदि हैं भी तो अुनके कालके विषयमें निश्चित-रूपसे हम कुछ नहीं कह सकते। अी० पू० तीसरी शताव्दीकी कितनी ही पत्थरकी मूर्तियाँ अशोकके स्तम्भों तथा कितने ही स्तूपोंके कठघरोंमें मिलती हैं। अिस कालसे दो-तीन सौ वर्ष पहिलेकी कितनी ही मिट्टीकी मूर्तियाँ या खिलौने कौशाम्वी (कोसम, जिला अिलाहावाद) भीटा (जि० अिला-हावाद) आदि स्थानोंमें मिली हैं। अुन्हें देखनेसे मालूम होता है कि, अुस समयका कलाकार वस्तुको जिस पाञ्चभौतिक रूपमें देखता है, अुसीको मिट्‌टी या पत्थरमें अुतारना चाहता है। अिसका यह मतलव नहीं कि मनुष्यके मानसिक भावोंकी जो छाप अुसके मुखमण्डलपर या वाह्य आकार पर पळती है, अुसको वह विलकुल छोळ जाता है। वात यह है कि, वह अपने पैरोंको ठोस भूमिपर रखना चाहता है। अुसके लिअे भौतिक पदार्थ पहिली वास्तविकता है, जिसके आधारपर वह मानसिक जगत्‌की आभाको लाना चाहता है। यदि हम प्रथम कालकी मूर्तियों या खिलौनोंको नापकर देखें,

तो मालूम होगा, कि अुस वक्त मनुष्यकी आकृति बनानेमें 'ताल-मान'[1] अुतना ही रक्खा गया था, जितना कि अेक वास्तविक मनुष्यमें होता है। पशुओंकी मूर्तियोंके बनानेमें भी यही ख्याल देखा जाता है, जैसा कि सारनाथके अशोकस्तम्भके शिखर पर अुत्कीर्ण, सिंह, बैल, घोळा, हाथी की मूर्तियोंसे स्पष्ट होता है। अिस कालका अन्तिम समय औ० पू० दूसरी शताब्दीका आरम्भ वह समय है जब कि भारत राजनीतिक अुत्कर्षके मध्यान्हमें पहुँचा था। मौर्य-साम्राज्यकी सीमाओंतक पहुँचनेका मौका कभी भी किसी भारतीय साम्राज्यको नहीं मिला। समुद्रगुप्तके समय (३४०—७५ औ०)में गुप्त-साम्राज्यका विस्तार बहुत हुआ था; किन्तु अुस समय भी अुसकी सीमा हिन्दूकुश तक पहुँचना कहाँ, दक्षिण-भारतमें भी उसका प्रवेश दूर तक नहीं हुआ था। कलाकी वास्तविकता मौर्य-कालमें चरम अुत्कर्षपर पहुँची थी। संसारमें जो कुछ अुत्कर्षगामी परिवर्तन होता है, वह वास्तविकताके आधारपर ही होता है, स्वप्नके आधारपर नहीं।

अिस प्रथम कालकी कविताओंको यदि हम देखें, तो यद्यपि अुनके नमूने अुतनी अधिक संख्यामें नहीं मिलते, तो भी बौद्ध-सूत्रों, धम्मपदकी गाथाओंको देखनेसे मालूम पळता है कि, अुसमें वास्तविकताकी तरफ ही अधिक ध्यान दिया गया है। कौटिल्यके अर्थशास्त्रको देखनेसे तो साफ पता चल जाता है कि, हजारों प्रकारके मिथ्या-विश्वास, जिन्हें अिस बीसवीं शताब्दीमें भी ब्रह्मविद्या, योग और महात्माओंका चमत्कार कहकर सुशिक्षित लोग प्रचारित करना चाहते हैं, अुन्हें मौर्य-साम्राज्यका यह महान् राजनीतिज्ञ झूठा समझता है। अिसका यह मतलब नहीं कि लोग अुस समय अिन झूठी धारणाओंसे मुक्त थे। हाँ, विचार देनेवाली श्रेणी

---

[1] ठुड्डीसे लेकर ललाटके अन्त भागका सारे शरीरसे अनुपात।

अिससे वहुत हद तक मुक्त थी, यह जरूर मानना पळेगा। आजकी यूरपकी शक्तियोंको ही ले लीजिये। अिंगलैण्डमें भी जन्मपत्री, हस्तरेखा, तावीज जैसी चीजोंका वैसा ही जोर है, जैसा हमारे यहाँ; लेकिन फर्क यह है कि हमारे यहाँके शासक—जिनके हाथमें अव भी शासनका थोळा-वहुत अधिकार रह गया है—अपने राष्ट्रीय महत्त्वके काममें भी शुभ मुहूर्त आदिका ख्याल लाअे विना नहीं रहते। लेकिन अिंगलैण्डका कोअी राजनीतिज्ञ किसी अैसे भापण देनेके लिअे—जिसके अूपर देशके भाग्यका वारा-न्यारा होनेवाला है—अैसी शुभ सायत नहीं पूछेगा। अिंगलैण्डने हजारों लळाअियाँ लळीं, अितना वळा साम्राज्य कायम किया, लेकिन अुसे कभी किसी 'जोतिसी'की जरूरत नहीं पळी।

प्रथम कालके चित्रकलाके नमूने हमारे सामने नहीं हैं। लेकिन अुस कालकी मूर्तियोंसे हम अुसके वारेमें अनुमान कर सकते हैं। अुस समय भी रेखायें अवश्य मूर्तियोंकी भाँति ही दृढ़ और वास्तविक रही होंगी। चित्र और मूर्तिमें रंगहीका तो भेद होता है। जव रेखायें अुस समयकी वास्तविक थीं, तो रंग भी वास्तविक ही रहा होगा। अिस प्रकार चित्रकलाके भी वास्तविक होनेका ही अनुमान होता है।

संगीत-विद्याकी सभी परिभापाओं और विशेषताओंके वारेमें तो नहीं कह सकता, लेकिन अुस समयके वर्णनोंसे मालूम होता है कि, अुसमें अितनी कृत्रिमता नहीं आअी थी। वीणा थी। अुसके तारोंके मिलानेका भी वर्णन आता है। लेकिन छै राग और अुनमें प्रत्येककी पाँच-पाँच छै छै पटरानियोंका कहीं पता नहीं। अिसका यह मतलव न समझ लें कि, मैं २२ सौ वर्प पहिलेकी वातोंकी झूठमूठ तारीफ करके आपको पीछे खींचना चाहता हूँ। अधिक-से-अधिक मेरे कहनेसे आप यही भाव निकाल सकते हैं कि अुस समय भी प्रथम कालकी भाँति ही वास्तविकता थी। अनुभवकी मात्राके अनुसार, मानव-जगत्के वैयक्तिक और सामाजिक विकासके

अनुसार, हमारी सभी बातोंमें विकास होना जरूरी है। हाँ, अुसकी धारा वास्तविकताको लिअे होनी चाहिये। अेक और बात है। अुस समय संगीतके लिअे सुमधुर कंठकी अनिवार्यता भी बतलाती है कि अुसमें अुतनी कृत्रिमता नहीं थी। आजकल कितने ही बळे बळे अुस्ताद अपना गुण दिखलानेके लिअे बैठ जाते हैं। गाना तो अैसा होता है कि आस-पास किसी पेळपर शान्त बैठी चिळिया भी अुळ जाय; लेकिन लोगोंके वाह-वाह और तारीफके पुलका ठिकाना नहीं। यदि आप अुसमें शामिल नहीं होते तो आप अज्ञ और अनधिकारी हैं।

मैं जो यहाँ संगीतके बारेमें कह रहा हूँ, यही बात कविताके अूपर भी हूबहू लागू हो रही है। अुस प्राचीन कालमें और अुसके बाद भी बहुत समय तक संगीतसे नृत्यका अटूट सम्बन्ध रहा। किसी कलाकी वास्तविकता अिससे भी मालूम होती है कि, वह सार्वजनीन कितनी है। कलाकी कसौटी मनुष्यका हृदय है; कलाविदोंका दिमाग अुसके लिअे पक्की कसौटी नहीं है। अिसीलिअे कला जब तक वास्तविक रहेगी, तब तक सार्वजनीन भी रहेगी। अिसका यह मतलब नहीं कि कलाको तत्कालीन सार्वजनिक मानसिक विकासके साथ गठजोळा कर दिया जाये। कला और कला-प्रेमियोंका मानसिक विकास दोनों ही स्थायी वस्तु नहीं हैं—दोनों ही आगे बढ़ती रहेंगी। मतलब सिर्फ सामंजस्य और अुपयोगितासे है। गुप्त-काल और अुसके बादकी नृत्यकलाके ज्ञानके लिये हमारे पास साधन हैं, लेकिन अुस प्राचीन कालकी नृत्यकलाका हमारे पास न साकार चित्र है, न शब्द-चित्र; तो भी अुसके अच्छे-बुरेका फैसला विशेषज्ञोंके हाथमें न था, यह तो मालूम है। अिसीसे वह भी दूसरी ललित कलाओंके समान ही वास्तविक थी।

कविता और साहित्यके बारेमें भी वही बात समझनी चाहिअे जो अन्य ललित कलाओंके बारेमें अभी कही गअी है। अुस समयका साहित्य-दर्पण,

साधारण मनुष्यका हृदय था। अुसके लिअे कसौटीका अधिकार, अुन दिमागोंको नहीं दिया गया था जो वास्तविक कविताकी अेक पंक्ति भी न लिख सकें किन्तु, अलंकार और अलंकारिनियों तथा रस और ध्वनियोंकी शाखा पर शाखा पैदा करनेमें अेक-दूसरेके कान काटें।

संधिकाल (२०० अी० पू० से ३०० अी०)में पैरको ठोस पृथ्वीपर जमाअे रखनेकी कोशिश की गअी; लेकिन वह धीरे-धीरे जमीन छोळने लगा; यदि पंजेकी तरफसे नहीं तो अेळीकी तरफसे तो जरूर। अैसा न होनेपर पीछेके विकार कभी सम्भव न थे। गुप्तकालमें भावुकताकी प्रधानता होती है; लेकिन तब भी वास्तविकताको छोळनेमें कलाकारको मोह लगता है। कन्धा, मोढ़ा, और छातीकी बनावट गुप्तकालकी अपनी विशेषता है। अिन तीनों अङ्गोंमें सौन्दर्यके साथ पूर्ण मात्रामें बल भरने-की कोशिश की जाती हैं। आप अुदय-गिरि-गुफा (भिलसा)के वराहको देखिअे या छोटी-मोटी किसी भी अुस कालकी मूर्तिको; यह बात स्पष्ट हो जायगी। लेकिन साथ ही नजाकत भी शुरू होती मालूम होगी; जो पीछे चलकर ललित-कलाके लिअे अेक मात्र आदर्श बन जाती है। अुस कालकी मूर्तियोंकी भाँति ही यह बात अजन्ताके तत्कालीन चित्रोंमें भी देखी जाती है। अिन विशेषताओंको कालिदासकी कविताअें भी अुसी मात्रामें प्रकट करती हैं।

यहाँ अेक-बातपर और भी ध्यान दिलाना है। यदि हम गुप्त-कालके पहिलेके अपने भोजनको लें, तो मालूम होगा कि अुसमें षट् रस तो जरूर रहा होगा, किन्तु अभी तक अुसे सोलह प्रकार और बत्तीस व्यंजनोंका रूप नहीं दिया गया था। अितने मसालोंका तो अेक तरहसे अुस समय अभाव था। पान खाना तो लोग जानते ही न थे। छौंक-बघार भी अितनी मात्रा तक नहीं पहुँचा था। अिससे हमें यह भी मालूम हो जाता है कि, मनुष्यकी प्रगति जिस किसी ओर होती है, वह अुसके जीवनके सभी अंगोंमें होती है।

छठवीं शताब्दी तक तब भी हमारा अंगूठा धरतीपर रह जाता है। लेकिन अुसके बाद तो हम आकाशचारी हो जाते हैं। हमारे पैर जमीनपर पळते ही नहीं—वास्तविकतासे हम अपना नाता तोळ लेते हैं। हाँ, अुसी हद तक जिस हद तक अुसका तोळना सम्भव है। आखिर हवा पीकर तो हम जी भी नहीं सकते।

सातवीं शताब्दीके बाद सभी क्षेत्रोंमें वास्तविकतापर भावुकताकी विजय होती है। बुद्धिको श्रद्धाके सामने परास्त होना पळता है और अुसके साथ साथ हमारी राष्ट्र-नौका भी पक्के भँवरमें पळ जाती है। समयके बीतनेके साथ साथ हम अिस भावुकतामें आगे-आगे बढ़ते जाते हैं। आजका यह वैज्ञानिक युग यद्यपि प्रेरित करता है कि हम स्वप्नजगत्को छोळें और वास्तविक जगत्में आवें; लेकिन शताब्दियोंके दुष्प्रभावने हमारे मनपर अितना काबू कर रखा है कि, यदि हम अेक कदम आगे बढ़ते हैं तो, तीन कदम पीछे खींच लिअे जाते हैं। कोअी कहता है—'अरे यही तो भारतीयता है, यही तो भारतीय राष्ट्रकी आत्मा है। हमारा भारत हमेशा सत्यं शिवं सुन्दरंका पुजारी रहा।' कोअी कहता है—'यह भारतकी प्रकृतिके ही बिलकुल प्रतिकूल है। हमारे हवा-पानीमें, हमारी मिट्टीमें, हमारे खमीरमें आध्यात्मिकता कूटकूटकर भरी है। देखते नहीं, अिस गये-गुजरे जमानेमें भी हम रामकृष्ण और रामतीर्थको पैदा करते हैं। थियोसफी और सखी-समाजका स्वागत करते हैं। कोअी हजार कोशिश क्यों न कर ले, भारत भारत ही रहेगा।' अैसा होनेपर तो, भारतके पैरोंका जमीनपर जमना असम्भव है।

यदि हमारा यही दृढ़ विश्वास है तो हमारा भविष्य भी अैसा ही रहेगा। हमारे अुद्धारका अेक मात्र अुपाय है—बुद्धिवाद, वास्तविकताको मजबूती से पकळना। अिसके रास्तेमें चाहे जो भी बाधक हो, अुससे हमें लोहा लेना होगा। अगर हमारे खमीर में भावुकता ही बदी होती तो, भारत बौद्ध और

चार्वाक जैसे नास्तिकोंको न पैदा करता। सहस्राब्दियों तक अराजक संघों और गणोंके द्वारा राजशासन न चलाता। बुद्धिवाद और भावुकताके पिछले तीन हजार वर्षोंमें व्याप्त प्रवाहका अध्ययन करनेसे साफ मालूम होता है कि, हम अुत्कर्षोन्मुख तभी तक रहे, जब तक हम बुद्धिका आश्रय लेते रहे। बुद्धिका आश्रय लेनेका यह मतलब नहीं कि, भावुकताकी अुसमें मात्रा ही न हो। हर अेक प्रगतिके लिअे आदर्शवाद और त्यागकी आवश्यकता है; लेकिन लगाम बुद्धिके हाथमें रहनी चाहिअे।

तिब्बतमें चित्रकला

१—संक्षिप्त अितिहास

६३० अी० में स्रोङ-व्चन्-स्गम्पो अपने पिताके राज्यका अधिकारी बना। ६४० अी० तक अुसके साम्राज्यकी सीमा पश्चिममें गिल्गितसे लेकर पूर्वमें चीनके भीतर तक, अुत्तरमें गोवीकी मरुभूमिसे दक्षिणमें हिमालयकी तराअी तक फैल गअी। ६४० अी०में सम्राट्की नेपाली रानी ख्रि-चुन्के साथ सर्वप्रथम बौद्धधर्म तिब्बतमें पहुँचा। बौद्ध-धर्म और चित्रकलाका घनिष्ठ संबंध है। भारतमें सर्वप्राचीन, तथा सर्वोत्तम अजंताके चित्र बौद्धोंकी ही कृतियाँ हैं। बौद्ध-चित्रकलाके नमूने सिंहल, स्याम, चीन, जापान आदि देशोंमें ही—जहाँ कि बौद्धधर्म सजीव है—नहीं प्राप्त होते, बल्कि अुन्हें गोवीके रेगिस्तान और मध्य-अीरान तकमें सर् ऑरेल् स्टाअिन्ने खोज निकाला है। अिस तरह बौद्ध-धर्मके साथ साथ चित्रकलाका भी तिब्बतमें प्रवेश स्वाभाविक ही है। नेपाल-राजकुमारी स्वयं अपने साथ अक्षोभ्य, मैत्रेय और ताराकी मूर्तियोंके साथ कितने ही स्थापत्य-शिल्पी तथा चित्रकार लाअी थी। ६४१ अी०में सम्राट् स्रोङ-व्चन्-स्गम्पोकी दूसरी रानी चीन-राजकन्या कोङ-जो अेक बुद्ध-प्रतिमाको ल्हासा लाअी। यह प्रतिमा किसी समय भारतसे घूमते-फिरते चीन पहुँची थी। अुसने पहले ही निश्चय कर लिया था, कि मैं अपनी प्रसिद्ध प्रतिमाके लिअे राजधानीमें अेक मंदिर बनवाअूँगी; और ल्हासा पहुँचते ही अुसने

र-मो-छेका प्रसिद्ध मंदिर बनवाना शुरू किया। नेपाली रानीकी अस-मर्थता देख सम्राट्ने स्वयं अुसके लिअे ल्हासाके मध्यमें जो-खड्का मंदिर बनवाया। र-मो-छे और जो-खड्के बनानेमें यद्यपि अधिकतर नेपाली (भारतीय) और चीनी शिल्पियोंकी सहायता ली गअी, किंतु अुसी समय भोटको भी स्थापत्य तथा चित्रकलाका क-ख आरंभ करना पळा।

सातवीं शताब्दीके मध्यमें अुत्तरी भारतके सम्राट् हर्षवर्धनके प्रशांत शासनमें गुप्तोंके समयसे चलती आअी, कला तथा विद्याकी प्रगति बढ़ती ही जा रही थी। चित्रकलाके कुछ अंशोंके अवसादका समय डेढ़-दो सौ वर्ष बादसे होता हैं। अिसके कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि नेपाल आजकी तरह अुस समय भी कला आदिके संबंधमें भारतका अंग था। चीनमें भी अुस समय ह्वेन्-चाड्के संरक्षक थाड्-वंशका राज्य था। यह काल चीनकी चित्रकलाका सर्वोत्तम समय माना जाता है। अिस प्रकार भोट देशवासियोंको भारत और चीनसे अैसे समय संबंध जोळनेका अवसर मिला, जब कि अिन दोनों देशोंमें कलाका सूर्य मध्याह्नमें पहुँचा हुआ था।

ल्हासाके र-मो-छे और जो-खड्के मंदिरोंकी भीतोंमें यद्यपि अुस समय चीनी और भारतीय चित्रकारोंने सुंदर चित्र अंकित किअे थे, किंतु अब वह अुपलब्ध नहीं है। तिब्बतमें अींधनके दुर्लभ होनेके कारण चूनेकी पक्की दीवारोंके बनानेका रवाज नहीं है। अिसीलिअे कुछ वर्षोंके बाद जब प्लस्तर निर्बल होकर टूटने-फूटने लगता है, तब सारे प्लस्तरको अुखाळकर पत्थरकी बनी दीवारों पर दूसरा प्लस्तर कर नअी तरहसे चित्र बनाअे जाते हैं। अभी अुस दिन (२७ मअी १९३४ अी०को) हम ल्हासाका से-र विश्वविद्यालय देखने गअे। अुसके स्मद्-ग्र-सङ (महाविद्यालय)के सम्मेलन-भवनकी दीवारोंका प्लस्तर अुखाळा जा रहा था। अेक ओरसे डेढ़-दो सौ वर्ष पुराने चित्र टुकळे-टुकळे हो जमीन पर गिर रहे थे, और दूसरी ओरसे नया प्लस्तर लगाया जा रहा था! यद्यपि जो-खङ और

र-मो-छेके आजकलके प्लस्तर अिससे कहीं अधिक दृढ़ सामग्रीके वने हैं; तो भी अुनकी आयु तेरह शताब्दियोंकी नहीं है। अिस सुदीर्घ कालमें अुनके प्लस्तर न जाने कितनी वार नअे वने होंगे, अिसीलिअे अुन आरंभिक चित्रोंका अव पता नहीं मिलता। अुस समयकी काष्ठ-पापाणकी मूर्तियाँ एवं विशाल काष्ठ-स्तंभोंमें अुत्कीर्ण रूप यद्यपि आज भी मौजूद हैं, और अुनसे अुस समयकी चित्रकलाका कुछ अनुमान हो सकता है, तो भी वे चित्रकला न होनेसे मेरे अिस लेखका विषय नहीं हो सकते।

अुसके वाद प्रायः दो सौ वर्ष वीत जानेपर ८२३-८३५ अी०में व्सम्-यस् का महाविहार वना। पुराने अितिहास-लेखकोंके अनुसार यह स्वयं महाराज धर्मपाल (७६९-८०९ अी०) के वनवाअे अुडयंतपुरी (वर्तमान विहार-शरीफ, पटना) महाविहारके नमूने पर वनवाया गया। अिसकी पुष्टि अुस विहारकी आकृति भी करती है। अिस समय विस्तार और वैभवमें भोट-साम्राज्यका सूर्य मध्याह्नपर पहुँचा हुआ था। भोटके धर्माशोक सम्राट् ख्रि-स्रोङ-ल्दे-व्चन् (८०२-८४५ अी०) वौद्ध-धर्मके लिअे सव तरहका त्याग करनेके लिअे तैयार थे। विहारका निर्माण नालंदाके महान् दार्शनिक शांतरक्षितके तत्त्वावधानमें हो रहा था। अिस विहारको सुमेरु, अुसके चारों महाद्वीप, आठ अुपद्वीप तथा चक्रवाल जैसी परिखाके साथ वनवाना ही अिसे अच्छी प्रकार निदर्शित करता है, कि विहार निर्माणमें कलाका कितना ख्याल किया गया होगा। अुस समय अिस विहारके केंद्रवर्ती देवालय तथा १२ द्वीपोंकी दीवारोंमें वहुतसे सुंदर चित्र अंकित किअे गअे थे। आचार्य शांतरक्षितके भोटदेशीय शिष्य भिक्षु (प-गोर) वैरोचन-रक्षित स्वयं भी चित्रकार थे। अुनके हाथका वनाया अेक चित्र अव भी व्सम्-यस्के जोङ (कलक्टरी) में वतलाया जाता है। वैरोचनसे पूर्व अनेक भोटदेशीय चित्रकार रहे होंगे, किंतु अपनी कृतियोंके साथ अुनका नाम भी लोगोंको विस्मृत हो गया है। व्सम्-यस्की दीवारें अव भी चित्रित हैं, किंतु ग्यारहवीं शताब्दीमें आगसे

जल जानेसे वह चित्र पहलेके नहीं हैं। वैरोचनके वाद दूसरा प्रसिद्ध चित्रकार तोन्-छोग्-छुङ-मेद है। अिसके समयका ठीक ठीक पता नहीं है।

ख्रि-स्रोङ-ल्दे-व्चन्के पौत्र सम्राट् रल्-प-चन् (८७७-९०१ औ०) वौद्ध-धर्मके अंध भक्त थे। अुन्होंने वहुतसे मंदिर और मठ वनवाअे, जिनमेंसे कितने ही अव भी मौजूद हैं। भोट देशमें जो विहार जितना ही अधिक वैभवशाली होता है, वहाँ प्राचीन भित्ति-चित्रोंकी रक्षा अुतनी ही कठिन है; क्योंकि-जरा भी दीवारोंको विगळते या चित्रोंको मलिन होते देख मरम्मत करके अुसकी प्राचीनता लुप्त कर दी जाती है। किंतु, ल्हासासे दूरके स्थानोंमें वैभवहीन अुपेक्षितप्राय कुछ अैसे विहार मिल सकते हैं, जिनमें प्राचीन मूर्तियाँ और चित्र अपने प्राचीन रूपमें मिल सकते हैं। ग्चङ प्रदेशमें ग्यांची, ने. स. जैसे कुछ विहारोंका अस्तित्व है भी।

रल्-प-चन्के अनंतर थोळे समयके वाद दसवीं शताब्दीके अंतमें—ये-शेस्-ओद् (=ज्ञानप्रभ) और रिन्-छेन्-व्सङ-पो (=रत्नभद्र)के समयसे फिर वौद्ध-धर्मका अुत्कर्ष होने लगता है; और अुसके साय नअे मंदिरों और अुनके चित्रोंका प्रचार वढ़ने लगता है। रत्नभद्रके वनवाअे लदाखके अल्ची और सुम्-दाके विहारोंमें अव भी अुस समयकी कलाके सुंदर नमूने मिलते हैं। दुर्भाग्य-वश कश्मीर-सरकार और जनता दोनोंकी अुपेक्षासे चित्रकलाके यह सुंदर भांडार थोळे ही समयमें नष्ट हो जानेवाले हैं। स्नर्-थङ (स्थापित ११५३ औ०) ग्यारहवीं शताब्दीके कुछ भूले-भटके नमूने श्-लु, रे-डिङ (व्रोम्-स्तोन् १००३-१०६४ द्वारा स्थापित), स्पोस्-खङमें पाअे जाते हैं। रे-डिङमें मौजूद कुछ चित्रपटोंको तो खास व्रोम्-स्तोन्-पका वनाया कहा जाता है। अुनमेंके कितनेही चित्र भारत या नेपालसे आअे हुअे हैं।

वारहवीं शताब्दीकी चित्रकला भी दुष्प्राप्य सी है। अुसके कुछ भित्ति चित्र द्वग्स्-पो (११२४ औ०), स्नर्-थङ (११५३ औ०), कर्-म-ल-ल्देङ

(११५३), ग्‌दन्‌-स-म्‌थिल्‌ (११५८ अी०), स्‌तग्‌-लुङ (११८०), ऽब्रि-गोङ (रिन्‌-व्‌सुङ ज० ११४३ द्वारा स्थापित) के मठोंमें मिलेंगे।

तेरहवीं शताब्दीके चित्रोंके लिअे विक्रमशिला महाविहारके अंतिम संघनायक शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ अी०) के भोटमें दस वर्षके प्रवासके समय (१२००-६) के चार विहारों—(१) स्‌पोस्‌-खङ-छोगस्‌-प (ग्‌चङ), (२) ग्र-नङ-ग्यें-ग्‌लिङ-छोग्‌स्‌-प (ल्हो-ख), (३) ग्र-फ्यि-छोङ-ऽदुस्‌-छोग्‌स्‌-प, (४) सेन्‌-ग्‌दोङ-र्चे-छोगस्‌-प—की ओर देखना होगा।

तेरहवीं चौदहवीं शताब्दीका अेक वळा संग्रह स्‌पोस्‌-खङ (ग्यांचीके पास) में है। स्‌पोस्‌-खङका अेक चित्रपट तो विलकुल भारतीय जान पळता है। अिन चित्रोंपर भारतीय चित्रकलाकी भारी छाप है। चौदहवीं शताब्दीके दो दर्जन सुंदर चित्रपट स-स्‌क्य मठके, गु-रिम्‌-ल्ह-खङमें हैं।

पंद्रहवीं शताब्दीमें द्‌गे-लुग्‌स्‌-प या पीली टोपीवाले संप्रदायके कितने ही मठ स्थापित हुअे, जिनमें द्‌गऽ-ल्‌दन (१४०५ अी०), ऽब्रस्‌-स्‌पुङ (१४१६ अी०), से-र, छब्‌-म्दो (१४३७ अी०), ब्‌क्र-शिस्‌-ल्हुन्‌-पो (१४४७ अी०) थोळेही समयमें वळे वळे विश्वविद्यालयोंके रूपमें परिणत होगअे। अिनमें भित्ति-चित्र और चित्रपट बहुत हैं। संभव हैं, अुस समयके कुछ चित्रपट अिनमें प्राप्त होजायँ, किंतु भित्ति-चित्र प्रायः प्रत्येक शताब्दीमें नअे होते रहे हैं।

सोलहवीं शतांब्दीके चित्रोंके लिअे भी हमें अुपर्युक्त द्‌गेलुग्‌स्‌-प मठोंकी ओर विशेप रूपसे देखना होगा। अिसी शताब्दीमें स्‌मन्‌-थङ-यव्‌-स्रस्‌ और ल्हो-ख प्रदेशके ऽक्योङ-र्ग्यस्‌ स्थानमें अुत्पन्न अेक प्रसिद्ध चित्रकार भिक्षुणी छुङ-ब्रिस्‌ और चित्रकार र्चे-ग्‌दुङ हुअे थे।

स्‌मन्‌-थङ-यव्‌-स्रस्‌ने ल्हासाके जो-खङकी दीवारोंको चित्रित किया था। यद्यपि अुसके बनाअे चित्रोंपर पीछे कअी वार रंग चढ़ाया गया है, किंतु कहते हैं, रेखाअें पुरानी हैं। (ल्हो-ख)-छुङ-ब्रिसके अंकित ६ चित्रपट

ल्हासाकी ल्हलुङ-ल्ह-चम्के महलमें हैं। अिनपर चित्रकलाका बहुत अधिक प्रभाव चीनी है। रंग हल्के किंतु बळे ही संकेतपूर्ण हैं। चें-ग्दुङ चित्रकारके लिखे ३५ चित्रपट क-शी-ल्हुन्पो मठसे पूर्व दो दिनके रास्तेपर ब्रह्मपुत्रके दाहिने किनारे पर अवस्थित रोङ-ब्रग्-प गाँवके मालिकके घरमें हैं।

ल्हासाका सुर्-खङ सामंत-गृह बहुत पुराना है। कहते हैं, पहले अिसी स्थान पर तिब्बतके सम्राट् रहते थे। सुर्-खङके स्वामी मानसरोवर प्रदेशसे, शायद पाँचवें दलाअीलामाके समयमें, आअे थे। सुर्-खङकी वर्तमान स्वामिनी खुद आदि सम्राट् स्रोङ-ब्चन्-स्गम्-पोके वंशकी हैं। यदि बीच बीचके राजविप्लवोंमे घर नष्ट न हुआ होता, तो यहाँ कितनी ही पुरानी वस्तुअें मिल सकतीं। अिनके यहाँ वज्रपाणि-मंजुघोष-अवलोकितेश्वरकी अेक सुंदर पीतल-मूर्ति है। मूर्ति भारतीय ढंगसे बनाअी गअी है; और अुस परका लेख—"ख्यद्-तु-ऽफग्स्-प-स्तोन्... क्यिस्... व्शेङ स्" बतला रहा है कि अुसे सम्राट रल्-प-चन् (८७७-९०१ अी०)के समकालीन ख्यद्-पर्-ऽफग्स्-ब्स्तोन् लो-च-बने बनवाया था। पहले अिस वंशके पास १६ भारतीय अर्हतों (स्थविरों)के चित्रपट थे, जिनमें आठ १९०८ अी०की लळाअीमें चीनियोंके हाथ लगे, और अुन्होंने ल्हासाके अेक दूसरे खानदानके हाथ अुन्हें बेच दिया। आठ अब भी सुर्-खङमें हैं। यद्यपि यह (ल्हो-ख)-छुङ-ब्रिस्के समकालीन नहीं हैं, तो भी अिनका काल सत्रहवीं शताब्दीसे पीछेका नहीं हो सकता। अिनमें भी छुङ-ब्रिस्की भाँति ही भूमिको सजानेकी कोशिश नहीं की गअी है। नीचे हलके रंगमें नदी, पहाळ, फिर अत्यंत क्षीण रंगमें अंतरिक्ष और सबसे अूपर हलके नीले रंगमें आसमान दिखलाया गया है। रंगोंका छाया-क्रम अितना बारीक है कि देखते ही बनता है। जहाँ छुङ-ब्रिस्के चित्रोंमें चीनी आँख-मुँह और प्राकृतिक सौंदर्यका अधिक प्रभाव है, वहाँ अिन चित्रोंमें भारतीय प्रभाव मिलता है। छुङ-ब्रिस्ने अपने चित्रोंमें सोनेका बहुत

कम अुपयोग किया है और वस्त्रोंको भी अुतने बेलबूटेसे सजानेकी कोशिश नहीं की है; वहाँ अिन चित्रोंमें अुनका अुपयोग कुछ अधिक किया गया है। अितना होते हुए भी अिस बेनामवाले चित्रकारने भाव-चित्रण बळी सुंदरतासे किया है। भौं, नाक, केश और अँगुलियोंके अंकनमें अुसकी तूलिकाने बहुत कोमलताका परिचय दिया है। छुङ-ग्रिस्के चित्रोंकी भाँति कृत्रिमतासे सर्वथा न शून्य होनेपर भी अिन चित्रोंमें सजीव कोमल सौंदर्य काफी मात्रामें मिलता है। बुद्धके चित्रोंके लिअे तो मालूम होता है, भारतहीमें सातवीं शताब्दीमें कोअी महाशाप लग गया, और तबसे कहीं भी बुद्धकी सुंदर मूर्ति या चित्र नहीं बन सका। यह बात छुङ-ग्रिस् और अिस सुर्-खङके अज्ञात चित्रकारके बारेमें भी ठीक घटती है।

सत्रहवीं शताब्दीमें भी तिब्बतमें अनेक चित्रकार हुअे। अिसी शताब्दी (१६४८ अी०)में पाँचवें दलाअीलामा सुमतिसागर (१६१७,८२ अी०) सारे तिब्बतके महंत-राज हुअे। अिन्होंने १६४५ अी०में ल्हासाका प्रसिद्ध पोतला-प्रासाद बनवाया। कुशल शासक, विद्याव्यसनी होनेके साथ ये बळे कला-प्रेमी भी थे। छोस्-द्ब्यिङ-र्ग्य-म्छो (=धर्मधातुसागर) और स्दे-स्रिद्-ग्य्ऽ-सेल् अिनके समयके प्रसिद्ध चित्रकार थे। धर्मधातुसागरने ल्हासाके जो-खङकी परिक्रमाके कुछ भागको चित्रित किया था। अिन चित्रों पर भी पीछे कअी बार रंग चढ़ाया गया, किंतु पुरानी रेखाअें कायम रखी गअी हैं।

अठारहवीं शताब्दीमें भी अच्छे चित्रकार मौजूद थे। तिब्बत देशमें प्राचीन भारतकी भाँति प्रायः चित्रों पर चित्रकार अपने नाम अंकित नहीं करते थे और न लेखकोंको ही अुनकी स्मृति जीवित रखनेका ख्याल था, अिसीलिअे अुस समयके चित्रोंके होने पर भी अुनका नाम जानना बहुत कठिन है। अिसी शताब्दीके पहले पादके बनाअे वह तेरह चित्रपट हैं, जिन्हें लेखकने अपनी पिछली यात्रामें ल्हासामें संग्रह किया था, और जो अब पटना-म्यूज़ियम्में हैं।

अुन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें ऽन्नस्-स्पुङ्स् विहारके क्लु-ऽब्रुम्-नो-शे चित्रकारका नाम बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्यारहवें दलाअीलामा म्खस्-ग्रुब्-ग्यं-म्छोके दर्बारमें था। बारहवें दलाअीलामा ख्रिन्-लस्-ग्यं-म्छो (मृ० १८७५ अी०) के समय ल-मो-द्कुन्-द्गऽ प्रसिद्ध चित्रकार था। अिसके बनाअे तीन चित्रपट ल्हासाके म्यु-रु मठके पार्श्ववर्त्ती ग्युंद-स्मद विहारमें अब भी मौजूद हैं।

अुन्नीसवीं शताब्दीके अंतिम पादसे आजकल तक भी कितने ही चित्रकार होते आअे हैं। किंतु अुनमें वह दक्षता नहीं रही। अुन्होंने विशेपकर पहले लिखे चित्रपटोंकी नकल करनेका ही काम किया है।

२—शिक्षा-क्रम

तिब्बतमें चित्रकलाके वंशानुगत होनेका नियम नहीं है। भिक्षु या गृहस्थ जिस किसीकी अुधर रुचि हुअी, अभ्यास करने लगता है। जिन्हें अपने बालकोंको पेशावाला चित्रकार बनाना होता है, वह आठ वर्षकी अवस्थामें लळकेको किसी चित्रकारके पास भेज देते हैं। मेधावी बालकको आवश्यक शिक्षा प्राप्त करनेमें तीन वर्पसे कुछ अूपर लगते हैं। यह शिक्षा तीन वर्गोंमें विभाजित है—

१—रेखा-अंकन	१६ मास
२—साधारण रंग-अंकन	१० मास
३—सूक्ष्म मिश्रित-रंग-अंकन	११ मास

१—रेखा-अंकन—पहले खास तरहसे बने कोयला (जोकि पेंसिलका काम देता है)से चौकोर खाना बनानेवाली रेखाअें खींचना, फिर अुनपर मुख आदिकी आकृति बनाना। ठीक होने पर तूलिका-द्वारा अुन रेखाओं पर काली स्याही चढ़ाना सीखना।

रेखा-अंकन वर्ग भी छै श्रेणियों या थिग्में बँटा हुआ है—

(१) **प्रथम श्रेणी**—(१५५ अंगुल) (क) पहले वुद्धका मुख अंकित करना सिखाया जाता है। अिसमें अेक मास लगता है। गुरुके दिअे नमूनेके अनुसार कागज पर पहले २६ अंगुल लंवा और १६ अंगुल चौळा आयत क्षेत्र खींचना होता है। फिर निम्न प्रकारसे आळी-वेळी रेखाअें खींचनी होती हैं—

लम्वाअीमें—

२ अंगुल	शिर की मणि
४ "	अुष्णीप
४ "	चूळा-ललाट
४ "	ललाट-अूर्णा
१ "	अूर्णा-नासामूल
१ "	नासामूल-नेत्रकी निम्न सीमा
२ "	नेत्रकी निम्न सीमा-नासाग्र
४ "	नासाग्र-ठुड्डी
४ "	ठुड्डी-कंठकी निम्नसीमा
२६	

चौळाअीमें—

६ अंगुल	दाहिनी कनपटीसे ललाटार्ध तक
६ "	वाअीं कनपटीसे ललाटार्ध तक
२ "	दाहिने कानकी चौळाअी
२ "	वायें कानकी चौळाअी
१६	

(ख) मुखके अंकनका अभ्यास हो जाने पर ३ मासमें वुद्ध **पद्मासनासीन** सारे शरीरका अंकन सीखना पळता है। पहले ८४×५२

आयत क्षेत्र बनाना होता है। फिर निम्न प्रकार लंबाओी और चौळाओीमें रेखाअें खींचनी होती हैं—

लंबाओीमें—

२६ अंगुल	शिरकी मणिसे कंठकी निम्न सीमा तक (अूपर जैसे)
१२ "	कंठसीमा—स्तन तक
१२ "	स्तन—केहुनी
२ "	केहुनी—नाभि
४ "	नाभि—कटि
८ "	कटि—मुळे घुटनेके प्रथम छोर तक
४ "	मुळे घुटनेके मध्य तक
४ "	मुळे घुटनेके अंतिम छोर तक
१२ "	शेपके लिअे
८४	

चौळाओीमें—

१२ "	मध्य ललाटसे बगल तक
४ "	बगलसे पैरके अँगूठेके सिरे तक
२ "	पैरके अँगूठेके सिरेसे दाहिने बाजूके अंत तक
८ "	दाहिने बाजूके अंतसे मुळे घुटनेके अंतके पास तक
२६	

२ अतिरिक्त
५२ "

(ग) फिर अेक मासमें वस्त्रोंका अंकन करना सीखा जाता है।

श्रेणी-क्रमसे रेखांकनका विवरण अिस प्रकार है।

श्रेणी	विषय	अंगुल-परिमाण	मास
१	बुद्ध	१५५	५
२	अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्व	१२०	३
३	तारा आदि देवियाँ	१०८	३
४	वज्रपाणि आदि क्रोधी देव	९६	२
५	अर्हत् आदि	....	२
६	मनुष्य	....	१
			१६

अिस प्रकार १६ मासमें रेखांकन समाप्त होता है।

२—साधारण रंग-अंकन—अिसमें सीधे-सादे रंगोंको अलग अलग अंकित करना सीखा जाता है। क्रम और काल अिस प्रकार है—

हरा रँगना	½ मास
आकाश रँगना	१ "
दूसरे रंग (अलग अलग)	८½ "
	१०

३—सूक्ष्म, मिश्रित रंग-अंकन—पत्ते आदिके सूक्ष्म और अनेक छाया-वाले रंगों, सोनेके काम तथा केश आदिका अंकन अिस अंतिम श्रेणीमें सीखा जाता है। क्रम और काल अिस प्रकार हैं—

पत्ता	१ मास
लाल	१ "
सोनेका काम	३ "
केश, भौं आदि	६ "
	११

तीनों वर्गोंको समाप्त कर लेने पर भी छात्र कितने ही समय तक अपने गुरुका सहायक बन काम करता रहता है।

३—चित्रण-सामग्री

चित्रण-क्रियाके लिये चार चीज़ोंकी आवश्यकता होती है—(१) भूमि, (२) तूलिका आदि, (३) रंग, (४) रंग-पात्र।

(१) **भूमि**—तिब्बतमें चित्रणकी **भूमि**के लिअे साधारणतया पट, भित्ति या काष्ठ-पाषाणके टुकळोंका अुपयोग किया जाता है।

(क) **पट**को दर्पण-समान निर्मल, श्वेत, रेखा-रहित, कोमल, लचकदार तथा तिनकोनी विनाओसे शून्य होना चाहिए। अिसके लिअे अधिकतर कपासके कपळेका अिस्तेमाल होता है। वस्त्र को अपेक्षित आकारमें काटकर अुसके चारों ओर बाँसकी चार खपीचें सी देनी होती हैं। फिर लकळीके चौखटेमें अुसे रस्सीसे अिस प्रकार कसकर ताना जाता है, कि **पट** सब जगह अेक सा तन जाय। फिर $\frac{5}{6}$ **श्वेत**[1] रंगमें $\frac{1}{6}$ सरेस डाल गुनगुने पानीसे मिलाकर पतली लेअी बनाअी जाती है। अिस पतली लेअीको कपळे से भिगोकर पट पर लेप दिया जाता है। चारों ओर बराबर पुत जाने पर पटको छायामें सूखनेके लिअे रख दिया जाता है। सूख जाने पर पटके नीचे लकळीका अेक चिकना पट्टा रखकर, पानीका हल्का छींटा दे दे अुसे दोनों ओर चिकने पत्थरसे रगळा जाता है; और फिर सूखनेके लिअे छायामें छोळ दिया जाता है।

ताननेको छोळ बाकी प्लस्तर आदिका काम भित्ति और काष्ठ-पाषाणकी भूमि पर भी अेक सा ही किया जाता है।

---

[1] खळिया जैसा एक रंग; देखो रंगोंका वर्णन।

(२) तूलिका—चंदन, लाल चंदन या देवदारकी सीधी विना गाँठकी लकळीको तेज चाकूसे (चाकूके अूपर दूसरी समतल सहारेकी लकळी रखकर) छीलकर अिस प्रकार गोल बनाया जाता है, कि अुसका अेक सिरा अधिक मोटा और दूसरा पतला हो जाता है। फिर मोटे सिरेको डेढ़ अंगुलके करीव खोखला कर दिया जाता है। तव वकरी, विल्ली या दूसरे जानवरके पानी सोखनेवाले वारीक साफ और अेकसे वालको वरावर करके अुसके आधे भाग पर सरेसकी लेअी डाल-डालकर अुसमें खूब चिपका दिया जाता है; और सरेसवाले भागको सूत लपेटकर वाँधकर सरेसके सहारे तूलिका-दंडके खोखले भागमें मजवूतीसे वैठा दिया जाता है। सूख जाने पर तूलिका कामके लिअे तैयार होजाती है। तिव्वतके चित्रकार दो प्रकारकी तूलिका अिस्तेमाल करते हैं। भौं, केश आदिके चित्रणके लिअे अधिक सूक्ष्म किंतु परिमाणमें कम केशोंवाली पतली तूलिका काममें लाअी जाती है; और वाक़ी कामोंके लिअे अधिक केशोंवाली मोटी तूलिका।

तूलिकाके अतिरिक्त दूसरा आवश्यक साधन है—परकाल। यह अेक दो, तीन अंगुल चौळी, प्राय: १ फुट लंबी तथा अेक अंगुल मोटी वाँसकी कट्ठीको लंवाअीमें आधे-आध चीरकर अेक ओरके सिरेको लोहेसे छेदकर वाँध दिया जाता है। दोनों वाँहोंमेंसे अेकको नोकीला और दूसरेको कोयलेकी पेंसिल रखने लायक खोखला बना दिया जाता है। फिर दोनों वाँहोंको मोटाअीमें चीरकर अुनके भीतर अेक पतली खपीच डाल सिरोंको सूत लपेट-कर वाँध दिया जाता है। यही परकाल है।

तिव्वती चित्रकार दो प्रकारकी पेंसिलें अिस्तेमाल करते हैं, अेक सेत-खरीके पत्थरकी और दूसरी कोयलेकी। कोयलेकी पेंसिलके बनानेका यह ढंग है। अेक़ हल्की लकळीको ताँवे या लोहेकी नलीमें डाल हल्की आँचमें डाल दिया जाता है, जल जानेपर नलीसे निकाल लिया जाता है। यही पेंसिल है। विना नलीके भी हल्की लकळीको धीमी आँचमें जलानेसे

पेंसिल तैयार होजाती है। अिस कामके लिअे भारतमें सेंठेको काममें लाया जाता रहा होगा।

सोनेके कामको चमकानेके लिअे अेक **घर्षण-तूलिका** होती है, जिसके सिरे पर बिल्लौर या चकमक जैसा कोअी चिकना स्वच्छ पत्थर जळा रहता है। पटके पीछे अेक छोटा चिकना काष्ठ-फलक रख स्वर्ण-रेखाको अुस कलमसे रगळा जाता है, जिससे सोना चमकने लगता है।

पानीमें धोकर अेकही तूलिका कअी रंगोंमें डाली जाती है।

(३) **रंग**[1]—अब भी तिब्बतके अच्छे-अच्छे चित्रकार चित्रपटोंके तैयार करनेमें अपने हाथसे बनाअे रंगोंको अिस्तेमाल करते हैं। अिनमें खास तरहके पत्थरोंसे बननेवाले रंग यह हैं—

क. अ. मिश्रित रंग

(अ) पाषाणीय

१. **सेत-खरी** (द्कर्-रग्, **पाषाणीय**)—ल्हासाके अुत्तरवाले रोङ प्रदेशके रिङ-बुम् स्थानसे यह सफेद रंगका डला आता है। डलेको पीसकर अधिक पानीमें घोल दूसरे बर्तनमें पसा देते हैं। नीचे बैठी कँकरीली तलछटको फेंक देते हैं। कुछ देर छोळ देने पर नीचे गाढ़ी सफेद पंक जम जाती है। फिर अूपरके पानीको फेंक दिया जाता है। अिसमें गर्म पानीमें घुली सफेद सरेस ($\frac{1}{8}$) खूब रगळ रगळ कर मिला दी जाती है। अिस प्रकार रंग तैयार होजाता है।

२. **नीला** (थिङ)—ल्हासासे कुछ दूर पर ञि-मो स्थानसे यह नीले रंगका बालू आता है। ठंडे पानीके साथ थोळा सरेस मिला दो घंटे

---

[1] सभी रंगोंके कच्चे पक्के नमूने मैंने पटना-म्युजियममें ला रक्खे हैं।

तक अिसे खलमें पीसना होता है। फिर अधिक पानी मिला अुसे अेक वर्तनमें पसाया जाता है। फिर पंद्रह मिनट तक थिर करके दूसरे वर्तनमें पसाया जाता है। दूसरेमें भी पंद्रह मिनट रखकर तीसरेमें पसाया जाता है। तीसरेमें भी पंद्रह मिनट रखकर चौथेमें पसा दिया जाता है। चौथे वर्तनमें आध घंटा रख पानीको फेंक दिया जाता है। चारों वर्तनोंमें वैठी पंक चार प्रकारका नीला रंग देती है।

(१) **अतिनील** (थिङ-ऽञु)—अिससे वज्रधर आदिके शरीरका रंग वनाया जाता है।

(२) **अल्प-नील** (थिङ-शुन्)—अिससे आकाशका रंग वनाया जाता है।

(३) **अल्पतर-नील या श्याम** (स्ङो-व्सङ्)—अिससे पानीका रंग वनाया जाता है।

(४) **अल्पतम नील** (स्ङो-सि)—अिससे छाया, आकाशकी मलिनता आदि दिखलाअी जाती है।

३. **हरित** (स्पङ्)—यह भी अुपर्युक्त ञि-मो स्थानसे वालूके रूपमें आता है। वनानेका ढंग **नील** जैसा ही है; किंतु अिसे चारकी जगह तीन वर्तनोंहीमें पसाते हैं, जिससे तीन प्रकारके हरे रंग प्राप्त होते हैं—

(१) **अति-हरित** (स्पङ-म)—जिससे हरित तारा, पत्र, तृण आदिको रँगा जाता है।

(२) **अल्प-हरित** (स्पङ-शुन्)—जिससे पृथिवी आदिको दिखलाया जाता है।

(३) **अल्पतर-हरित** (स्पङ-र्यं)—जिससे कपळेके रंग, ध्वजा मृणाल, पुष्प-दंड आदि वनाअे जाते हैं।

४. **पाषाणी पीत** (व-ब्ल्-सेर्पो)—यह सोनामक्खी जैसा पीला नर्म पत्थर पूर्वीय तिव्वतके खम् प्रदेशसे आता है। सूखाही कूटकर वालू

जैसा वना, थोळे सरेस और पानीके साथ खरलमें दो दिन तक पीसा जाता है। फिर अधिक पानीमें घोल पसा लेना होता है। पंकके नीचे वैठ जाने पर पानीको फेंक दिया जाता है।

५. **कच्चा अिंगुर** (छल्-ल्चोग्-ल)—यह पत्थर भी खम् प्रदेशसे आता है। पहले सूखा पीस मोटे वालू-सा वना, सरेस और पानीके साथ खरलमें खूव पीस देनेपर रंग तैयार हो जाता है। आज-कल अिसकी जगह चीनमें रूअीमें डालकर वना लाल रंग—यङ-टिन्—अिस्तेमाल किया जाता है।

६. **सिंदूर** (लि-खि)—यह भारतसे तिव्वतमें आता है। सरेस और पानीके साथ खरल करके रंग तैयार किया जाता है। अिससे वुद्ध और भिक्षुओंके कापाय वस्त्र वनाते हैं।

७. लाल (छल्)—यह पाषाणीय रंग भारतसे आता है, और सिंदूरकी भाँति ही तैयार किया जाता है, और अुससे वही काम लिया जाता है।

(आ) धातुज

८. **चाँदीका रंग** (द्ङुल्-व्दुल्)—नेपाली लोग चाँदीकी अिस भस्मको वनाते हैं। पानी और सरेसके साथ अिसे घिसकर लिखनेके लिअे तैयार किया जाता है। अिसका अुपयोग वहुत ही कम होता है।

९. **सोनेका रंग** (ग्सेर्-व्दुल्)—अिस भस्मको भी नेपाली लोग तैयार करते हैं। रंग, सरेस और पानीमें घोंटकर वनाया जाता है। अिससे वुद्धका रंग तथा आभूषण आदि वनाअे जाते हैं।

(अि) मिट्टी

१०. **पीली मिट्टी** (ङङ्-प-ग्सेर्-ग्दन्)—यह मुल्तानी मिट्टी जैसी पीली चिकनी मिट्टी ल्हासासे पूर्व येर्-वा स्थानसे आती है। अिसे थोळे सरेसके साथ पानीमें दो घंटा अुवालकर तैयार किया जाता है।

सोना लगानेके पहिले भूमि अिससे रंजितकी जाती है, जिससे सोनेका रंग वहुत खिलने लगता है।

(औ) वानस्पत्य

११. **मसी** (सूनग्-छ)—ल्हासासे दक्खिन-पूर्ववाले कोङ-वो प्रदेशमें देवदारकी लकळीके धूअेंसे कजली तैयार करते हैं। अिसीको ठंडे पानी और सरेसमें रगळकर स्याहीकी गोली तैयारकी जाती है। रेखाअें और केश आदिके अंकित करनेमें अिसका अुपयोग होता है।

१२. **नील** (रम्)—भारतसे नीलके पौवेसे वना यह रंग आता है। सरेसके साथ पानीका छीटा दे दे १५, २० घंटा खरलमें रगळने पर रंग तैयार होता है। वादल, छाया और रेखाअें अिससे वनाअी जाती हैं।

१३. **अुत्पल-जल** (अुद्-पल्-सेर्-पो)—ल्हासाके अुत्तरवाले फेम्-वो प्रदेशके रे-डिङ्, तथा दूसरे स्थानोंके, सूर्यकी कळी धूप न लगनेवाली पहाळी भागोंमें अेक प्रकारका फूल अुत्पन्न होता है, ज़िसे तिव्वतवाले अुत्पल कहते हैं। अिसकी पत्तीमें शुन्का पत्ता $\frac{1}{10}$ हिस्सा मिला पानीमें १५ मिनट पकाया जाता है। अिस हल्के पीले रंगके पानीसे पत्तोंका किनारा वनाने, तथा दूसरे रंगोंमें मिलानेका काम लिया जाता है।

१४. **शुन्** अेक वृक्षका पत्ता है, जो भूटानकी ओरसे आता है। अिसके पकाअे पानीको दूसरे रंगोंमें मिलाया जाता है।

(अु) प्राणिज

१५. **लाख** (र्ग्य-छोस्)—भारत या भूटानसे आती है। लकळी आदि हटाकर अिसे साफ कर लिया जाता है। फिर अुसमें वहुत ही गर्म पानी डाला जाता है। फिर $\frac{1}{10}$ हिस्सा शुन्का पत्ता और थोळी फिट्किरी (छं-ल-द्कर्-पो)को डाल दिया जाता है। फिर पानीको पसाकर अुसे धीमी आँचमें पकाकर गाढ़ा करके गोली वना ली जाती है।

१६. सरेस (स्प्यिन्)—भैंस या किसी भी चमळेको बाल हटाकर खूब साफ करके छोटा छोटा काट दिया जाता है। दो दिन तक अुबालने पर चमळा गलकर लेअी-सा बन जाता है। अिसे सुखाकर रख लिया जाता है, और सभी रंगोंमें अिसको मिलाया जाता है। यह रंगको चमकीला और टिकाअू बनाता है।

(अू) अज्ञात

१७. यङ्-टिन्—चीनमें यह लाल रंग बनता है, और रूअीमें सुखाया बिकता है। पहले तिब्बतमें अिसकी जगह छ्‌ल्-ल् चोग्-ल (अिंगुर)का अुपयोग होता था।

ख. मिश्रित रंग

अूपरके रंगोंके अतिरिक्त कुछ और भी रंग हैं, जिन्हें भोटदेशीय चित्रकार अिस्तेमाल करते हैं, किंतु यह सब रंग अुपर्युक्त रंगोंके मिश्रण से बनाअे जाते हैं।

१. पांडु-श्वेत (लि-स्क्य)—सेतखरी ६/१४ + पापाणी पीत ३/१४ + सिंदूर १/६ मिलाकर सरेसके साथ पानीका छींटा दे-दे घोटनेसे यह रंग बनता है। अिससे मणि, किरण तथा चीवरके भीतरी भागको दिखलाया जाता है।

२. पीतिम रक्त (चो-म) सिंदूर १/२ + पापाणी पीत ३/८ + सेतखरी १/८ को मिलाकर पांडु श्वेतकी भाँति बनाया जाता है। अिससे मैत्रेय, मंजुघोप आदिका शरीर रंजित किया जाता है।

३. पांडु-रक्त (स्गन्-र्य-छो-त्र) सिंदूर ६/११ + अिंगुर (म्छल्) ४/११ + सेतखरी १/११ मिलाकर पांडु-श्वेतकी भाँति बनाया जाता है। अिससे अमिताभ, अमितायु, हयग्रीव आदिके वर्णको बनाया जाता है।

४. सिंदूर-रक्त (स्मर्-स्क्य-स्क्य-प) सिंदूर ३/६ + अींगुर (म्छल्)

$\frac{2}{6}$ + सेतखरी $\frac{4}{6}$ मिलाकर पांडु-श्वेतकी भाँति बनाया जाता है, अिससे आसन, कपळे आदिके रंग बनाअे जाते हैं।

५. **लाखी श्वेत** (न-रोस्) सेतखरी $\frac{3}{5}$ + लाख $\frac{2}{5}$ मिलाकर अुक्त क्रमसे बनाया जाता है। बुद्धके प्रभा-मंडल तथा घर आदिके रँगनेमें अिसका अुपयोग होता है।

६. **नील-हरित** (ग् यु-ख) अति नील $\frac{1}{2}$ + अति हरित $\frac{1}{2}$ मिलाकर अुक्त क्रमसे बनाया जाता है। पत्तों आदिके रँगनेमें काम आता है।

७. **मेघ-नील** (शुन्-रम्) नील (१२) $\frac{2}{3}$ + अुत्पल जल $\frac{1}{3}$ मिलाकर अुपर्युक्त क्रमसे बनाया जाता है। मेघ, मरकत आदिको अंकित किया जाता है।

८. **हरीतिम-श्वेत** (स्पङ्-सि) सेतखरी $\frac{2}{3}$ + अतिहरित $\frac{1}{3}$ मिलाकर अुक्त क्रमसे बनाया जाता है।

(४) **रंग-पात्र** मिट्टीके पात्र रंगोंके रखनेके लिअे सर्वोत्तम माने जाते हैं। नील और लाल रंगोंके लिअे चीनी मिट्टीके पात्र भी अिस्तेमाल किअे जाते हैं। लाख और लाखी श्वेत जैसे रंग अुनकी अवश्यकतावाले रंगोंके लिअे शंखके टुकळे काममें आते हैं। अेक पात्रमें डुबाअी तूलिकाको बिना पानीवाले पात्रमें प्रक्षालित किअे दूसरे रंग-पात्रमें नहीं डाला जाता, क्योंकि अिससे रंगके बिगळ जानेका डर होता है।

४—चित्रण-क्रिया

चित्रण-क्रियामें सबसे कठिन काम रेखाओंका अंकन करना है। प्रधान चित्रकारका काम रेखाअें अंकित करना है। रंगोंके भरनेका काम वह अपने सहायकके लिअे छोळ सकता है। चित्रण-क्रियामें निम्न क्रमका अनुसरण किया जाता है—

१—चित्रकी भूमि (पट, भित्ति आदि)को श्वेत प्लस्तर लगा तैयार करना।

२—कोयलेकी पेंसिल (=अंगार-तूलिका)से पटके कोनोंको रेखाओं-द्वारा मिलाना। फिर केंद्र पर वृत्त, तथा अुसके चारों ओर तुल्य अर्द्धव्यासवाले चार वृत्तोंका खींचना। कटे विंदुओंको सरल रेखाओंसे मिलाना आदि।

३—कोयलेसे मूर्ति अंकित करना।

४—रेखाओं पर स्याही चलाना।

५—अ-मिश्रित रंग लगाना।

६—मिश्रित रंग लगाना।

७—फूल, मेघ आदिको रंजित करना।

८—सोनेके रंगको पहलेसे पीली मिट्टी लगाअे स्थानों पर लगाना।

९—नेत्र, केश, मूँछ आदिको सूक्ष्म तूलिकासे बनाना।

१०—छोटे चिकने काठकी तख्तीको नीचे रखकर सोनेकी रेखाओंको घर्षण-तूलिकासे रगळकर चमकाना।

५—चित्रकला-सम्बन्धी साहित्य

भोटमें मौजूद चित्रकला-संबंधी ग्रंथोंको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है। (१) अेक वे जो भारतीय संस्कृत-ग्रंथोंके अनुवाद हैं, और (२) वे, जिन्हें भोटके विद्वानोंने स्वयं लिखा है। (१) प्रथम श्रेणीके ग्रंथोंमें (क) कुछ तो अैसे हैं, जिनका विषय दूसरा है, किंतु प्रसंग-वश अुनमें चित्रण-कला की बात भी चली आअी है, जैसे **मंजुश्रीमूलकल्प**। (ख) अुनके अतिरिक्त **प्रतिमामान-लक्षण**-सदृश भारतीय आचार्योंके कुछ ग्रंथ सिर्फ चित्रण-कला तथा मूर्ति-कलाके लिअे ही बनाअे गअे हैं। भोटदेशीय विद्वानोंके बनाअे ग्रंथोंमें अुक्त दो श्रेणीके ग्रंथ पाअे जाते हैं। कंजूरमें अनुवादित प्रायः सभी तंत्र-ग्रंथोंमें चित्रण-क्रियाके बारेमें कुछ न कुछ सामग्री मिलती है।

परिशिष्ट (१)

पुरा-लिपि

काशी—ता० २५ जुलाई १९३७

प्रिय श्री राहुल जी,

आज डाक बुक-पोस्ट से १ प्रति प्राचीन अक्षरोंका फोटो आप की सेवा में भेजा है। पहुँच लिखियेगा। भेजने में देर हुई क्षमा कीजिएगा। फोटोग्राफर ने आज ही फोटो दिये। फोटो तो बहुत साफ आये हैं, पर हेडिंग (Heading Columns) के अक्षर छोटे होने के कारण बिना मैग्नीफ़ाइंग ग्लास की सहायता के पढ़े नहीं जाते। यह हेडिंग बहुत आवश्यक है, इस लिये मैं, ऊपर १९ खानों के लेख जो हेडिंग में लिखे हैं, अलग लिख कर भेजता हूँ। फोटो सामने रखकर हर एक खाने का हेडिंग पढ़ते हुए यदि अक्षरों को देखा जायगा तो हर शताब्दी (वैक्रम) की सब बातें व अक्षर-भेद समझ में आजावेंगे। इस चार्ट के तैयार करने में मैंने श्री गौरीशंकर जी की "भारत की प्राचीन लिपि" पुस्तक, Buhler's Indische Palaeographie और Epigraphia Indica से सहायता ली है। विशेषता यह है कि हर वैक्रम शताब्दी के अक्षर छाँट कर लिखे हैं। न० ७ में दूसरी शताब्दी के अक्षर अपने संग्रह किये हुए क्षत्रपों के चाँदी के सिक्कों से बड़े परिश्रम के साथ लिखे हैं। उसी तरह नं० ९ चौथी शताब्दी के अक्षर गुप्तवंशी महाराजाओं के सोने के सिक्कों वो लेखों से एकत्र करके लिखे हैं।

आप देखेंगे, दीर्घ 'ई' का पता ६ठीं शताब्दी तक नहीं है। 'ऋ' और 'ॡ' का पता ९०० वर्ष तक नहीं है। कारण केवल प्राकृत-भाषा थी, जिसमें इन अक्षरों का शताब्दियों तक प्रयोग न था। उसी तरह 'ङ' और 'क्ष' भी वर्ते नहीं जाते थे।

इस चार्ट की सहायता से उत्तरी भारत के शिला-लेख, ताम्र-पत्र, सिक्के केवल पढ़े ही नहीं जा सकते, बल्कि उनके समय का भी लगभग पता लग सकता है। रूपान्तर भी जो क्रमशः हुए हैं वह भी विदित होते हैं।

इस चार्ट से एक बात यह भी विदित होती है कि **महर्षि पाणिनि** के समय में 'अनुस्वार' व 'विसर्ग' के चिह्न जो अशुद्ध लिखे जाते थे जिसका उन्होंने उल्लेख किया है अर्थात् केवल डाट · : से काम लिया जाता था वह अशुद्ध था और यही प्रणाली दस शताब्दी तक चलती रही। सातवीं शताब्दी में फिर शुद्ध रीति अर्थात् ० ° छोटे वृत्त से जैसा कि वह लिखे जाते हैं, लोगों ने संशोधन करके लिखना शुरू किया। देखिये कालम नं० १२ के मात्रा के आखिरी अक्षर। यह बात एक बड़े विद्वान् पंडित जी ने चार्ट बन जाने पर मुझसे कही और यह भी कहा कि आपका चार्ट अवश्य शुद्ध है। . . . .

दुर्गाप्रसाद

रेखांकन १

२ ६ ६ २

२
४
४
४
१
१
२
४
४

रेखांकन २

रेखांकन ३

रेखांकन ४

१. देवनागरी वर्णमाला वर्तमान काल
२. ४०० ई० पूर्व के अक्षर—सोहगौरा पट्ट से
३. ३०० ई० पूर्व महाराज अशोक के समयके अक्षर—दिल्ली व कालसी के शिला-लेखों से
४. २०० ई० पूर्व के अक्षर—हाथीगुम्फा से
५. ई० पूर्व १०० के अक्षर—मथुरा में सोडास के लेखों से
६. ई० पहिली शताब्दी के अक्षर—कुशान राजाओं के लेखों से
७. ई० दूसरी शताब्दी के अक्षर—पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों से
८. ई० तीसरी शताब्दी के अक्षर—पल्लववंशी शिवस्कंद के लेखों से
९. ई० चौथी शताब्दी के अक्षर—गुप्तवंशी राजाओं के सिक्कों से
१०. ई० पाँचवीं शताब्दी के अक्षर—बिलसड़ के लेखों से
११. ई० ६०० के अक्षर—महानाम के लेखों से
१२. ई० आठवीं शताब्दी के अक्षर—अप्सद के लेखों से
१३. ई० नवीं शताब्दी के अक्षर—दिघवा दुबौली के लेख से
१४. ई० दसवीं शताब्दी के अक्षर—पिहुवा प्रशस्ति से
१५. ई० ग्यारहवीं शताब्दी के अक्षर—घोसवर के लेख से
१६. ई० बारहवीं शताब्दी के अक्षर—उदयपुर प्रशस्ति और हस्तलिखित पुस्तकों से
१७. ई० १३वीं शताब्दी के अक्षर—भीमदेव के लेख से
१८. ई० १७वीं शताब्दी के अक्षर—हस्तलिखित पुस्तक से
१९. ई० २०वीं शताब्दी के छापे के तिर्छे अक्षर Type

२०

परिशिष्ट (२)

नाम-अनुक्रमणिका

शब्द-अनुक्रमणिका (३)